कबीर-विमर्ष

विश्लेषणात्मक अध्ययन

लेखक

डा० सरनामसिंह शर्मा 'अरुण' एम० ए०, पी-एच० डी०
रीडर, हिन्दी-विभाग,
राजस्थान-विश्वविद्यालय
जयपुर ।

प्रकाशक

श्री भारत भारती प्राइवेट लिमिटेड
बुकसेलर तथा प्रकाशक
१ अनसारी रोड, नया दरियागंज,
दिल्ली-६

Printer
Kapur Art Printers, Mahavir Park,
Jaipur.

प्रथमावृत्ति
१०००

मूल्य रुपया ४.५०

प्राक्कथन

कबीर मध्यकाल के क्रान्ति-पुरुष थे। उन्होंने अन्तर और बाहर की परिस्थितियों पर एक ही साथ धावा बोलकर समाज और भाव-लोक को जो प्रेरणा दी उसे न तो इतिहास भुला सकता है और न साहित्य ही। एक ओर उन्होंने मसि और क़ागज़ को छुआ तक नहीं था और दूसरी ओर वे ज्ञान, अनुभूति और प्रेम के अगाध भंडार थे। उन्होंने जुलाहा-कुल में उत्पन्न होकर बड़े-बड़े पंडितों और क़ाज़ियों की निर्भीकता से खबर ली। इतनी बलिष्ठ रूढ़ियों पर किस साहस और शक्ति से उन्होंने प्रहार किया था, यह देखते ही बनता है।

एक दलित परिवार में उत्पन्न होकर भी उन्होंने इतने बड़े समाज का अध्ययन किया, उसकी दुर्बलताओं पर इतनी सूक्ष्मता से दृक्पात किया और सुधार की इतनी रेखाएँ खींचकर उन्होंने जो कल्पित चित्र तैयार किया उस पर किसी भी आदर्श-समाज को गर्व हो सकता है। उनकी एक बड़ी विशेषता यह थी कि वे अपनी अनुभूतियों को दूसरों के कल्याण के लिए इतनी ईमानदारी से प्रेषित करते थे कि स्वयं प्रेषण में निमग्न हो जाते थे। इसी ईमानदारी में उनका सन्त-स्वभाव निहित है।

यों तो उनसे पहले भी बहुत से सन्त हो चुके थे किन्तु कबीर ही को सन्त-मत के प्रवर्तन का श्रेय मिलना चाहिए। सन्त-मत के साथ कबीर का निर्गुण मत भी जुड़ा हुआ है जो धार्मिक क्षेत्र में एक महत्त्वपूर्ण उत्क्रान्ति के रूप में द्रष्टव्य है।

कबीर आदि सन्तों को निर्गुणी हम केवल इसलिए कहते हैं कि उन्होंने सगुण भक्ति के स्थूल रूप (यथा मूर्तियों और अवतारों की पूजा) को मान्यता नहीं दी।

'सन्तमत' निरंजन और सूफ़ीमत से भिन्न है, यद्यपि ये दोनों मत सन्तमत

से कुछ-कुछ मिलते-जुलते हैं। तात्त्विक दृष्टि से निरंजन मत हिन्दू मत है और सूफ़ीमत इस्लामी। ये संतमत से केवल उस सीमा तक भिन्न है जिस सीमा तक ये अपने-अपने मूल धर्मों के साथ शान्ति एवं सन्तोष से युक्त प्रतीत होते हैं, यद्यपि ये भी निस्सन्देह यही चाहते हैं कि अनेक जातियों और वर्गों के होते हुए भी लोक-विश्व-भ्रातृत्व के साथ अपने सह-अस्तित्व को सिद्ध करें। निरंजनी लोग हिन्दू-विश्वदेव की पूजा को समादृत करते हैं। यद्यपि वे अनेक देव-देवियों और अवतारों को निरंजन ब्रह्म की अपेक्षाकृत लघु अभिव्यक्ति मानकर उनको पूजने की आवश्यकता नहीं मानते, फिर भी वे परम्परागत सामाजिक नियमों का विरोध नहीं करना चाहते। सूफ़ी लोग भी अपने अनेक नबियों और रसूलों का समादर करते हैं। यद्यपि उन्होंने रामानुज से कुछ-कुछ मिलते-जुलते अनिस्लामी वेदान्त से ही अपने मत का पूर्ण कलेवर तैयार किया है फिर भी इस्लाम के प्रति उनका प्रेम और आदर है। सूफ़ियों की दार्शनिक धारा विशिष्टाद्वैतिक ढंग की है और निरंजनियों की दार्शनिक प्रणाली कबीर की-सी है। निरंजन मत नाथपंथ की ही एक विकसित शाखा है। इसमें योग वेदान्त से पूर्णतः प्रभावित है। अतएव यह कहना कहीं अधिक उपयुक्त होगा कि निरंजन मत की स्थिति नाथपंथ और कबीरपंथ के मध्य में है। दार्शनिक क्षेत्र में कबीर की विचारधारा से उनका बहुत साम्य है और रामानन्द के साथ भी वह उसी स्थिति में रखा जा सकता है। विशेष अन्तर तो उस समय व्यक्त होता है जबकि कबीर के अनुयायी और धर्मदासी तथा राधास्वामी-जैसे अन्य लोग निरंजन का कालपुरुष के रूप में निरूपण करते हैं।

कबीर की वाणी किसी एक प्रान्त या अंचल के आदर की वस्तु नहीं रही है। उसका अध्ययन पूर्व-पश्चिम और उत्तर-दक्षिण में, सब ओर हुआ है। मध्यकालीन सन्तों में कबीर का विशेष स्थान होने के कारण विद्वानों ने उनका अध्ययन विशेषता से किया है। उनकी वाणी में सांस्कृतिक परम्परा का एक ऐसा विकास दृष्टिगोचर होता है जिसमें अभारतीय संस्कृति का इतना मधुर पुट है कि उसकी अभारतीयता प्रतीत नहीं होती। कुछ लोगों का तो अब तक यह विश्वास रहा है कि कबीर अशिक्षित थे और इस कारण उनके दार्शनिक

विचार निराधार, अपरिपक्व एवं असंबद्ध थे, किन्तु यह उनका भ्रममात्र है। कबीर पंथ का अपना मौलिक एवं दृढ़ धरातल है और उसमें एक दार्शनिक भूमिका है जिसमें मौलिकता के पुट ने प्राचीनता को मार्जित एवं व्यवस्थित करने की चेष्टा की है। कबीर ऊँचे दर्जे के भक्त थे। उनकी भक्ति में ज्ञान और योग का मधुर मिलन हुआ है। जहाँ-जहाँ भक्ति और ज्ञान का मधुर मिलन देखना हो, वहाँ-वहाँ उनकी रहस्य-साधना भी देखने योग्य है। यों तो योग ने भी रहस्य की भूमिका पर अपना रूप सँभाला है किन्तु उसमें वह माधुर्य नहीं आ पाया जो उनकी अद्वैतिक रहस्योक्तियों में आया है।

कबीर ने जो धर्म स्वीकार किया है वह सरल, सहज और व्यापक है। उन्होंने परम्परागत धर्म की विकृत रूढ़ियों को उच्छिन्न करके वास्तविक धर्म की तात्त्विक प्रकृति को व्यक्त किया है। इसी के आधार पर तुकाराम ने कबीर की गणना उन चार महापुरुषों में की थी जो अनुगमनीय हैं। **'चौथा भीतरि घरि सोइ रे'**—अन्य तीन नामदेव, ज्ञानदेव और एकनाथ हैं।

कबीर की कीर्ति-पताका को धर्म-लोक में फहराती हुई देखकर पीपा और रैदास विस्मय से पुकार उठे—"कबीर नवखंड और त्रिलोक में प्रसिद्ध है—**नांव नवखण्ड परिसिध कबीरा**। कबीर के आध्यात्मिक विचारों में वह सार है जिस पर भारतीय संस्कृति की आधारशिला रखी हुई है। भारतीय विचारधारा में जो कुछ वरिष्ठ है, कबीर-पंथ उस सबका तो सुमिश्रण है। उसमें उन अभारतीय विचारों का भी समावेश कर लिया गया है जो भारतीय विचारों के अनुकूल रहे हैं। इसीलिए कबीर को सारग्राही कहा जाता है। कबीर-पंथ ने अपनी सारग्राहिता के कारण भारत के सभी अध्यात्म-मार्गों का सार ग्रहण कर लिया है। अजपा जाप के साथ योगाभ्यास, तांत्रिक शरीर-विज्ञान, प्राणायाम-सम्बन्धी अनेक प्रक्रियाएँ, शंकर का अद्वैतवाद, अनुग्रह का सिद्धान्त, अनासक्ति-मय प्रेम की तीव्रता (जिसकी अभिव्यक्ति तन्त्रों में मिलती है)—इन सबका एकत्र सार-संग्रह कबीर की वाणी में हुआ है।

बड़े विस्मय की बात तो यह है कि ऐकान्तिक धर्म और बौद्ध धर्म के रूप में प्रारंभ होने वाली दो विभिन्न आध्यात्मिक धाराएँ अठारह शताब्दियों तक

पृथक्-पृथक् विकसित होती हुई अन्त में क्रमशः वैष्णव धर्म और नाथपंथ के रूप में आकर निर्गुण मत में एक हो गई। इस एकता का विशेष श्रेय कबीर को है। कबीर की निर्गुण वाणी में अनेक ऐसे पारिभाषिक शब्द हैं जो मिलने से पूर्व भिन्न-भिन्न रूप में विकसित होनेवाली उक्त दोनों धाराओं का स्मरण दिलाते हैं। हरि, नारायण, नारदी भक्ति, आदि शब्द ऐकान्तिक धर्म से प्रवाहित होनेवाली धारा की ओर संकेत करते हैं और शून्य, विज्ञान, निर्वाण आदि शब्द बौद्ध धर्म से विकसित धारा की सूचना देते हैं। पहली धारा से आनेवाले शब्दों के अर्थ में इतना भारी परिवर्तन नहीं हुआ जितना दूसरी धारा के शब्दों के अर्थ में हुआ। शून्य और विज्ञान का सम्बन्ध बौद्ध-दर्शन के नियत मतों से रहा है। नागार्जुन का शून्य शून्य-मंडल में सुरक्षित है और वही गोरखनाथ के योग-दर्शन में होकर निर्गुण मत में ब्रह्मरन्ध्र का अर्थ व्यक्त करने लगा है। कबीर की वाणी में शून्य ब्रह्म-बोधक भी है। कबीर ने सत्य का शून्य रूप में भी वर्णन किया है। शून्य एक है, स्थिति भी है और स्थान भी, स्वयं आधार भी है और निराधार भी।

कबीर-पंथ वैष्णव-आन्दोलन से सम्बन्धित है, इसमें तो कोई सन्देह ही नहीं किन्तु नाथों के योग-मत से भी उसका कुछ सम्बन्ध है, यह भी संदिग्ध नहीं है। योग कबीर का लक्ष्य नहीं है। उन्होंने योग को साधन के रूप में स्वीकार किया है और साधन-रूप में भी उन्होंने योग की केवल वे बातें स्वीकार की हैं जो मन को एकस्थ करने में अपना विशेष महत्त्व रखती हैं।

कबीर का अध्ययन महात्मा रामानन्द के मूल्य की उपेक्षा नहीं कर सकता क्योंकि कबीर की विचारधारा के निर्माण में महात्मा रामानन्द का बड़ा योग रहा है। वैष्णव-धर्म और नाथ-धर्म का मिलन सबसे पहले रामानन्द के व्यक्तित्व में हुआ। इतना ही नहीं वरन् यह बात भी ध्यान रखने योग्य है कि रामानन्द ने निर्गुण मत के किसी एक पक्ष को ही पुष्ट नहीं किया, अपितु उसे विकास का वह पूर्ण रूप दिया जो कबीर के हाथों आया।

कबीर के हाथों में निर्गुण विचारधारा को कुछ योग इस्लामिक स्रोत से भी मिला, किन्तु कबीर-पंथ के लिए उसका मूल्य अधिकांशतः निषेधात्मक ही

है। इस्लाम से जो सबसे बड़ी चीज़ कबीर को मिली वह आलोचनात्मक दृष्टिकोण के रूप में मिली। इससे उन्होंने हिन्दुओं के अन्ध-विश्वासों और खोखले रीति-रिवाजों की कलई खोलकर रख दी। मूर्ति-पूजा और अवतार-पूजा के विरोध में उठने वाले स्वर में भी इस्लाम की ही प्रेरणा थी। सामाजिक विषमता में सन्निहित अन्याय के प्रति भी लोगों की आँखें खोलने में परोक्ष या अपरोक्ष रूप से इस्लाम का हाथ अवश्य रहा, किन्तु कबीर की आलोचना-दृष्टि ने इस्लाम की दुर्बलताओं को भी अछूता न छोड़ा। कबीर ने सूफ़ीमत से बहुत कुछ लिया किन्तु विचार नहीं, अभिव्यक्ति की शैली। और यह स्वीकार करना भी अनुचित न होगा कि कबीर को सूफ़ीमत से जो सबसे बड़ी चीज़ मिली वह थी—दाम्पत्य प्रेम से सम्बन्धित विरह-तीव्रता। उससे सम्बन्धित 'प्रतीकवाद' भी कबीर को सूफ़ियों से ही प्राप्त हुआ किन्तु यह समझ बैठना अनुचित होगा कि कबीर-पंथ में प्रतिपन्न प्रेम सूफ़ीमत की देन है। इसे तो रामानन्द के बारह शिष्यों ने, जिनमें एक कबीर भी थे, अपने गुरु से ही प्राप्त किया था।

कबीर के सुरति-निरति शब्द अपनी बनावट में अधिक पुराने नहीं लगते। सुरति शब्द को सिद्धों से तथा निरति को केवल नाथों से सम्बन्धित कर सकते हैं किन्तु वे जिन अर्थों को व्यक्त करते हैं वे योग में सिद्ध हो सकते हैं। यदि उनमें कुछ नवीनता है भी तो वह किसी अभारतीय विचारधारा से आई हुई नहीं है, वह कबीर की मौलिक उद्भावना है। कबीर के सुरति और निरति को योग की 'सम्प्रज्ञात' तथा 'असम्प्रज्ञात' समाधि में नहीं खोज सकते। हाँ, उनका रूप कुछ-कुछ उनसे भी मिलता है किन्तु उनमें कबीर का सा प्रेम-तत्त्व कहाँ है?

कबीर का मूल्य आँकते समय प्रायः उनका विचारक रूप सामने आ खड़ा होता है, किन्तु उनका प्रेमी रूप अधिक बलिष्ठ है। कबीर के विचारक' रूप में भी उनका 'प्रेमी' रूप आधार रूप मे संनिविष्ट है। 'विचारक' कबीर समाज और धर्म दोनों को विवेकपूर्ण दृष्टि से देखते हैं और एक सत्य की खोज करते हैं। प्रेमी कबीर उसी सत्य को प्रिय के रूप में देखकर अपने प्रेम को उसी के चरणों में समर्पित कर देते हैं। विचारक कबीर असत्य का उन्छेदन करता है और प्रेमी समाज को प्रेम के सूत्र में बाँधने का प्रयत्न करता है।

कबीर विचारक और प्रेमी थे। उनका विचारक रूप जिस प्रकार दार्शनिक और सुधारक था उसी प्रकार उनका 'प्रेमी' रूप भी 'सुधारक' और 'भक्त' था। कबीर का 'भक्त' किसी संप्रदाय या वर्ग का समर्थक नहीं था। वह अपने आराध्य के समान उदार एवं दयालु था और उसी के समान निष्पक्ष एवं तटस्थ था। इससे कुछ लोगों ने उन्हें ग़लत समझ लिया है। उनका दार्शनिक दृष्टिकोण देश-काल की सीमाओं से आगे की चीज़ है। यह बात उनके समकालीन किसी अन्य विचारक में नहीं मिलती। सूफ़ी विचारकों में अवश्य ही कुछ चिन्तन-स्वतन्त्रता की झलक दिखाई देती है किन्तु उनकी वाणी में कबीर का-सा ओज और वैसी प्रखरता नहीं मिल सकती।

मध्ययुगीन विचारकों में कबीर का विशेष स्थान है। उनके स्वतन्त्र चिन्तन में निष्पक्षता, प्रखरता, संयम और शालीनता के साथ-साथ तर्क और प्रभाव-शक्ति भी है। भारतीय विचारधारा को कबीर की वाणी एक वरदान के रूप में प्राप्त हुई। भारतीय जनता पर उसका अमित आभार है। जनता में अपने सहज धर्म द्वारा स्वतन्त्र चिंतन की भावना को जाग्रत कर देना कबीर का ही काम था। स्वतन्त्र चिंतन के साथ धर्म के प्रति आकर्षण पैदा करना कोई सरल काम नहीं है और इस दिशा में कबीर का प्रत्येक कदम दृढ़ एवं स्तुत्य था। वर्ग और सम्प्रदाय के बन्धनों को तोड़कर मानव को स्वतन्त्र वातावरण में श्वास लेने के लिए प्रेरणा देकर उन्होंने मानो बुद्ध के अधूरे काम को पूरा करने का प्रयत्न किया। कबीर का सुधार भी बुद्ध के सुधार की भाँति अनुभव की गोद में पला था किन्तु आस्तिक्य भाव का जो बल कबीर के सुधार को प्राप्त हुआ वह बुद्ध के सुधार को प्राप्त नहीं हुआ। कहने की आवश्यकता नहीं कि कबीर ने भारत में जिस समाज-धर्म के ढाँचे को खड़ा किया उससे जनता को अमोघ बल मिला, उसके नैतिक जीवन में सुधार की प्रवृत्ति सजग हो उठी और सभी में अपने जीवन, अपने समाज, और अपने धर्म के प्रति स्वतन्त्र रूप से विचार करने की प्रवृत्ति ने जन्म लिया।

साहित्य के किसी रूढ़िवादी दृष्टिकोण से कबीर का मूल्यांकन करना साहित्य के साथ अन्याय करना होगा। कबीर का साहित्य उनके हृदय की

प्रेरणा और मस्तिष्क की धारा है। इन दोनों की सहज अभिव्यंजना कबीर की भाषा की विशेषता है। उसमें न तो शब्दों की जटिलता है, न अलंकारों का घटाटोप और न छन्दों की उछल-कूद।

कबीर की वाणी को बड़ी सावधानी से परखने की आवश्यकता है अन्यथा अनर्थ होने की संभावना है। उसका रूप प्रवन्ध-काव्य का रूप नहीं है अतएव भावों और विचारों का संश्लेष दूर तक हमारे सामने कोई चित्र प्रस्तुत नहीं करता। कबीर विचारक भी हैं और भावुक भी। जहाँ वे विचारक हैं, वहाँ उनका भावुक आकार भी उनसे मिल नहीं सका है और जहाँ वे भावुक हैं वहाँ ऐसा लगता है कि कबीर के विचारों और भावों में कोई सामंजस्य नहीं है किन्तु ऐसा सर्वत्र नहीं है, कुछ विशेष स्थल ही इस प्रकार के हैं।

कबीर की वाणी ने भाषा के क्षेत्र में बड़ी भारी उत्क्रान्ति की और उस काम को पूरा किया जिसको बुद्ध और उनके अनुयायी न कर सके। बुद्ध ने अपने धर्म के प्रचार के लिए जनता की भाषा को अपनाया था। उनके अनुयायियों ने भी किसी सीमा तक इस व्रत का पालन किया किन्तु उस व्रत में संकीर्णता थी क्योंकि बुद्ध और उनके अनुयायियों ने किसी एक भाषा को अपनाया था किन्तु जो भाषा कबीर और उनके अनुयायियों से हमको मिली है वह एक ऐसी खिचड़ी है जिसमें देश के अनेक भू-खण्डों की वाणी का समावेश है। इसी कारण कबीर-ग्रन्थावली की भाषा में राजस्थानी, गुजराती, व्रज, पूर्वी आदि की शब्दावली और रूप-राशि का समावेश दिखाई देता है। एक जनतन्त्रीय भाषा का क्या रूप होना चाहिए, इस प्रश्न का उत्तर कबीर-वाणी में मिल सकता है।

कबीर जनता के कवि थे। उनकी वाणी साधारण शब्दों में प्रकट हुई थी। उसमें प्रचलित शब्दों का प्रयोग हुआ था इसीलिए जनता ने उसे अपनाया और साधारण लोगों में उसका उसी प्रकार समादर हुआ जिस प्रकार शिष्ट समाज में रामचरित-मानस का। कबीर के पदों को किसी ने तानपूरे पर गाया और किसी ने सारंगी पर सुनाया। किसी ने भक्ति के पद सुने और किसी ने विरक्ति के।

कभी-कभी ऐसा लगने लगता है कि कबीर की वाणी में क्षेत्र-विस्तार नहीं है। यही आरोप सूर के काव्य पर भी लगाया जाता है किन्तु सूर के सम्बन्ध में उनके उपमानों का सहारा लेकर इस आरोप का परिवारण कर दिया जाता है। कबीर ने चाहे उपमानों के क्षेत्र में कोई प्रयत्न भले ही न किया हो, किन्तु उनके उपमान बड़े सजीव एवं उनके दैनिक जीवन में मिलने वाले हैं। उनसे भी कबीर के क्षेत्र का विस्तार तो बढ़ता ही है। साथ ही कबीर ने अपने वर्ण्य को काफ़ी फैलाया भी है। धर्म, समाज, आचरण, नैतिकता, व्यवहार आदि सभी विषयों पर कबीर की वाणी का स्फुरण हुआ है। कबीर का विरहोपचार बड़ा मार्मिक है। आत्मा तथा परमात्मा के मिलन का जो संघर्ष कवि ने चित्रित किया है वह अद्वितीय है उसमें शृंगार है और वह भी समग्र रागात्मक वृत्तियों को झंकृत कर देने वाला, किन्तु वासना से एकदम विनिर्मुक्त। उसमें शृंगार का आनन्द आता है किन्तु पाठक उसमें बह नहीं जाता। यही कबीर का विद्यापति और जयदेव से अन्तर है।

कबीर का जीवन एक मज़दूर का जीवन था किन्तु उन्होंने अपने इस जीवन को अपनी उन्नति में बाधक नहीं समझा वरन् अपनी आध्यात्मिक अभिव्यंजना में उन्होंने अपने जीवन का पूर्ण उपयोग किया और अपने रोम-रोम से सम्बन्धित वाणी को जिस प्रचार कार्य में लगाया, उसका प्रभाव स्पष्ट है। कबीर का जीवन छोटों-बड़ों के लिए आज तो एक बहुत बड़ी प्रेरणा है इसलिए आज जब कि एक मानव-धर्म की आवश्यकता है कबीर की वाणी का और भी अधिक उपयोग है। उसमें पलायनवाद का स्वर खोजना अनुचित है किन्तु दर्प और हीनता का समझौता उनकी वैराग्योक्तियों में अवश्य मिलता है। कहते हैं कि कवि अमर होता है क्योंकि उसकी वाणी युग-युग के लिए संदेश देती है। कबीर भी अमर है क्योंकि उनकी वाणी भी आज हमें सन्देश दे रही है। वह हमें धर्म और समाज की एकता सिखला रही है और नीति का मार्ग प्रशस्त कर रही है।

—लेखक

विषय-सूची

जीवनी

जन्म-तिथि और समय—

किसी कवि या लेखक के जीवन-वृत्त के लिखने में अन्तःसाक्ष्य और बहिः-साक्ष्य दोनों को ही आधार बनाया जाता है। कबीर की रचनाओं में एक पंक्ति के सिवा कहीं भी उनके जीवन-काल का संकेत नहीं मिलता—'गुरु परसादी जैदेव नामा, भगति के प्रेम इन्हहि है जाना'। इस पंक्ति से यह स्पष्ट हो जाता है कि कबीर जयदेव और नामदेव के पश्चात् हुए थे।

पं० रामचन्द्र शुक्ल ने कबीर की जन्म-तिथि जेठ सुदी पूर्णिमा सोमवार सं० १४५६ वि० मानी है, किन्तु यह तिथि डा० बड़थ्वाल को मान्य नहीं है। वे कबीर की जन्म-तिथि सं० १४०७ और सं० १४४७ के बीच अनुमान करते हैं। उनका कहना है कि नामदेव की कहानियाँ कबीर के समय में बहुत प्रचलित हो गई थीं और नामदेव की मृत्यु सं० १४०७ में होने से कबीर का जन्म सं० १४०७ के पश्चात् ही ठहरता है। डा० बड़थ्वाल रामानन्द की निधन-तिथि सं० १४६७ के लगभग मानकर कबीर की आयु उस समय कम से कम १८-२० वर्ष मानते हैं। इस प्रकार वे सं० १४०७ और सं० १४४७ के बीच में कबीर की जन्म-तिथि का अनुमान लगाते हैं। उनका कहना है कि कबीर का जन्म सन् १३७० ई० अर्थात् सं० १४२४ वि० के आसपास हुआ होगा। डा० त्रिगुणायत ने कबीर की जन्म-तिथि सम्वत् १४५५ मानी है जो 'कबीर-चरितबोध' में दी हुई तिथि के अनुरूप है। यह तिथि पं० रामचन्द्र शुक्ल द्वारा मानी हुई तिथि से लगभग मिल जाती है। जो हो यही तिथि लोक-प्रसिद्ध है।

कबीर की मृत्यु के सम्बन्ध में चार तिथियाँ मिलती हैं:—(क) सं० १५०५, (ख) सं० १५४९, (ग) सं० १५६९ और (घ) सं० १५७५। इनमें से किसी तिथि के सम्बन्ध में प्रमाण नहीं हैं। अनन्तदास की 'परिचई' के अनुसार कबीर

ने १२० वर्ष की आयु प्राप्त की थी। सं० १४५५ (कबीर की जन्म-तिथि) में १२० वर्ष जोड़ देने पर उनकी निधन-तिथि सं० १५७५ आ जाती है। इससे कबीर को सिकन्दर लोदी, रामानन्द तथा गुरु नानक का सम-कालीन मानने में कोई अड़चन नहीं आती। ब्रिग्स के अनुसार सिकन्दर से कबीर की भेंट सं० १५५३ में, जबकि वे ९८ वर्ष के होंगे, हुई थी। मि० वेस्काट का मत है कि गुरु नानक २७ वर्ष की अवस्था में कबीर से मिले थे। गुरु नानक की जन्म-तिथि सं० १५२६ मानी जाती है। इससे स्पष्ट है कि नानक से कबीर की भेंट सं० १५५३ में हुई थी।

डा० बड़थ्वाल का कहना है कि सं० १५७५ को कबीर की निधन-तिथि मानने में उनको विशेष आपत्ति नहीं है, किन्तु यह तिथि प्रमाणों से पुष्ट नहीं है। ऐसा प्रतीत होता है कि कबीर के संबंध में राज-दण्ड का आविष्कार ही कबीर को सिकन्दर लोदी (सन् १४८९–१५१७ ई०) से जोड़ने का कारण बना है। शायद यह प्रह्लाद और कबीर की तुलना को पूरा करने की दृष्टि से किया गया हो। वे डा० रामप्रसाद त्रिपाठी के इस मत से सहमत हैं कि सिकन्दर लोदी के समय तक कबीर अपनी खंडन-पद्धति को लेकर नहीं पहुँचे होंगे।

किन्तु डा० बड़थ्वाल के इस विचार को भी कोई प्रमाण प्राप्त नहीं है कि कबीर की मृत्यु सं० १५०५ (सन् १४४८) में हुई थी। वे डा० फ्युहरर के इस मत से प्रभावित हुए दीख पड़ते हैं कि 'नवाब बिजली खाँ' पठान ने सं० १५०७ में कबीर की कब्र पर एक स्मारक बनवाया जिसकी मरम्मत सं० १६२४ में नवाब फ़िदाईख़ाँ ने कराई। डा० फ्युहरर के बयान को प्रामाणिक तो स्वयं डा० बड़थ्वाल भी नहीं मानते, फिर उसके आधार पर मानी हुई कबीर की मृत्यु-तिथि को प्रमाणित कैसे माना जा सकता है ?

लोक-प्रसिद्धि को प्रमाणों पर कस कर इसी निर्णय पर पहुँचा जा सकता है कि कबीर का जन्म संवत् १४५५ और निधन संवत् १५७५ में हुआ था।

स्थान—

कबीर के जन्म-स्थान के सम्बन्ध में तीन मत प्रचलित हैं—एक तो यह कि वे मगहर में उत्पन्न हुए थे, दूसरा यह कि उनका जन्म-स्थान काशी था और

तीसरा यह कि वे आजमगढ़ जिले के बेलहरा गांव में उत्पन्न हुए थे। श्री सीता-राम चतुर्वेदी और स्वर्गीय डा० श्यामसुन्दरदास कुछ अन्तःसाक्ष्यों के कारण कबीर का जन्म-स्थान काशी मानते हैं, किन्तु डा० रामकुमार वर्मा इस मत के विरोधी हैं। वे कबीर का जन्म-स्थान मगहर मानते हैं। उनका कहना है कि काशी कबीर का जन्म-स्थान नहीं है। वहाँ तो वे बाद में आकर रहने लगे थे।

अन्तःसाक्ष्य के रूप में कबीर-बानी की अनेक पंक्तियां प्रस्तुत की जा सकती हैं, किन्तु कई पंक्तियों में परस्पर विरोध-सा दिखाई देता है, जिससे समस्या के हल के स्थान पर उलझन कुछ बढ़-सी जाती है। उदाहरण के रूप में 'काशी में हम प्रगट भये हैं, रामानन्द चिताए' को ही लिया जा सकता है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि कबीर ने काशी में जन्म लिया था, किन्तु 'पहले दरसन मगहर पायो, पुनि काशी बसे आई' से कबीर की पहली पंक्ति का आशय खंडित हो जाता है।

यहां 'दरसन' शब्द भी विद्वानों के विवाद का कारण बन गया है। मगहर को कबीर का जन्म-स्थान मानने वाले इस शब्द का अर्थ 'जन्म लेना' मानते हैं और दूसरे पक्ष वाले इसका अर्थ सामान्यतया 'ईश्वर-दर्शन' बतलाते हैं। जो लोग मगहर को कबीर का जन्म-स्थान नहीं मानते उनका कहना है कि संभवतः कबीर पर्यटन करते हुए कभी मगहर गये होंगे और वहाँ उन्हें या तो किसी सिद्ध पुरुष के या भगवान् के दर्शन हुए होंगे अथवा वहाँ उनको ज्ञान की प्राप्ति हुई होगी।

कबीर-पंथियों के अनुसार 'सत्य पुरुष' का तेज काशी के 'लहर तालाब' में उतरा था अथवा उक्त तालाब में पुरइन के पत्ते पर पौढ़ा हुआ बालक नीरू जुलाहे की स्त्री को काशी नगर के निकट मिला था। इससे तो यही सिद्ध होता है कि कबीर का जन्म काशी में हुआ था, परन्तु 'बनारस डिस्ट्रिक्ट गजेटियर' के अनुसार कबीर का जन्म काशी या मगहर में न होकर आजमगढ़ जिले के 'बेलहरा' गांव में हुआ था। कहते हैं कि वहाँ बेलहरा नाम का एक तालाब है। पहले उसका नाम लहर-तालाब था। कबीरदास जी का जन्म इसी तालाब पर हुआ बतलाया जाता है। खोज करने पर आजमगढ़ जिले के उक्त

गांव में कबीर से सम्बन्धित न तो कोई स्मारक ही मिला है और न वहां कबीर-पंथी ही मिले हैं अतएव गजेटियर के लेखक का मत केवल अनुमान पर आधारित प्रतीत होता है। संभवतः अनुमान का कारण 'लहरताला' और 'बेलहरा' शब्दों का साम्यमात्र रहा हो।

कबीर की 'बानी' के अतिरिक्त काशी के पक्ष में जन-श्रुति और कबीर-पंथ के ग्रन्थ भी हैं। कोई कबीर-पंथी कबीर को 'मगहर' का नहीं मानता है। अनन्त-दास और धर्मदास की रचनाओं में कबीर की प्रतिष्ठा काशीवासी के रूप में ही हुई है।

कबीर काशी या उसके समीपस्थ किसी स्थान में उत्पन्न हुए थे। उन्होंने काशी में निवास किया और निधन-काल के समीप वे मगहर चले गये।

जाति—

कबीर की जाति के सम्बन्ध में विद्वानों में बड़ा मतभेद है। उनकी जाति किसी विद्वान् ने ब्राह्मण बतलाई है, किसी ने जुलाहा और किसी ने उनको 'जुगी', या जोगी जाति का बतलाया है। सभी विद्वानों ने अपने-अपने पक्ष में 'कबीर-बानियों' से सहायता ली है। कबीर ने अपने को कोरी भी कहा है। इसमें संदेह नहीं कि कबीर ने अपने लिए 'जुलाहा' शब्द का बार-बार प्रयोग करके अपने आलोचकों को मानों अपनी जाति बतला दी है, किन्तु कोरी शब्द का प्रयोग भी कबीर-बानियों में कई जगह मिलता है जिससे समस्या पैदा हो जाती है। एक स्थान पर 'पिता हमारो बड़ु गोसांई' कहकर कबीर ने जाति-विषयक समस्या को और भी जटिल कर दिया है। कबीर की बानियों में उनकी जाति की ओर संकेत करने वाली जो अनेक पंक्तियाँ मिलती हैं और जिन पर अनेक विद्वानों के मत आधारित हैं, नीचे उद्धृत की जाती हैं तथा उनके अतिरिक्त अन्य महात्माओं ने अपनी-अपनी बानियों में उनकी जाति के सम्बन्ध में जो कुछ कहा है उसको भी संक्षिप्त रूप में प्रस्तुत किया जाता है :—

१. जाति जुलाहा मति को धीर, हरषि-हरषि गुण रमै कबीर।
२. मेरे राम की अभैपद नगरी, कहै कबीर जुलाहा।
३. तू ब्राह्मन मैं कासी का जुलाहा, बूझहु मोर गियाना।

४. तू ब्रह्म मैं काशी का जुलाहा, मोहि तोहि बराबर कैसीकै बनहि ।

५. पूरब जनम हम ब्राह्मन होते, ओछे करम तपहीनां ।
रामदेव की सेवा चूका, पकरि जुलाहा कीना ॥

६. जाति जुलाहा नाम कबीरा, बनि बनि फिरों उदासी ।

७. जोलाहे घर अपना चीना, घट ही राम पिछाना ।

ऊपर की पंक्तियाँ ऐसी हैं जिनसे कबीर के जुलाहा होने का परिचय मिलता है । नीचे ऐसी पंक्तियां उद्धृत की जाती हैं जो कबीर के कोरी होने की सूचना देती हैं :—

१. कहत कबीर कारगह तोरी, सूतहि सूत मिलाए कोरी ।

२. परिहरि काम राम कहि बौरे, सुनि सिख बन्धू मोरी ।
हरि को नाम अभै पद दाता, कहै कबीरा कोरी ॥

कबीर ने जुलाहा, कोरी और 'बड़ुगुसाईं' शब्दों के प्रयोग से जहां एक समस्या पैदा कर दी है, वहां 'कबीर मेरी जाति को सब कोई हसनोहार' कहकर वे हमें एक बड़े सन्देह से निकाल देते हैं । वे हमें यह निश्चय करा देते हैं कि उनकी जाति उस समय उपहास्य वस्तु थी । समाज में उसका बड़ा निम्न स्थान था ।

कबीर-बानियों के सिवा दूसरे सन्तों की बानियों में भी कुछ ऐसी पंक्तियां मिलती हैं जो कबीर की जाति का परिचय देती हैं । उनमें से कुछ उपयुक्त उद्धरण नीचे दिये जाते हैं—

१. जाकै ईदि बकरीदि कुल गऊ रे बध करहि, मानिअहि सेख सहीद पीरा ।
जाकै बाप बैसी करी, पूत ऐसी करी, तिहूँ रे लोक परसिध कबीरा ॥
[रैदास]

२. कासी बसै जुलाहा एक, हरिभगतनि की पकरो टेक । [अनन्तदास]

३. जुलाहा अभै उत्पन्न्यो साध कबीर । [रज्जब]

एक-दो स्थानों पर कबीर की बानियों में ऐसी उक्तियां प्रयुक्त हुई हैं जो यह प्रकट करती हैं कि कबीर न तो हिन्दू थे, न मुसलमान और न जोगी ही । एक उद्धरण देखिए—

जोगी गोरख गोरख करै, हिन्दू राम नाम उच्चरै।

मुसलमान कहै एक खुदाई, कबीरा को स्वामी घर-घर रह्यौ समाई।

इन उक्तियों के अतिरिक्त विद्वानों ने किंवदन्ती से भी सहायता लेने का प्रयत्न किया है। कबीर ने अपनी उक्तियों में अपने लिए जुलाहा और कोरी दोनों शब्दों का प्रयोग किया है, किन्तु ये दोनों शब्द व्यावसायिक समता के अतिरिक्त किसी जातीय एकता की ओर संकेत नहीं करते। दोनों जातियाँ भिन्न हैं। जुलाहे मुसलमान होते हैं और कोरी हिन्दू।

तत्कालीन राजनीतिक और सामाजिक परिस्थितियों का अवलोकन, दलित जातियों के प्रति कबीर की विशेष सहानुभूति और उनकी जाति की उपहास्यता, हमें यह मानने के लिए प्रवृत्त करती हैं कि कबीर के परिवार की कोरी जैसी किसी दलित जाति से अवश्य ही किसी प्रकार की निकटता रही थी। हिन्दुओं में कोरी जाति से संबंधित अनेक उपहासमयी कहानियाँ प्रचलित हैं। ऐसी ही हँसी की कहानियां जुलाहों के सम्बन्ध में भी प्रसिद्ध हैं। इसलिए 'कबीर मेरी जाति को सब कोई हसनोहार'—इस उक्ति से जिस प्रकार 'जुलाहा' जाति की ओर संकेत ग्रहण किया जाता है वैसे ही 'कोरी' जाति की ओर भी संकेत हो सकता है। ऐसा भी देखा गया है कि धर्म-परिवर्तन के अनन्तर भी लोग प्राय: अपने पूर्व व्यवसाय को ही अपनाए रहते हैं। अतएव कबीरकालीन जुलाहों में बहुत से धर्मान्तरित कोरी भी रहे हों तो आश्चर्य की क्या बात है! फिर यह न मानने का कोई कारण नहीं दीख पड़ता कि कबीर के पूर्वज कोरी थे, जबकि कबीर ने अपने मुख से कोरी और जुलाहा दोनों जातियों से अपना सम्बन्ध जोड़ते हुए हमें भी दोनों को संवद्ध रूप में देखने के लिए प्रेरित किया है।

यहाँ यह कह देना भी अयुक्त न होगा कि 'विधवा ब्राह्मणी' वाली किंवदन्ती में कोई तथ्य नहीं दीख पड़ता। इसको न तो कबीर की उक्तियों का ही समर्थन प्राप्त है और न अन्य सन्तों की बानियों का ही। हो सकता है कि यह किसी ब्राह्मण की गढ़न्त हो, जिसने कबीर जैसे नीच जाति के व्यक्ति की ऐसी प्रतिमा से चकित होकर यह किंवदन्ती तैयार कर दी हो। यह भी संभव है कि इसकी कल्पना में किसी ब्राह्मण-विरोधी व्यक्ति या दल का व्यंग्यात्मक

प्रयास हो। सही प्रमाणों के अभाव में इसको कबीर की जाति के निर्णय के लिए कदापि स्वीकार नहीं किया जा सकता।

इससे हमारा मत यह है कि कबीर जुलाहा जाति में उत्पन्न हुए थे। इनके कुल का सम्बन्ध कोरी जाति से था, जिस पर नाथ-पंथ का प्रभाव कभी अवश्य रहा होगा। उनके वंश पर पूर्वजातीय धार्मिक संस्कार वने हुए थे जिनकी अभिव्यक्ति कबीर के व्यक्तित्व से प्रमाणित है तथा जिनके पोषण में रामानन्द का प्रभाव भी सहायक था।

नाम—

'कबीर' नाम साहित्य में इतना प्रसिद्ध हो चुका है कि इसके सम्बन्ध में संदेह के लिए कोई अवकाश ही नहीं रह जाता। मध्यकालीन विचारधारा के इतिहास में भी 'कबीर' का नाम अग्रणी है। साहित्य के इतिहास में भी यही नाम प्रचलित है। हाँ, कभी-कभी इसके साथ पूर्व-सर्ग और पर-सर्ग अवश्य मिलते हैं, जैसे दास और साहब। इस प्रकार यह नाम कभी 'दास कबीर', कभी 'कबीरदास' और कभी 'कबीर साहब' के रूप में भी प्रयुक्त देखा गया है। कबीर साहब और कबीरदास नामों का प्रयोग कबीर की बानियों में कभी नहीं आया। इन नामों में आदर की भावना निहित है, अतएव ऐसा प्रतीत होता है कि इनका प्रयोग कबीर पंथ वालों ने ही किया होगा।

हिन्दी-साहित्य के ग्रन्थों में कबीर और कबीरदास, ये दो नाम ही अधिक प्रयुक्त हुए हैं। 'महात्मा कबीरदास', 'संत कबीर', 'कबीर की विचारधारा', 'कबीर', 'कबीर : साहित्य और सिद्धान्त', 'कबीर : एक अध्ययन', 'कबीर : एक आलोचना' आदि ग्रन्थों में कबीर और कबीरदास नामों का ही प्रयोग हुआ है।

कबीर ने अपनी वाणी में 'कबीर' शब्द का प्रयोग ही बहुलता से किया है। कबीर की सभी साखियां तो नहीं, किन्तु उनमें से अधिकांश 'कबीर' की मुद्रा से मुद्रित हैं। पदों में तो शायद कुछ ही ऐसे हों जिन पर 'कबीर' की छाप न हो। रमैनियों के अन्त में भी अधिकांशतः 'कबीर' की छाप लगी मिलती है। साखियों में कबीर शब्द का प्रयोग संबोधन में हुआ है, जैसे—

कबीर जाको खोजते, पायो सोई ठौर।
सोई फिरि कै तू भया, जाको कहता ओर ॥

रमैनियों के अन्त में जहाँ कहीं 'कबीर' नाम का प्रयोग हुआ है, उसके पूर्व 'कहै' शब्द का प्रयोग अवश्य हुआ है, जैसे—

जिनि यहु चित्र बनाइया, सो साचा सुतधार।
कहै कबीर ते जन भले, जे चित्रवत लेहि विचार ॥

इससे स्पष्ट है कि रमैनियों में कबीर 'वक्ता' के रूप में प्रकट हुए हैं, किन्तु पदों में 'कबीर' शब्द के पहले 'दास' शब्द का प्रयोग भी मिलता है, जैसे—

"दास कबीर पल प्रेम न घटई, दिन-दिन प्रीति नई"।

पदों में कहीं-कहीं तो 'कबीर' न होकर 'कबिरा' या 'कबीरा' का प्रयोग ही हुआ है, जैसे—

"यू दास कबीरा गावै, तार्थं मन कौं मन समझावै"

'कबिरा' शब्द का प्रयोग साखियों में भी सम्बोधन के लिए हुआ है। पदों में 'जन कबीर' का प्रयोग भी कहीं-कहीं मिलता है, जैसे—

"जन कबीर ठग ठग्यौ है बापुरो, सुंनि समानी त्यौरी"

रमैनियों की भाँति पदों में भी 'कबीर' के पहले 'कहै' क्रिया के प्रयोग से कबीर ने वक्ता का पद धारण कर लिया है, जैसे—

"कहै कबीर मिलै जे साईं, मिलि करि मंगल गाई"।

एक पद में अपने नाम की घोषणा करते हुए कबीर कहते हैं—

"जाका ठाकुर तुही सारिंगधर, मोहि कबीरा नाँऊ रे" ॥

एक साखी में अपने नाम का परिचय कबीर ने इस प्रकार दिया है—

कबिरा तुही कबीरु तू, तेरो नाउ कबीर।
राम रतन तब पाइये, जौ पहले तजहि शरीर ॥

इस पर्यवेक्षण के आधार पर यह कहा जा सकता है कि 'कबीर' ही मौलिक नाम है। इसके साथ ही 'दास' और 'जन' शब्दों का प्रयोग भावना का द्योतक है। जिस प्रकार 'जन कबीर' उसी प्रकार 'दास कबीर' के प्रयोग से अपनी वाणी में कबीर ने अपने भगवद्दासत्व की ओर इंगित किया है। कबीर

साहब श्रौर कबीरदास नामों का प्रयोग श्रादर व्यक्त करने के लिए कबीर के श्रनुयायियों ने किया है। श्रद्धालु श्रालोचकों ने भी श्रपने ग्रन्थों में 'कबीरदास' नाम का प्रयोग किया है।

'कबीर' नाम से जिस प्रकार कबीर के व्यक्तित्व का परिचय सहसा मिल जाता है, उसी प्रकार उनकी जाति के सम्बन्ध में भी संकेत मिल जाता है। जिस प्रकार नीरू या नूरी किसी मुसलमान नाम का संकेत देता है, उसी प्रकार 'कबीर' शब्द भी मुसलमान नाम की श्रोर संकेत करता है। वह बिजली खाँ, फ़िदाई खाँ, सिकन्दर खाँ श्रादि नामों की सूची में श्रर्थतः भले ही गुरुतर हो किन्तु जातितः हीनता का बोधक है।

किसी को क्या पता था कि कबीर नाम का बालक यथा नाम तथा गुण होगा। मैं समझता हूँ, जो काम श्रपने श्रासन से कबीर ने किया उसको श्रकबर श्रपने सिंहासन से भी न कर सका। समाज, धर्म श्रौर श्रध्यात्म के क्षेत्र में कबीर ने जिस क्रान्ति को जन्म दिया उससे उनका नाम सार्थक हो गया।

परिवार—

जन-श्रुति के श्रनुसार कबीर का एक छोटा-सा परिवार था जिसमें छः प्राणी थे—माता, पिता, स्त्री, पुत्र, पुत्री श्रौर स्वयं कबीर। कबीर की माता का नाम नीमा श्रौर पिता का नाम नीरू या नूरी बताया जाता है। कहते हैं कि कबीर के प्रति उनके पिता का व्यवहार श्रत्यन्त स्नेह-पूर्ण था। इसको स्वीकार करते हुए कबीर लिखते हैं :—"बापि दिलासा मेरो कीन्हा"।

इसके विपरीत कबीर की माँ कबीर से खिन्न रहती थी। सम्भवतः इसका कारण यह था कि कबीर की साधु-संगति उसको रुचिकर नहीं थी। कबीर जो कुछ कमाते थे उसे साधुश्रों पर व्यय कर देते थे। यह श्राचरण नीमा के निरन्तर खेद का कारण था। इसका संकेत हमें इस पद से मिलता है—

> कबीरो संत-नदी गयौ बहि रे।
> ठाढ़ी माइ करारै टेरै, है कोई ल्यावै गहि रे॥

उक्त पद से स्पष्ट है कि कबीर की माँ कबीर के सत्संग से तुष्ट नहीं थी। उनके संताचार को वह पारिवारिक विपत्ति का कारण समझती थी। एक पद

में कबीर ने इसका संकेत इस प्रकार किया है—

मुसि मुसि रोवै कबीर की माई।
हमारे कुल कउ न राम कहिम्रो।
जब की माला लई निपूते तब ते सुख न भयौ॥

इसीलिए उसके मरने पर कबीर ने कहा था—

"मुई मेरी माई हउ खरा सुखाला"

कुछ लोगों का यह कहना है कि यहाँ 'माई' शब्द माँ के लिए न होकर माया के लिए है। मैं समझता हूँ कि इससे दोनों ओर संकेत ग्रहण करने में कोई आपत्ति नहीं दिखाई देती क्योंकि पारिवारिक वातावरण में भी इस उक्ति की संगति बैठ जाती है।

कबीर की स्त्री का नाम लोई बताया जाता है। लोई को सम्बोधन करके कबीर ने अनेक पद लिखे हैं। एक पद में वे कहते हैं—

रे यामें क्या मेरा क्या तेरा, लाज न मरहि कहत घर मेरा।

+ + + +

कहत कबीर सुनहु री लोई, हम तुम बिनसि रहेगा सोई।

इसमें लोई और कबीर का एक घर होना प्रकट किया गया है। इससे तो यही सम्भावना है कि लोई कबीर की स्त्री थी। इससे यह भी प्रकट होता है कि लोई से कबीर के विचार नहीं मिलते थे, अतएव कलहकारी मत-भेद रहता था।

कुछ लोग 'लोई' के पहले 'सुनहु रे' की स्थिति (सुनहु रे लोई) से 'लोई' का अर्थ 'लोग' लगाते हैं, किन्तु जन-श्रुति की प्रतिष्ठा से 'लोई' को व्यक्ति-वाचक संज्ञा के रूप में स्वीकार करना ही उचित दीख पड़ता है।

लोई के विषय में यह जन-श्रुति है कि वह एक वनखण्डी वैरागी की परिपालित कन्या थी जो उस वैरागी को स्नान करते समय लोई में लपेटी हुई, टोकनी में रखी हुई, गंगा में बहती मिली थी। लोई में लपेटी हुई मिलने के कारण उस कन्या का नाम लोई रखा गया।

वनखण्डी वैरागी की मृत्यु के बाद एक दिन कबीर उसकी कुटिया में गये। वहाँ अन्य सन्तों के साथ उन्हें भी दूध पीने को दिया गया। औरों ने तो दूध पी लिया, पर कबीर ने अपने हिस्से का रख छोड़ा। पूछने पर उन्होंने कहा—"गंगा पार से एक साधु आ रहे हैं; यह दूध उन्हीं के लिए रख छोड़ा गया है"। थोड़ी देर में वहाँ सचमुच एक साधु आ पहुँचा जिससे अन्य साधुओं को कबीर की 'सिद्धई' पर बड़ा आश्चर्य हुआ। लोई भी विस्मय से मुग्ध हो गई और उसी दिन से वह कबीर के साथ हो ली।

कबीर-पंथ के लोग कबीर को अविवाहित कहते हैं, किन्तु 'ग्रन्थ साहब' में दिये हुए एक दोहे से यह सिद्ध होता है कि कमाल कबीर का पुत्र था। इस प्रकार कबीर का विवाहित होना भी प्रमाणित हो जाता है। उक्त दोहा इस प्रकार है :—

बूड़ा बंस कबीर का, उपज्या पूत कमाल।
हरि का सुमिरन छाँड़िके, घर ले आया माल॥

कुछ लोग उक्त दोहे को प्रक्षिप्त मानते हैं, किन्तु पहले तो 'ग्रन्थ साहब' में प्रक्षेपों के लिए बहुत कम या बिलकुल अवकाश नहीं दीख पड़ता, इसके अतिरिक्त 'ग्रन्थ साहब' में कमाल सम्बन्धी कई उक्तियाँ मिलती हैं जिनसे कबीर और कमाल के सम्बन्ध पर प्रकाश पड़ता है।

कुछ आलोचकों का यह भी मत है कि लोई कबीर की स्त्री नहीं थी, शिष्या थी। वे अपने मत के पक्ष में कबीर द्वारा की गई कामिनी-निन्दा को प्रस्तुत करते हैं :—

नारि नसावै तीनि सुख, जा नर पासैं होइ।
भगति मुकति निज ज्ञान में, पैसि न सकई कोइ॥
एक कनक अरु कामिनी, विषफल किए उपाइ।
देखे ही थें विष चढै, खाए सूं मरि जाइ॥

प्रमाणों से यह तो सिद्ध हो ही गया है कि कबीर विवाहित थे। अतएव हमारी समझ से लोई कबीर की शिष्या नहीं थी। हमें तो यही ठीक जान पड़ता है कि लोई कबीर की पत्नी थी जो कबीर के विरक्त होकर नवीन पंथ

चलाने पर उनकी अनुगामिनी हो गई ।

डा० रामकुमार वर्मा ने अन्तःसाक्ष्य के आधार पर अनुमान किया है कि कबीर की दो स्त्रियाँ थीं। पहली शायद कुरूप थी और उसकी जाति-पाँति का भी कोई पता नहीं था। उसमें स्त्री-योग्य सुलक्षण न थे। दूसरी स्त्री संभवतः सुन्दर और सुलक्षणा थी। पहली स्त्री का नाम लोई और दूसरी का धनिया था। उसे लोग 'रमजनिया' भी कहते थे। डा० रामकुमार वर्मा का यह भी अनुमान है कि संभवतः वह रमजनिया वेश्या रही हो। इस अनुमान के लिए कोई आधार नहीं दीख पड़ता। यह संभव हो सकता है कि कबीर की दो पत्नियाँ रही हों, किन्तु उनमें से एक वेश्या थी, यह नहीं कहा जा सकता। जो स्त्री उनकी भक्ति-भावना के अनुकूल रही होगी उन्होंने उसी को गुणवती कहा होगा। कबीर-ग्रन्थावली में एक पद ऐसा है जिससे डा० रामकुमार वर्मा के इस अनुमान की पुष्टि होती है कि कबीर की दो पत्नियाँ थीं। पद यह है—

अब की घरी मेरो घर करसी।
साध संगति ले मोकौं तिरसी ॥
पहली को घाल्यौ भरमत डोल्यौ, सच कबहूँ नहिं पायौ।
अब की घरनि धरी जा दिन थैं, सगलौ भरम गमायौ ॥
पहली नारि सदा कुलवन्ती, सासू सुसरा मानैं।
देवर जेठ सबनि की प्यारी, पिय को मरम न जानैं ॥
अब की घरनि धरी जा दिन थैं, पीय सूं बांन बन्यूं रे।
कहै कबीर भाग बपुरी कौ, आइ रु रांम सून्यूं रे ॥

यद्यपि इस पद से आध्यात्मिक ध्वनि भी निकलती है, तदपि लौकिक अर्थ भी पुष्ट हो जाता है। इस पद से स्पष्ट है कि कबीर की दो पत्नियां थीं। पहली से उनकी नहीं पटती थी। वह उनके आध्यात्मिक प्रवाह में बाधक सिद्ध होती थी क्योंकि वह कबीर के मर्म को नहीं समझती थी। दूसरी पत्नी उनके आध्यात्मिक विचारों की समर्थक एवं प्रेरक थी। वह उनके साथ राम-चर्चा कहने-सुनने में भी भाग लेती थी। कदाचित् यह दूसरी स्त्री धनिया या रमजनिया थी।

कबीर की मां की तरह उनकी पहली स्त्री भी उनसे अप्रसन्न रहती थी, क्योंकि वे साधु-सन्तों के सत्कार में अधिक संलग्न रहते थे। घर में जो कुछ अच्छा भोजन बनता उसे वे साधु-सन्तों को खिला देते थे और उनकी स्त्री को चबैना आदि खाकर ही रह जाना पड़ता था। इसीलिए उसे कह देना पड़ा :—

मूंड पलोसि कमर बँधि पोथी।
हम कउ चावनु, उन कउ रोटी ॥

अपनी दूसरी स्त्री से कबीर अधिक प्रसन्न थे, यह तथ्य कबीर की एक अन्य उक्ति से भी प्रकट होता है :—

भरी सरी मुई मेरी पहली बरी।
जुग जुग जीवउ मेरी अबकी धरी ॥

इससे ऐसा प्रतीत होता है कि कबीर की पहली स्त्री जल्दी मर गई थी।

कमाल के अतिरिक्त कबीर की एक पुत्री भी थी जिसका नाम कमाली था। कबीर-पंथियों ने कबीर को अविवाहित सिद्ध करने के लिए कमाली को किसी शेख तकी की पुत्री बताया है, जिसे कबीर ने उसके मरने के आठ दिन बाद पुनर्जीवन प्रदान किया। कमाली तभी से उनकी पोष्या पुत्री हो गई। कमाल को भी कबीर-पंथी कबीर का पोष्य पुत्र बतलाते हैं।

जो हो इतना सत्य है कि कमाल और कमाली कबीर के परिवार के अभिन्न अंग थे। कमाल बेढंगा और कबीर के नाम को बिगाड़ने वाला था। कुछ लोगों का तो यह भी कहना है कि कमाल और कमाली के अतिरिक्त जमाल और जमाली भी कबीर की संतति थे। कुछ लोगों ने जमाल और जमाली के स्थान पर निहाल और निहाली नाम बतलाये हैं।

निष्कर्ष यह है कि कबीर नूरी (नीरू) पिता एवं नीमा माता के औरस पुत्र थे। उनकी दो पत्नियां थीं। पहली का नाम लोई था और दूसरी का धनिया था जिसे रमजंनिया भी कहते थे। शायद यह नाम महात्मा रामानन्द के प्रभाव से रखा गया था। पहली स्त्री जल्दी मर गई थी। उससे कबीर की बनती नहीं थी। दूसरी स्त्री कबीर को अधिक प्रिय थी। उससे उनकी भक्ति-साधना को बड़ी प्रेरणा मिली थी। अनेक पुत्र और पुत्रियों के सम्बन्ध में पुष्ट

प्रमाण न मिलने से केवल यही माना जा सकता है कि कबीर को एक पुत्र और एक पुत्री का लाभ हुआ था। उनमें से केवल पुत्र ही बचा था। उसका नाम कमाल था जिसने गुजरात में अपना धर्म चलाया था। कबीर को पारिवारिक सुख नहीं मिल सका था। इसका प्रमाण उनकी ही एक साखी है—

जदि का भाई जनमिया, कहूँ न पाया सुक्ख।
डाली-डाली मैं फिरौं, पाती-पाती दुक्ख॥

व्यवसाय—

कबीर का जन्म और पालन-पोषण जुलाहा-परिवार में हुआ था। उनके परिवार का व्यवसाय कपड़ा बुनना था। कोरी और जुलाहों का यह व्यवसाय बहुत पुराना है। कोरी और जुलाहे लोग कपड़ा बुनते ही नहीं, बेचते भी हैं। जिस प्रकार ये लोग घर-घर से सूत खरीदते फिरते हैं, उसी तरह घर-घर कपड़ा भी बेचते फिरते हैं। इसके अतिरिक्त ये लोग पैंठों और अठवारों की हाटों में भी कपड़ा बेचने जाते हैं।

कबीर ने अपनी बानियों में अपनी जाति कोरी और जुलाहा बतलाई है। इससे कम-से-कम उनके पारिवारिक व्यवसाय पर तो प्रकाश पड़ता ही है। यह ऊपर कहा जा चुका है कि कोरी या जुलाहा जाति का पेशा कपड़ा बुनना है। कबीर भी कपड़ा बुनकर जीविका का उपार्जन करते थे। यद्यपि इससे उनके माता-पिता को विशेष सहायता नहीं मिलती थी, फिर भी घर का काम तो चलाना ही पड़ता था। इसी साधन से कबीर अपने सत्संग का व्यय भी चलाते थे।

कबीर की बीसियों बानियाँ ऐसी हैं जिनमें बुनने के रूपक प्रस्तुत किये गये हैं। उनमें जो विस्तार दिये गये हैं, उनसे स्पष्ट है कि कबीर को बुनने का गहन ज्ञान प्राप्त था। ऐसा ज्ञान वैयक्तिक अनुभव की ओर संकेत करता है। कबीर के करीब तेरह पद ऐसे हैं जिनसे उनके 'वयन-जीवी' होने का संकेत मिलता है। एक स्थान पर कबीर ने स्वयं स्वीकार किया है—

हम घर सूत तनहिं नित ताना।

ऐसा भी प्रतीत होता है कि पैत्रिक व्यवसाय में कबीर की रुचि नहीं थी।

रुचि भी क्या करती ? यदि सत्संग से अवकाश मिलता, तो वे कपड़ा बुनते। शायद बाद में उन्होंने यह व्यवसाय छोड़ भी दिया था—

तनना बुनना सभु तज्यौ है कबीर
हरि का नाम लिखि लियो सरीर ॥

गुरु—

कबीर के गुरु कौन थे ? यह प्रश्न गम्भीर और विचारणीय है। कबीर के गुरु के सम्बन्ध में लोगों का मत-भेद है। इन लोगों को हम दो वर्गों में बांट सकते हैं—एक तो वे जिन्होंने कबीर के सम्बन्ध में शोध करके अपना मत स्थिर किया है और दूसरे वे जो कबीर-पंथी हैं। कबीर-पंथियों के भी दो वर्ग हैं—हिन्दू कबीर-पंथी और मुसलमान कबीर-पंथी। मुसलमान कबीर-पंथियों का कथन है कि कबीर शेख तकी के मुरीद थे। हिन्दू कबीर-पंथी कहते हैं कि कबीर को गुरु करने की आवश्यकता नाममात्र को ही पड़ी थी। कहा जाता है कि निगुरा कहकर कुछ लोग कबीर को खिझाते थे। वे कबीर की बानियों का अनादर करते थे। कबीर ने परिस्थिति का सामना करने के निमित्त एक गुरु चुनने की आवश्यकता समझी। महात्मा रामानन्द की उस समय बड़ी ख्याति थी। स्वयं सर्वज्ञ होते हुए भी कबीरदास ने गुरु की प्रतिष्ठा स्थापित करने के लिए किसी प्रकार रामानन्द को अपना गुरु बना लिया।

कबीर पर शोध करने वाले विद्वानों में से कुछ ऐसे भी हैं जो रामानन्द को कबीर का गुरु नहीं मानते। उनमें से डा० भण्डारकर एवं डा० मोहनसिंह के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। डा० मोहनसिंह का तो यह भी कहना है कि कोई लौकिक व्यक्ति कबीर का गुरु नहीं था। इसके विपरीत डा० हजारीप्रसाद, डा० श्यामसुन्दरदास आदि कुछ विद्वानों की यह दृढ़ धारणा है कि कबीर के गुरु रामानन्द थे।

यह विषय विवाद-ग्रस्त है। इतिहास के आधार पर विचार करने से सबसे बड़ी अड़चन तो सामने यह आती है कि उक्त दोनों महानुभावों का समय अनिश्चित है। फिर भी विद्वानों ने इतिहास, अनुमान और 'बानियों' का सम्बन्ध स्थापित करने की चेष्टा तो की ही है। यद्यपि इतिहास की दृष्टि से

दोनों का सम्बन्ध असम्भव सिद्ध नहीं होता, फिर भी स्वयं कबीर के वचनों से प्रमाण-संचय करना अत्युचित होगा। कबीर-ग्रन्थावली के पाठक यह भली भाँति जानते हैं कि उसमें स्वामी रामानन्द का नाम नहीं आया है। शुक, प्रह्लाद, ध्रुव, नारद आदि प्राचीन भक्तों को जाने दीजिए, जयदेव तथा नामदेव तक का नाम लिया गया है। कबीर का कथन है :—"जागे सुक उधव अक्रूर, हणवंत जागे लै लंगूर। संकर जागे चरन सेव, कलि जागे नामां जैदेव"। मैं समझता हूँ, कबीर-ग्रन्थावली में एक भी पद्य ऐसा नहीं आया है जिसमें किसी भी वैष्णव आचार्य का नाम आया हो। कबीर काशी में रहते थे। अनेक वैष्णव आचार्य समय-समय पर वहाँ आते रहते थे। आचार्य नहीं तो उनके शिष्य तो आते ही रहते थे। दर्शन के इतिहास में ऐसे अनेक शास्त्रार्थों का उल्लेख मिलता है जो काशी में वैष्णव सिद्धान्त को लेकर हुए थे। फिर भी कबीर उनके विषय में मौन हैं। क्यों ? वे शंकर का तो नाम लेते हैं, किन्तु भक्ति के उन्नायक रामानुज का ध्यान नहीं रखते। ऐसी दशा में यदि कबीर-ग्रन्थावली में रामानन्द का नाम नहीं मिलता तो आश्चर्य की बात क्या है ? कबीर की बानियों में 'वैष्णव' शब्द का प्रचुर प्रयोग मिलता है, 'साकत' (शाक्त) का भी अभाव नहीं है। यदि अभाव है तो 'शैव' का। सम्भवतः शंकर इसी अभाव की पूर्ति करते हैं। कदाचित् यह स्वीकार करने में तो किसी को आपत्ति न होगी कि वैष्णव धर्म से कबीर का घनिष्ठ सम्बन्ध था क्योंकि उन्होंने अपने ही शब्दों में स्वीकार किया है कि—"मेरे संगी दोइ जणां, एक वैष्णव एक रांम। वो है दाता मुकति का, वो सुमिरावै नांम"॥ कबीर की दृष्टि में वैष्णव का पद बहुत ऊँचा था। वे तो वैष्णव की मां तक को बधाई देते हुए कहते हैं--"कबीर धनि ते सुन्दरी, जिनि जाया वैसनों पूत। रांम सुमिरि निरभै हुवा, सब जग गया अऊत"॥ कबीर वैष्णव मत के प्रशंसक ही नहीं, स्वयं वैष्णव थे। इसकी पुष्टि के लिए उनकी यह वाणी पर्याप्त है—

"मेरी जिभ्या बिस्नु नैंन नाराइन, हिरदै बसै गोविंदा"

कबीर पर वैष्णव धर्म का प्रभाव इतना गहरा पड़ा कि वे अपने को वैष्णव से अभिन्न मानते हैं। वे अपनी एक साखी में कहते हैं—

हम भी पाहन पूजते, होते रन के रोझ।
सतगुरु की कृपा भई, डारया सिरथें बोझ॥

यह तो अन्यत्र कहा ही जा चुका है कि कबीर का जन्म मुसलमान कुल में हुआ था। उनके कुल में किसी ने राम नाम नहीं जपा था। फिर उनके 'पाहन पूजन' और 'बन के रोझ' कहने का क्या अभिप्राय है ? यदि और न सही, कबीर का मुसलमान-परिवार में पालित होना ही सत्य मान लें तो भी वे संस्कारवश 'पत्थर-पूजा' और पुनर्जन्म के चक्र से मुक्त तो थे ही। फिर उनके कथन का अभिप्राय क्या है ? मैं समझता हूँ कि कबीर पर वैष्णव-मत का प्रभाव इतना घनीभूत हो गया था कि उनका विश्वास पुनर्जन्म-वाद में हो गया था। निस्सन्देह यह प्रभाव रामानन्द का था।

कुछ विद्वानों ने कबीर को शेख तकी का मुरीद माना है। उनमें श्री रामप्रसाद त्रिपाठी तथा स्वर्गीय मैलकम साहब एवं वेस्कट साहब प्रमुख हैं। प्रायः उक्त इन सभी विद्वानों ने अपने मत की पुष्टि के लिए गुलाम सरवर की 'खजीनअतुल असफ़िया' से उद्धरण दिये हैं। गुलाम सरवर भी कबीर को शेख तकी का मुरीद मानते हुए प्रौढ़ तर्कों से अपने मत की पुष्टि नहीं कर सके हैं। उनके मत को प्रामाणिक नहीं कहा जा सकता क्योंकि उन्होंने कबीर की जन्म-तिथि देकर अपनी भ्रामक अटकल-बाजियों को ही प्रस्तुत किया है। ऐसे अप्रामाणिक एवं अनैतिहासिक ग्रंथ के आधार पर कोई मत स्थिर करना उचित प्रतीत नहीं होता।

शेख तकी को कबीर का पीर मानने वाले लोग अपने पक्ष में यह प्रमाण भी प्रस्तुत करते हैं :—

मानिक पुरहि कबीर बसेरी, मदहति सुनी शेख तकि केरी।
ऊजी सुनी जौनपुर थाना, झूँसी सुनि पीरन के नामा॥

यह धारणा कि कबीर मानिकपुर के शेख तकी के ही मुरीद थे, कबीर-पंथी मुसलमानों की है। वे तो यहां तक कहते हैं कि कबीर का सम्बन्ध शेख अकरदीं और सकरदीं से भी था। शेख अकरदीं और सकरदीं कबीर को लेकर स्वामी रामानन्द की शरण में गये थे। प्रवाद तो यह भी है कि झूँसी के किसी

शेख तकी से कबीर की लाग-डाँट भी हो गई थी। कबीर के साथ जहांगश्त फ़कीर का सम्बन्ध भी कहा जाता है। कबीर-ग्रंथावली में तो केवल यह पद्य मिलता है :—

हज्ज हमारी गोमती तीर, जहाँ वसहिं पीतंबर पीर।
वाहु वाहु क्या खूब गावता है, हरि का नाम मेरे मन भावता है ॥

यह ध्यान रखने की बात है कि ये पंक्तियां 'ग्रन्थसाहब' की हैं और कबीर-ग्रन्थावली के परिशिष्ट में दी गई हैं। श्री चन्द्रवली पांडेय का मत है कि पीतांबर जी अवश्य ही एक अच्छे गायक थे, तारक नहीं। यदि पीर शब्द के आधार पर उनको सूफ़ी कहें तो पीतांबर संज्ञा के अनुरोध से भक्त कहेंगे। पूरे पद पर विचार करने से पीतांबर जी भक्त ठहरते हैं, सूफ़ी नहीं। उनका 'हरिनाम' कबीर को प्रिय लगता है। पीतांबर पीर का कोई विशेष परिचय अभी तक नहीं मिला। हो सकता है कि उनका स्थान जौनपुर रहा हो। इस समय हम इतना कहकर ही सन्तोष करते हैं कि वे राम के भक्त, प्रसिद्ध गायक और पीर के रूप में ख्यात थे। यदि कबीर उनके शिष्य नहीं थे तो उनके प्रति उनकी श्रद्धा अवश्य थी। कबीर उनके सत्संग को ही तीर्थ समझते थे।

कबीर-ग्रन्थावली के परितः अनुशीलन से यही पता चलता है कि कबीर किसी के मुरीद नहीं थे। जिस अर्थ में लोग शेख तकी को कबीर का पीर कहते हैं उस अर्थ में तो स्वामी रामानन्द भी उनके गुरु नहीं माने जा सकते। रामानन्द का दीक्षा-मंत्र तो 'रां रामाय नमः' था। उन्होंने कबीर को केवल 'राम राम कह' का मंत्र दिया था। शायद कबीर 'गुरु विन चेला ज्ञान न लहै' की भावना से प्रेरित होकर किसी गुरु की खोज में थे, जो उन्हें रामानन्द के रूप में मिला।

कुछ भी हो, कबीर किसी सूफ़ी या शेख के मुरीद नहीं थे। उनके शेख का वही तात्पर्य है जो सूफ़ियों के शेख का है। सूफ़ी लोग शेख, मीर और काज़ी को उपहास की दृष्टि से देखते हैं। वे उनका खूब उपहास करते हैं। वे चुटकियां ले-लेकर उन्हें 'प्रेम-पीर' की दीक्षा देना चाहते हैं। यह कहा जाता है कि रामानन्द के निधन के पश्चात् कबीर ने जिज्ञासा से प्रेरित होकर सूफ़ियों

का भी सत्संग किया। उसी समय मुसलमानों ने उन्हें अपनाने का प्रयत्न किया और सम्भवतः वे अपने प्रयत्न में किसी सीमा तक सफल भी हुए, परन्तु अन्ततोगत्वा उधर कबीर के सिद्धान्तों को ठेस पहुँची और मुड़ते हुए वे पुकार उठे—

तुरकी धरम बहुत हम खोजा, बहु बजगार करैं ए बोधा।
गाफिल गरब करैं अधिकाई, स्वारथ अरथि बधैं ए गाई॥

शायद इसी खोज के बीच शेख तकी से कबीर की भेंट हुई होगी। इसमें तो सन्देह नहीं कि शेख तकी कोई प्रसिद्ध व्यक्ति थे, किन्तु कबीर ने जिस रूप में शेख़ तकी का नाम लिया है उसमें उनकी श्रद्धा नहीं दीख पड़ती। इस विषय में स्वर्गीय पं० रामचन्द्र शुक्ल का यह कथन ठीक ही प्रतीत होता है कि कबीर ने शेख तकी का नाम तो लिया है, पर उस आदर के साथ नहीं जिस आदर के साथ गुरु का नाम लिया जाता है, जैसे—'घट-घट है अविनासी, सुनहु तकी तुम शेख'। इस उक्ति में तो कबीर ही शेख तकी को उपदेश देते जान पड़ते हैं।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि कबीर 'सत्संगी पुरुष' थे। वे हिन्दू या मुसलमान किसी भी सत्पुरुष से मिलते थे। उन्होंने मुसलमान फ़क़ीरों का सत्संग भी किया था, इसका उल्लेख उन्होंने स्वयं भी किया है। वे उन अनेक स्थानों में, जहाँ मुसलमान फ़क़ीर रहते थे, घूमे-फिरे थे। झूंसी, जौनपुर और मानिकपुर उन दिनों मुसलमान फ़क़ीरों के प्रसिद्ध स्थान थे और कबीर ने उन सब की यात्रा की थी। सारग्राही होने के नाते सब की बातों का संचय करके भी वे कूड़ा-ककंट लेने को तैयार नहीं थे। उनके सिद्धान्तों की कसौटी पर जो वचन पूरे उतरते थे, उन्हीं को वे लेने के लिए तैयार थे अन्यथा वे किसी को भी ज्ञानी या बड़ा मानने को तैयार न थे। वे सब को अपना ही वचन मानने को कहते थे। अतएव कबीर किसी शेख या सूफ़ी के मुरीद न थे। हां, वे उनके सत्संग से लाभ उठाने वाले प्राणी अवश्य थे।

इस विवेचन से कबीर-पंथियों के मत का फैसला हो जाता है। न तो वे 'निगुरा' थे और न शेख तकी के मुरीद ही। कबीर रामानन्द के शिष्य थे। अन्तःसाक्ष्य और बहिःसाक्ष्य, दोनों आधारों पर यही मत अधिक तर्कसंगत और

ठीक प्रतीत होता है। यह ठीक है कि कबीर ने अपनी बानियों में कहीं भी रामानन्द के नाम का निर्देश नहीं किया, किन्तु क्या यह उचित है कि इसी आधार पर उनको रामानन्द के शिष्यत्व से वंचित कर दिया जाये? कुछ सामाजिक क्षेत्रों में जिस प्रकार स्त्रियां अपने पति का नाम नहीं लेती थीं उसी प्रकार शिष्य भी अपने गुरु का नाम नहीं लेते थे। अतएव आदर, कृतज्ञता और शिष्टाचार की रक्षा के लिए कबीर ने भी अपने गुरु का नामोल्लेख नहीं किया तो विस्मय की क्या बात है? कबीर की समस्त विचार-धारा एक मौलिक आयोजना होते हुए भी रामानन्द से प्रभावित है। रामानन्द का गुरुत्व ही इसका कारण है।

सतगुरु—

यह ठीक है कि कबीर ने 'राम-नाम' की दीक्षा रामानन्द से ली थी और रामानन्द के विचारों का कबीर पर गहरा प्रभाव था, किन्तु यह प्रश्न भी तो उठ खड़ा होता है कि कबीर का विद्या-गुरु कौन था और 'सतगुरु' शब्द से उनका क्या अभिप्राय था?

जहाँ तक कबीर के विद्याध्ययन और पुस्तक-ज्ञान का संबंध है उसमें वे बिल्कुल कोरे थे। इस तथ्य को उन्होंने स्वयं स्वीकार किया है :—

विद्या न परउ वाद नहि जानउ

अतएव कबीर के विद्या-गुरु के सम्बन्ध में उठे हुए प्रश्न का उत्तर तो स्पष्ट हो जाता है कि जब उन्होंने अध्ययन ही नहीं किया था तो अध्यापक कहाँ से आया? इसका अभिप्राय यह नहीं है कि उन्होंने किसी पाठशाला या मदरसा में जाकर अध्ययन नहीं किया था या पुस्तकें नहीं पढ़ी थीं या वे कुछ जानते ही नहीं थे। यह न भूल जाना चाहिए कि कबीर मनस्वी थे। जो कुछ बाहर देखते थे उस पर विचार और मनन करते थे। इस प्रकार समाज और जीवन के सम्बन्ध में कबीर का गहन अध्ययन था। उनकी अन्तर्दृष्टि बड़ी पैनी थी। इसीलिए वे युग-द्रष्टा का सम्मान प्राप्त कर सके।

कबीर का 'सतगुरु' शब्द उनके व्यक्तित्व की भाँति ही विलक्षण है। मेरी समझ में इस शब्द का प्रयोग उन्होंने 'अलख राम' के लिए किया है। कबीर

का सतगुरु 'ग्राज़ाद' या 'बेसरा' सूफ़ियों के गुरु-जैसा है। उनमें प्रायः लोग ऐसे होते हैं जिनको अलख या अलग़ैब से शिक्षा मिलती है। कबीर ने अनेक स्थलों पर अपने ऐसे ही गुरु का निदर्शन किया है। एक स्थान पर वे कहते हैं—

कबीरा तालिब तोरा, तहाँ गोपत हरी गुर मोरा।

एक दूसरे स्थान पर वे इसी भाव को इन शब्दों में व्यक्त करते हैं :—

तुम्ह सतगुर मैं नौतम चेला, कहै कबीर रांम रमूं अकेला।

एक तीसरे स्थान पर कबीर का गुरु इन शब्दों में व्यक्त होता है :—

कबीर पंगुड़ा अलह राम का, हरि गुर पीर हमारा।

यहाँ यह कह देना अनुचित न होगा कि कबीर की बानियों में ऐसे अनेक उद्धरण मिल सकते हैं जिनसे यह ध्वनित होता है कि यदि कबीर से कोई उनके गुरु के सम्बन्ध में पूछता तो वे कुछ चिढ़ जाते थे। कदाचित् उनका यह प्रश्न किसी ऐसे ही प्रश्न का उत्तर है :—

मुरसिद पीर तुम्हारै है को, कहौ कहाँ थैं आया ?

इस प्रश्न में तो किसी मुसलमान प्रश्न-कर्त्ता को उत्तर दिया गया है। अब एक पंडित को दिये हुए उत्तर को देखिए :—

जाइ पूछौ गोविन्द पढ़िया पंडिता तेरा कौन गुरू कौन चेला।

कबीर की इस मनोवृत्ति का कोई न कोई कारण अवश्य रहा होगा। वे यथार्थ उत्तर देने में या तो कोई आपत्ति समझते थे या उनका कोई वास्तविक गुरु न था, किन्तु उन्होंने अपने मत की आयोजना एवं प्रचार किस की प्रेरणा से किया—यह एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न है। कबीर जब यह कहते हैं कि "मोहि आज्ञा दई दयाल दया करि, काहू कूं समझाइ। कहै कबीर मैं कहि-कहि हारचौ अब मोहि दोप न लाई", तो यह स्पष्ट हो जाता है कि उनको जिस 'दयाल' से आज्ञा मिली है वही उनका 'सतगुरु' है। वह प्रेरक हरि है क्योंकि एक अन्य साखी में कबीर ने स्पष्ट कह दिया है—

हरि जी यहै बिचारिया, साषी कहौ कबीर।
भौ सागर में जीव हैं, जे कोई पकड़ै तीर॥

इसके अतिरिक्त एक अन्य साखी में कबीर ने राम को स्पष्टतः अपना

'सतगुरु' कह कर समस्या सुलझा दी है। वे कहते हैं—

राम मोहि सतगुरु मिले, अनेक कलानिधि, परम तत्त सुखदाई

गुरु-सम्बन्धी विवेचन के आधार पर यह निष्कर्ष निकालना उचित ही है कि कबीर "निगुरा' नहीं थे। उनके गुरु रामानंद थे। उन्हीं से कबीर ने राम-नाम की दीक्षा ली थी। वे पढ़े-लिखे बिल्कुल न थे, अतएव उनके संबंध में किसी विद्या-गुरु की कल्पना व्यर्थ है। उन्होंने राम, हरि आदि शब्दों से अपने 'सतगुरु' की ओर संकेत किया है। इन शब्दों से यह भी स्पष्ट है कि उनका सतगुरु परमात्मा से अभिन्न है।

शिष्य—

कबीर की वाणियों में अनेक ऐसी हैं, जिनमें गुरु-महिमा का निरूपण है। वे गुरु और परमात्मा को अभिन्न मानते हैं। जिस व्यक्ति की अपनी निजी धारणा ऐसी रही हो, उसके पंथ में भी गुरु का पद अवश्य सुरक्षित रहा होगा। अवश्य ही अपनी शिष्य-परम्परा में कबीर ने बड़ा आदर पाया होगा। भक्त-परम्परा के आधार पर बिजलीखाँ, धर्मदास, वीरसिंह बघेला, सुरतगोपाल, जीवा, तत्त्वा, जागूदास आदि कबीर के शिष्य थे। उनकी बानी में इन शिष्यों का उल्लेख नहीं है। हाँ, अनन्तदास कृत 'परचई' में वीरसिंह बघेला के नाम का उल्लेख अवश्य मिला है। कबीर के हिन्दू-शिष्यों में दो बहुत प्रसिद्ध हैं—धर्मदास और सुरतगोपाल।

धर्मदास जाति से बनिया थे। वे मूर्ति-पूजक थे। कबीर और धर्मदास की भेंट सबसे पहले काशी में हुई थी। इसके बाद वे वृन्दावन में मिले। मूर्ति-पूजा के पक्ष में होने के कारण कबीर ने अपनी पहली भेंट में ही धर्मदास को काशी में खूब फटकारा। वृन्दावन में साधु-मण्डली में कबीर का उपदेश धर्मदास ने भी सुना। उस समय वे कबीर को पहिचान न पाये और बोले—"आपके से उपदेश मैंने काशी में भी किसी महात्मा के मुख से सुने थे"। इस बार धर्मदास की श्रद्धा उमड़ पड़ी और मूर्ति को पानी में डाल दिया। तीसरी बार कबीर स्वयं उनके घर बांधोगढ़ गये और कहा—"जो पत्थर तुम्हारे तौलने के बाट हैं, तुम उन्हीं की पूजा करते हो"। इस उक्ति का धर्मदास पर बहुत प्रभाव पड़ा और उन्होंने कबीर को अपना गुरु मान लिया। कबीर की मृत्यु के

बाद धर्मदास ने कबीर-पंथ की एक शाखा छत्तीसगढ़ में चलाई और सुरत-गोपाल ने काशी वाली शाखा का काम सँभाला। कुछ लोगों का मत यह भी है कि कबीर के एक शिष्य भगवानदास भी थे जिन्होंने बिहार-शाखा की प्रस्थापना की। धीरे-धीरे इन शाखाओं में मत-भेद हो गया, किन्तु धर्मदासी आदि अनेक कबीर-पंथी शाखाओं में कबीर का समादर पैग़म्बर की भाँति होता रहा।

देशाटन—

कबीर न तो घुमक्कड़ ही थे और न तीर्थाटन में ही उनकी रुचि थी। तीर्थाटन और हज को वे बिल्कुल निस्सार मानते थे। अतएव यह समझना तो भूल है कि वे तीर्थ-यात्रा के सम्बन्ध से इधर-उधर घूमे होंगे, किन्तु यह बात अमान्य नहीं है कि उनको सत्संग में अधिक रुचि थी और वे हिन्दू, मुसलमान किसी भी साधु के दर्शन को अपना सौभाग्य समझते थे। उनकी दृष्टि में साधु-संगति के सिवा तीर्थों का और कोई महत्त्व नहीं था। संत-जन कबीर के तीर्थ थे और सत्संग तीर्थ-यात्रा। वे कहते हैं—

मथुरा जावै द्वारिका, भावै जा जगनाथ।
साध-संगति हरि-भगति बिन, कछू न आवै हाथ॥

कबीर तीर्थों के ही महत्त्व का अवमूलन नहीं करते हैं, वरन् काबे की यात्रा को भी व्यर्थ बतलाते हैं और कहते हैं—

सेख सबूरी बाहिरा, क्या हज कावै जाइ।
जाकी दिल साबित नहीं, ताकउ कहाँ खुदाइ॥

इसका अभिप्राय यह नहीं है कि यदि कबीर ने तीर्थों को कोई महत्त्व नहीं दिया तो देशाटन भी नहीं किया। यह तो अन्यत्र कहा ही जा चुका है कि कबीर पढ़े-लिखे नहीं थे, किन्तु उनकी बानियों में विभिन्न धर्मों और सम्प्रदायों के अनेक वर्णन मिलते हैं। उनका ज्ञान कबीर को कहाँ से हुआ? सत्संग से ही न। स्पष्टतः सत्संग के दो ही साधन थे—एक तो यह कि उनके पास हर धर्म और सम्प्रदाय के लोग आते रहते थे और दूसरा यह कि वे स्वयं सन्त-समागम के हेतु देशाटन करते थे। कबीर को सत्संग-लाभ दोनों ही साधनों से हुआ। उनकी अनेक बानियों में पर्यटक की पैनी दृष्टि का परिचय मिलता है।

उनके कुछ शब्द तो इतने स्पष्ट हैं कि उनको पढ़ने के बाद यह सन्देह नहीं रह जाना चाहिए कि कबीर ने देशाटन नहीं किया था। इसके अतिरिक्त अनेक किवदन्तियों और विभिन्न साहित्यिक एवं ऐतिहासिक विवरणों से भी यही प्रमाण मिलते हैं कि कबीर ने देश-देशांतरों में भ्रमण किया था। भ्रमण करने में उनका उद्देश्य तीर्थ-यात्रा, हज या केवल पर्यटन मात्र नहीं था। वे तो सत्संग के द्वारा सत्य की खोज करने के लिए इधर-उधर घूमते रहते थे। कबीर के एक पद की नीचे उद्धृत पंक्तियों से उनकी यात्राओं का अभिप्राय संकेतित हो जाता है :—

वृन्दावन ढूंढ्यो, ढूंढ्यो हो जमुना के तीर।
राममिलन के कारनैं, जग खोजत फिरै कबीर॥

'कबीर मंसूर' ग्रन्थ के अनुसार कबीर बग़दाद, बुखारा और समरकन्द भी गए थे। कबीर की अपनी निजी बानी से तो यह भी प्रकट होता है कि वे मक्का-मदीना भी गये थे। उन्हीं की एक पंक्ति देखिए—

कबीर हज काबे होइ, होइ गइया केती बार कबीर।

इसके अतिरिक्त कबीर की और भी कितनी ही पंक्तियाँ हैं जो यह सिद्ध करती हैं कि उन्होंने देशाटन खूब किया था। "बनि-बनि फिरौं उदासी" तथा "फाटै दीदै मैं फिरौं, नजर न आवै कोइ" आदि वाक्यों से भी कबीर की भ्रमण-लालसा एवं अटन-उत्कंठा का परिचय मिलता है।

किवदंतियाँ—

कबीर का व्यक्तित्व एक महापुरुष का व्यक्तित्व था और उनकी शिष्य-परम्परा में उनको विस्मय-जनक सम्मान मिला। उनकी महिमा के प्रसार के लिए शिष्य-वर्ग ने जो किवदन्तियाँ प्रचलित कर दीं उनमें परोक्षतः किसी तथ्य की गवेषणा अवश्य की जा सकती है। इनको स्थूल रूप से छै भागों में बांट सकते हैं—जन्म से सम्बन्धित, पत्नी से सम्बन्धित, पुत्र-पुत्री से सम्बन्धित, गुरु से सम्बन्धित, कबीर के व्यक्ति-गत चमत्कारों से सम्बन्धित और मृत्यु से सम्बन्धित।

कबीर के जन्म से सम्बन्धित किवदन्तियों में तीन बहुत प्रसिद्ध हो चुकी हैं। उनमें से एक है कि काशी में एक सात्त्विक ब्राह्मण रहते थे जो स्वामी

रामानन्द के परम भक्त थे। उनकी एक विधवा पुत्री थी। उसे साथ लेकर एक दिन वे स्वामी जी के आश्रम पर गये। प्रणाम करने पर स्वामी जी ने उसे पुत्रवती होने का आशीर्वाद दिया। ब्राह्मण ने चौंककर जब पुत्री का वैधव्य प्रकाशित किया तो स्वामी जी ने सखेद कहा कि मेरा वचन तो अन्यथा नहीं हो सकता, परन्तु इतने से सन्तोष करो कि इससे उत्पन्न पुत्र बड़ा प्रतापी होगा। आशीर्वाद के फल-स्वरूप जब उस युवती ने पुत्र को जन्म दिया तो वह लोक-लज्जा और लोकापवाद के भय से उसे 'लहर तालाब' के किनारे डाल आई। भाग्यवश कुछ ही क्षण के पश्चात् नीरू नाम का एक जुलाहा अपनी स्त्री नीमा के साथ उधर से आ निकला। इस दम्पति के कोई पुत्र न था। बालक के रूप ने उनके हृदय को लुभा लिया। वे उसे उठा ले गये और इसी बालक का भरण-पोषण कर वे पुत्रवान् हुए। इसी का नाम कबीर रखा गया। इस किंवदन्ती में रामानन्द के आशीर्वाद वाली बात के सिवा कोई सिर-पैर नहीं।

कबीर के जन्म से सम्बन्धित दूसरी किंवदन्ती यह है कि कबीर का जन्म विधवा ब्राह्मणी की हथेली से हुआ था, इसीलिए वे करबीर या कबीर कहलाये। यह कथा कबीर-पंथियों की जोड़ी हुई ज्ञात होती है। प्रबल प्रमाणाभाव के आधार पर इसे सत्य-रूप में ग्रहण नहीं किया जा सकता।

तीसरी किंवदन्ती यह है कि जेठ की पूर्णिमा थी। आकाश नव मेघों से आच्छादित था। रह-रह कर चमचमाती हुई चपला अपना प्रभाव दिखा रही थी। समस्त प्रकृति किसी दिव्य प्रकाश के अवतरणार्थ खिलखिलाकर हँस रही थी। ऐसे ही समय काशी के लहर तालाब में खिले हुए एक कमल पर आकाश से एक महापुरुष उतरा। इसी ने कुछ घड़ियों के अनन्तर शिशु के रूप में नीमा के अंक को सुशोभित किया। इसके पक्ष में भी कोई प्रमाण नहीं है, मन-गढ़न्तमात्र है। कबीर के लौकिक होने की बात कबीर के उपासकों को प्रिय न लगी। उन्होंने अपने आदि-पुरुष को जन्म-मरण के कष्टों से अतीत सिद्ध करने के लिए उनके जन्म को अलौकिक बना दिया। उनको याद था कि ब्रह्मा भी कमल से उत्पन्न हुए थे, अतएव कबीर के जन्म को भी कमल से जोड़ने में उन्हें किसी कठिनाई का सामना न करना पड़ा।

पत्नी से संबंधित किंवदन्तियों में अधिक प्रचलित 'लोई' वाली है जिसका वर्णन इसी पुस्तक में अन्यत्र किया जा चुका है।

उनके पुत्र और पुत्री कमाल और कमाली से संबंधित एक किंवदन्ती है। कुछ लोगों का मत है कि कमाल और कमाली कबीर के औरस पुत्र-पुत्री थे। कबीर-पंथियों का कहना है कि वे दोनों कबीर की सन्तान नहीं थे, वे किसी अन्य गृहस्थ के पुत्र-पुत्री थे। संयोग-वश दोनों की मृत्यु हो गई और वे एक स्थान पर डाल दिये गये। कबीर ने अपनी अलौकिक शक्ति से उन दोनों को पुनर्जीवित कर दिया और तभी से वे उनकी सन्तान कहलाने लगे। इस सम्बन्ध में भी कोई प्रामाणिक सामग्री उपलब्ध नहीं है।

कबीर के सम्बन्ध में एक किंवदन्ती रामानन्द विषयक है। कहते हैं कि रामानन्द ने कबीर को अपना शिष्य बनाने से मना कर दिया था क्योंकि उनका पोषण एक जुलाहा-परिवार में हुआ था, किन्तु कबीर में सच्ची लगन थी। उन्होंने एक युक्ति सोची। एक दिन ब्राह्म मुहूर्त में वे पंच-गंगा-घाट की उन सीढ़ियों पर जाकर लेट गये जिन से रामानन्द जी गंगा-स्नान करने जाया करते थे। नित्य की भाँति स्वामी जी सीढ़ियों से उतर रहे थे कि कबीर के सिर पर उनके पैर की ठोकर लगी। स्वामी जी ने 'राम-राम' कह कर अपना पैर हटा लिया और चले गये। कबीर ने इसी 'राम-राम' को गुरु-मंत्र मान लिया और स्वामी जी को अपना गुरु घोषित कर दिया। स्वामी जी ने जब कबीर से पूछा तो उन्होंने घाटवाली घटना निश्छल होकर सुना दी। रामानन्द जी ने गद्‌गद होकर कबीर को कंठ से लगा लिया।

इसमें तो सन्देह की कोई बात ही नहीं कि कबीर रामानन्द के शिष्य थे, और हो सकता है कि इस किंवदन्ती में भी कोई सत्य हो। कबीर-पंथी तो इसे सत्य मानते ही हैं।

कबीर की उदारता से संबंधित भी अनेक किंवदन्तियां हैं। कहते हैं कि एक बार वे एक थान बुनकर बाजार में बेचने ले गये। कुछ ही दूर जाने पर एक आदमी ने गिड़गिड़ाकर उनसे कुछ माँगा। उन्होंने तुरन्त आधा थान फाड़कर उसको दे दिया, किन्तु उसके यह कहने पर कि यह तो कम है, कबीर

ने बचा हुआ आधा थान भी उसे दे दिया।

कबीर के सन्त-स्वभाव के सम्बन्ध में भी कुछ किंवदन्तियां चली आ रही है। एक बार की बात है कि कबीर के यहां बहुत से साधु आ गये। उनके स्वागत के लिए घर पर कुछ भी न था। वे बड़े व्यग्र थे। वे उनके भोजनादि का प्रबन्ध कहां से करें, यह उनके सामने एक समस्या थी। लोई ने उन्हें दुखी देखकर उनसे साहूकार के पास जाने की आज्ञा मांगते हुए कहा—"साहूकार मुझ पर आसक्त होने के कारण मेरी बात नहीं टाल सकता। मैं शीघ्र ही उससे रुपये ला सकती हूं।" कबीर से आज्ञा मिलने पर लोई रुपये लेने चली गई। साहूकार के बेटे से, शाम को आने का वचन देकर, वह रुपये लेकर लौट आई। यहां उसने कबीर को सारा समाचार कह दिया। शाम होते ही आकाश गरजती हुई काली घटाओं से घिर गया और मूसलाधार पानी बरसने लगा, किन्तु कबीर ने लोई के वचनों की रक्षा के निमित्त उसे कम्बल उढ़ाकर उसी समय साहूकार के घर पहुँचा दिया। साहूकार ने जब लोई को भीगा न देखा तो आश्चर्य से पूछा—"पानी से बचकर कैसे आई" ? लोई ने सब बात बता दी। सुनते ही साहूकार का मद गलित हो गया। वह कबीर के पैरों पर गिर कर गिड़-गिड़ाने लगा।

कबीर और सिकन्दर लोदी से संबंधित भी एक किंवदन्ती है। कहा जाता है कि काज़ी ने कबीर को काफ़िर घोषित कर दिया और मृत्यु-दण्ड की आज्ञा दे दी। बेड़ियों से जकड़े हुए कबीर नदी में फेंक दिये गये, किन्तु जिन कबीर को मोह-माया की शृंखला न बांध सकी थी, जिनकी पाप की बेड़ियां कट चुकी थीं, उन्हें ये जंजीरें भी बाँधे न रख सकीं और वे तैरते हुए नदी-तट पर आ खड़े हुए। फिर काज़ी ने उन्हें दहकते हुए अग्नि-कुण्ड में डलवाया, किन्तु उनके प्रभाव से आग बुझ गई और कबीर की दिव्य-देह पर आँच तक न आई। इसके बाद उनको मस्त हाथी के सामने छोड़ा गया, किन्तु पास पहुँच कर हाथी उन्हें नमस्कार करके चिंघाड़ता हुआ भाग खड़ा हुआ।

कबीर की मृत्यु के अवसर पर शव को जलाने और दफ़नाने के प्रश्न को लेकर हिन्दू-मुसलमानों में झगड़ा खड़ा हो गया। एक पक्ष के नेता रींवा के

वीरसिंहदेव बघेला और दूसरे के नवाब बिजलीखाँ थे। इसी समय आकाश-वाणी हुई बताई जाती है। जब कबीर के शव पर से चादर उठाई गई तो शव के स्थान पर कुछ फूल पड़े मिले जिनको हिन्दू-मुसलमान दोनों ने आधा-आधा बाँट लिया। अपने हिस्से के फूलों को हिंदुओं ने जलाया और उनकी राख को काशी ले जाकर समाधिस्थ किया। वह स्थान अब तक कबीर-चौरा के नाम से प्रसिद्ध है। अपने हिस्से के फूलों के ऊपर मुसलमानों ने मगहर ही में कब्र बनाई।

इन किंवदन्तियों में से कुछ तो सत्यता को लिए हुए हैं, किन्तु कुछ भावना और कल्पना के आधार पर निर्मित हैं। किंवदन्तियों का कोई ऐतिहासिक मूल्य चाहे कुछ भी न हो किन्तु भावना के इन रंगों में कबीर के चरित्र के कुछ पहलू अवश्य सुरक्षित हैं। भावना के दूसरे पक्ष में कबीर के अनुयायियों के गुरु-विषयक आदर्श का अवलोकन भी किया जा सकता है।

व्यक्तित्व

कबीर अपने समय के सच्चे प्रतिनिधि थे। उनका वास्तविक रूप साधक का था। वे एक ही साथ निर्भीक, स्पष्टवादी और विनीत थे। दम्भ और पाखंड उनको प्रिय नहीं थे। अहंकार और अनाचार उनको बुरे लगते थे। भीतों और पीड़ितों को भक्ति का आकर्षण देकर वे उन्हें प्रेरणा और प्रोत्साहन देते थे। वे लोक-जीवन के अति निकट थे। सामान्य व्यक्ति को उनका व्यक्तित्व अति सामान्य प्रतीत होता है। इसी में उनकी 'सन्तता' निहित है जो उनके व्यक्तित्व की सरलतम अवस्था है। इसके अतिरिक्त वे स्वतंत्र चिंतक भी थे। उनका गंभीर चिन्तन उनकी वाणी में कभी-कभी इतना निगूढ़ हो गया है कि वह अद्भुत और विचित्र प्रतीत होता है—इतना निगूढ़ कि अच्छे-अच्छे विचारक

तक उसकी गहराई में गोते लगा कर उसके समझने में असफल रहते हैं। यदि यह कह दिया जाय कि कबीर अपने 'राम' की भाँति ही साधारण बुद्धि के परे की वस्तु हैं तो कुछ अत्युक्ति न होगी। जिस प्रकार कबीर ने अनेक शब्दों में अपने राम का विश्लेषण करने का प्रयत्न किया है, उसी प्रकार उनके अनेक विद्यार्थियों ने उनके व्यक्तित्व की गवेषणा करने की चेष्टा की है, किन्तु 'इत्थमिदं' कह कर कोई उसकी 'इति' पर पहुँचने का दावा नहीं कर सका। उनको भक्त, ज्ञानी और योगी के व्यक्तित्व में देखकर आलोचक अपनी-अपनी कह गये हैं। किसी ने उनके 'भक्त-स्वरूप' को और किसी ने 'ज्ञानी-रूप' को ही देख कर अपना एकांगी मत स्थिर कर लिया है। न भक्ति, न योग और न ज्ञान ही कबीर के पूर्ण व्यक्तित्व को व्यक्त कर सका है। अक्खड़, फक्कड़ और मस्तमौला शब्दों से भी उनके व्यक्तित्व का पाक्षिक दर्शन ही हो पाता है। समाज-सुधारक का रूप भी कबीर के व्यक्तित्व को सम्पूर्ण रूप में व्यक्त नहीं कर सकता। हाँ, 'सन्त' शब्द अवश्य ऐसा है जो सम्पूर्ण कबीर को हमारे सामने रख देता है।

जिसने कबीर को ज्ञानी, भक्त आदि किसी एक रूप में देखा है वह उनकी वाणियों में से ही इस सम्बन्ध में उपर्युक्त तर्क और उद्धरण दे सकता है किन्तु जो उनको 'सन्त-महात्मा' कह कर चुप हो जाते हैं वे चाहे कबीर के व्यक्तित्व का विश्लेषण न कर सकें किन्तु उसके सम्बन्ध में कोई भ्रांति नहीं फैला सकते।

कबीर का व्यक्तित्व जितना गूढ़ प्रतीत होता है उतना ही सरल था और जितना सरल दीखता है उससे कहीं अधिक गूढ़ था। जिस प्रकार नारियल या बादाम को ऊपर से देख उसके भीतरी स्वरूप का विश्लेषण नहीं किया जा सकता, उसी प्रकार कबीर के बाह्य रूप को देखकर, उनकी भर्त्सनामयी कठोर वाणी को पढ़कर, उनके कोमल दयालु अन्तर का अनुमान नहीं लगाया जा सकता। सच तो यह है कि वे एक सन्त, ऊँचे दर्जे के महात्मा थे। इसलिए उनके व्यक्तित्व की सीमाओं में सरल और गूढ़, दोनों रेखाओं का अनूठा मिलन है। ठीक है कि वे पढ़े-लिखे नहीं थे किन्तु कबीर द्वारा प्रयुक्त अनगढ़ शब्द उनके व्यक्तित्व का सही मूल्य नहीं आंक सकते। कबीर को शब्दों में खोजना असम्भव है। उन्हें उनको (शब्दों की) प्रवृत्ति, अर्थात् अभिव्यञ्जना-क्षमता में ही ढूंढ़ा

जा सकता है। उनके शब्दों में कहीं-कहीं बड़ी गंभीर ध्वनि भरी मिलती है, जिसमें उनकी गहन अनुभूति का विलास दृष्टिगोचर हो जाता है। कहीं-कहीं यह समझना बहुत आवश्यक नहीं होता कि अमुक शब्द का क्या अर्थ है ? अपितु यह जानना बहुत आवश्यक हो जाता है कि अमुक शब्द की पृष्ठ-भूमि क्या है ? यह समझने के पश्चात् कबीर का अन्तर अगोचर नहीं रहता। इसी समझ में महात्मा कबीर का परिचय निहित है।

कबीर जागरूक, चिन्तक और निष्पक्ष आलोचक थे। ये गुण इतने मूल्यवान् नहीं, जितनी उनकी निर्भीकता है। उनकी वाणी में जो कर्कशता, रूखापन और भर्त्सना का भाव दिखाई देता है उसका कारण है—उनका मानव-प्रेम, दयालुता और ईमानदारी। बाह्याडम्बरों के प्रति उनकी वाणी ने जो प्रतिक्रियात्मक रूप ग्रहण किया, उसमें उनकी ईमानदारी की ही प्रेरणा है। जिस वाणी में प्रतिक्रिया है उसी में क्रांति टँकी हुई होती है। उनकी निर्भीक अटूट शक्ति, देश, धर्म, समाज, दर्शन और साधना में क्रांति की धारा प्रवाहित करने में तत्पर प्रतीत होती है।

मानव-एकता के परिपोषक कबीर न सुधार में मिलते हैं और न मत-प्रवर्तन में। वे रूढ़ियों के विरोधी किन्तु धर्म-भीरु व्यक्ति हैं। अन्ध-विश्वासों के प्रति उन्हें घृणा है और सद्वृत्ति और सदाचार के प्रति उनकी आस्था है। वे निष्पक्षता के समर्थक और निःशंकता के प्रेरक हैं। वे श्रद्धावान् शिष्य और गुरु हैं। उनका 'गुरु भाव' कहीं प्रखर नहीं हुआ। वे प्रेम के प्रचारक और नीति के संस्थापक हैं। वे धन के संग्रह और परिग्रह की निन्दा करते हैं क्योंकि धन का संचय एक करता है और वह काम दूसरे के आता है।

वेद और कुरान के अंध-पाठ में कबीर का बिल्कुल विश्वास नहीं है। वे अंध-पाठ की निंदा करते हैं, किन्तु उनके भीतर जो सत्य निहित है, जिस अनुभव की वे व्यंजना है, उसकी निंदा उन्होंने कभी नहीं की। रोजा और व्रत में कबीर को दंभ दीखता है। सच्चा रोजा और व्रत तो मन की पवित्रता है। तीर्थों के प्रति भी कबीर की आस्था नहीं है। इन सबमें कबीर को धर्म-साक्षात्कार नहीं होता। इन सब के मूल में जो रहस्य है, उसको पा लेना ही धर्म है। सत्संग,

विवेक, मन की पवित्रता आदि में धर्म-दर्शन हो सकता है।

कबीर संसार त्यागने की बात कहते हैं, ऐसी बात नहीं है। कभी-कभी उनकी वाणियों की तह में न पहुँचने के कारण आलोचक लोग उनका मनमाना अर्थ कर डालते हैं और ऐसी ही किसी झोंक में वे कबीर को पलायन-वादी भी कह देते हैं। वे न तो वल्कल-वसन पहनने के समर्थक हैं और न बन-खंड में तप करने के ही पक्ष में हैं। फिर उनका 'पलायन वाद' (यदि कोई है भी तो) उन्हें कहाँ ले जा सकता है? वे इस जगत् में रहकर भी उसके प्रति आसक्त नहीं होते। यह अनासक्त भाव उनकी वैराग्योक्तियों का मूल स्वर है।

यदि वे 'पलायन वादी' (शब्द के प्रचलित अर्थ में) होते तो अपने व्यवसाय को छोड़ कर भी भाग जाते, किन्तु ऐसी बात नहीं है। वे श्रम-जीवी थे। जो व्यवसाय उन्हें उत्तराधिकार के रूप में मिला था, उसका उन्होंने परित्याग नहीं किया। अपनी अर्जना को वे अपने परिवार के भरण-पोषण और साधु-सेवा में व्यय करते थे। पलायन वादी पराश्रय में भागता है। कबीर भागने वाले नहीं थे। वे जीवन की हर परिस्थिति का सामना कर सकते थे। आत्म-विश्वास और आत्म-निर्भरता के कारण व्याकुलता उनको छू तक नहीं पाती थी। साधु-सेवा और त्याग उनके व्यक्तित्व के भूषण थे। मां और पत्नी का विरोध भी उनको इस संबंध में विचलित नहीं कर सकता था। एक ओर उनकी उदारता थी और दूसरी ओर सहिष्णुता, एक ओर रुचि थी और दूसरी ओर विरोध। विरोध उनको कभी झुका नहीं सकता था। दुनिया की बातें सुनकर भी वे करते अपने मन की ही थे। उनकी मानसिक शक्ति ने उन्हें चट्टान बना दिया था, जिसमें केवल निश्चलता ही नहीं, कोमलता भी थी। कबीर के व्यक्तित्व के ये दो विरोधी तत्त्व ही उन्हें गूढ़ बना देते हैं।

कबीर मस्त और मनमौजी थे। जो धुन समाई वही कह डाला। भावों का दबाना मानों उन्होंने कभी सीखा ही नहीं था। सत्य का पुजारी निर्भीक तो होता ही है, अक्खड़ भी होता है। कबीर भी सत्य के पुजारी थे। उनके सत्य ने न तो कभी दबने का प्रयत्न किया और न उन्होंने कभी उसे दबाने का ही। सत्य उनका गुरु था और सत्य ही ब्रह्म भी। वे अपने को भी सत्य से भिन्न

नहीं समझते थे। उनकी आत्मा सत्य-रूप थी।

वे अनासक्त योगी और ईश्वरासक्त भक्त थे। उनके ईश्वर-प्रेम में 'खालिक' और 'ख़ल्क' दोनों समाविष्ट थे। 'ख़ल्क' के प्रति उनका प्रेम अहिंसा का पोषक था। सत्य के अन्वेषक के नाते वे पूर्वमान्यताओं को महत्त्व नहीं देते थे। बुद्धि और अनुभव की कसौटी पर सही उतरने पर ही कोई मान्यता कबीर से प्रतिष्ठा प्राप्त कर सकती थी। किसी भी अप्रतिष्ठित मान्यता की वे धज्जियाँ उड़ाने में समर्थ थे। उनके पास बुद्धि थी और वाक्शक्ति भी। उनके कण्ठ से जो आलोचना निकलती थी वह बड़ी स्पष्ट और तीव्र होती थी। उनकी बुद्धि अनुभव को स्वीकार करती थी, इसीलिए शास्त्र-चर्चा से वह कभी परास्त नहीं हुई।

कबीर को अपने समय का नेता कह सकते हैं। हाँ, नेता, एक आदर्श नेता; क्योंकि वे सत्य-प्रेमी, स्पष्टवादी, निर्भीक, अहिंसक, वक्ता और त्यागी थे। वे अलोलुप और आत्मविश्वासी थे, किन्तु निरभिमान भी थे। वे सरल, विनम्र और सदाचारप्रिय थे। कबीर उद्योगी और कर्मनिष्ठ थे। विषयों से दूर और निन्दकों से घिरे रहते थे। सर में के कमल के समान वे इस जगत् में रहते थे। डा० त्रिगुणायत के ये थोड़े से शब्द कबीर के व्यक्तित्व की बड़ी स्पष्ट झाँकी प्रस्तुत करते हैं—"सत्य के उस अनन्य उपासक में श्रेष्ठ दार्शनिक बुद्धिवादिता और चिन्ता, कट्टर क्रान्तिकारियों की क्रान्ति और कठोरता, अनन्य-भक्त की विनम्रता और प्रेमानुभूति, सच्चे आलोचक की स्पष्टवादिता, सच्चे साधु की आचरण-प्रियता, आदर्श पुरुष की कर्तव्यपरायणता, योगियों की अक्खड़ता तथा पक्के फकीर की साधना थी"।

ऐसा था कबीर का व्यक्तित्व जिसके निर्माण में समाज की परिस्थितियों और आत्म-प्रेरणा का बहुत बड़ा हाथ था। वे कभी झिझके नहीं, कभी झुके नहीं, कभी अटके नहीं, कभी भटके नहीं। वे अपनी साधना के धनी, विश्वासों के राजा और अनुभूतियों के साहूकार थे। जो मार्ग उन्होंने दूसरों को दिखाया वे उसी पर चले थे और वही उनका मुक्ति-मार्ग था। बंधन तोड़ने के लिए उन्होंने जो सरलता ढूंढ़ निकाली वही उनके मार्ग की विशेषता थी। डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने ठीक ही तो कहा है कि 'हजार वर्ष के इतिहास में कबीर जैसा व्यक्तित्व-लेखक उत्पन्न नहीं हुआ।'

समकालीन वातावरण और प्रभाव

कबीर का समय एक उथल-पुथल का समय था। उनके चारों ओर राजनीति, धर्म, समाज आदि का जो वातावरण बना हुआ था, उसी में उनके व्यक्तित्व का विकास हुआ। उस वातावरण के अनेक झोंकों से प्रताडित होकर कबीर की आँखें खुल गईं। उद्बोधन का यह काम उनकी समकालीन परिस्थितियों ने किया। उन्होंने समाज को न केवल तत्कालीन राजनीति में ही घुटा हुआ देखा, अपितु धार्मिक रूढ़ियों और विकारों में भी दलित और गलित पाया।

कबीर के व्यक्तित्व की सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि उनकी प्रतिभा में अबाध गति और अदम्य प्रखरता थी। उन्होंने एक ओर तो सामयिक परिस्थितियों का निर्भीकता से सामना किया और दूसरी ओर समाज के त्राण की दिशा में उत्साहपूर्वक अपना कदम बढ़ाया। जिस समय असंख्य लोग उस विकरालता में आँखें मीच कराह रहे थे, उस समय कबीर सदय उत्साह और सहज मन्यु से उसके बहिष्कार में संलग्न हो गये। उस समय की सामाजिक परिस्थितियों की विकटता का दायित्व केवल धर्म पर ही नहीं था बल्कि राजनीति पर भी था।

राजनीतिक वातावरण—

तुग़लक-वंश का अन्त होते-न-होते दिल्ली-सल्तनत के टुकड़े होने लगे। जौनपुर में एक नई शक्तिशाली बादशाहत की स्थापना हो गई, जिसका बिहार में भी अधिकार था, किन्तु उसकी स्वतन्त्रता अधिक दिन तक न रह सकी। मलिक-उस-शर्क (पूर्व का शासक) के उत्तराधिकारियों के समय में इस सल्तनत को बड़ा वैभव प्राप्त हो गया।

मालवा में एक खिलजी अमीर ने अपने को स्वतन्त्र घोषित कर दिया था। स्वतन्त्रता की घोषणा सन् १४०१ में हुई थी और हुसंगशाह मालवा का प्रथम

शासक बना जिसने माण्डू को अपनी राजधानी बनाया, किन्तु मालवा को वास्तविक महत्त्व का उपलाभ सुल्तान महमूद के शासन-काल से पूर्व न हो सका।

गुजरात को अलाउद्दीन खिलजी ने सन् १२९७ में ही जीत लिया था। परतन्त्रता की एक शताब्दी पश्चात् ज़फ़रख़ाँ ने सन् १४०१ में औपचारिक रूप से शाह की पदवी ग्रहण करके अपनी स्वतन्त्रता घोषित की। इसके पश्चात् गुजरात का वैभव-काल प्रारम्भ हुआ और लगभग डेढ़ सौ वर्ष तक वह भारत के अग्रणी राज्यों में से एक महत्त्वपूर्ण राज्य रहा। अहमदशाह (१४११-१४४१ ई०) ने 'अहमदाबाद' नगर बसाया और उसे सुन्दर इमारतों से विभूषित किया।

मालवा और गुजरात के मध्यवर्ती हिन्दू-राजा मालवा और गुजरात के सुल्तानों के बीच होने वाले युद्धों में पक्ष ले रहे थे। दोनों मुस्लिम शक्तियों के बीच में राजपूत राजाओं का राज्य फैला हुआ था और आबू से रणथंभौर तक के इस क्षेत्र में एक सैनिक संघ प्रतिष्ठित था जिसका नेतृत्व मेवाड़ के गुहिलौत-वंशीय राणा कर रहे थे। उनकी नीति यह थी कि दोनों सुल्तानों में एकता न होने पाये; इसलिए गुजरात को निरन्तर मेवाड़ के राणा से लोहा लेना पड़ रहा था। आबू की पहाड़ी पर निर्मित अचलगढ़ के दुर्ग ने मुस्लिम शक्ति को एक ओर से सीमाबद्ध कर दिया था।

उधर बंगाल का सूबा फ़ीरोज़ तुग़लक के समय में ही स्वतन्त्र हो चुका था, किन्तु बंगाल के स्वतन्त्र बादशाहों का वास्तविक वैभव हुसेनशाह से प्रारम्भ हुआ, जिसका वंश अकबर के समय (सन् १५७६) तक सत्तारूढ़ रहा।

देश और राजधानी पर प्रभाव—

भारतीय प्रजा अभी तक तुग़लक काल को नहीं भूली थी। यदि मुहम्मद तुग़लक को प्रजा के लोग राजधानी-परिवर्तन, फ़ारस-विजय-कामना, ताम्र-सिक्कों के प्रचार, नृशंस मानव-हिंसा आदि के कारण अभी तक नहीं भूले थे तो, फ़ीरोज़-शाह तुग़लक को उसके संकीर्ण-हृदय और धर्मान्ध होने के नाते अब तक कोसते थे। उसके समय में ब्राह्मणों पर जो पॉलटैक्स लगाया गया था, उसकी चर्चामात्र से न केवल ब्राह्मण ही थर्रा जाते थे अपितु हिन्दूमात्र का हृदय व्याकुल हो उठता था। उसकी प्रखर असिधारा में हिन्दू बड़ी भारी संख्या में बह गये।

उसके पश्चात् भी कोई न्याय-प्रिय शासक गद्दी पर नहीं बैठा। उसके बाद जो सुल्तान सिंहासनारूढ़ हुए प्रायः वे सभी क्रूर एवं विलासी थे।

इसके बाद तैमूर का आक्रमण हुआ जो भारतीय इतिहास की एक भीषण घटना है। नृशंस-युद्ध और बर्बर लूट-मार से हिन्दुओं की अवशिष्ट प्रतिष्ठा भी परास्त हो गई। उसकी राज-नीति धर्म से कितनी व्याकुल थी, इसका परिचय उसके ही शब्दों से इस प्रकार मिलता है—"भारत पर आक्रमण करने का मेरा लक्ष्य काफ़िरों को दण्ड देना, बहु-देव-वाद और मूर्ति-पूजा का अन्त करके ग़ाज़ी और मुवाहिद बनाना है"। अपने लक्ष्य की सिद्धि में वह कितना सफल हुआ, इसका अनुमान हम केवल इससे लगा सकते हैं कि भारत से लौटते समय उसका एक-एक सिपाही सौ-सौ स्त्री, पुरुष और बच्चों को गुलाम बनाकर ले गया।

कहने की आवश्यकता नहीं कि तैमूर का हमला हिन्दुओं ही के लिए नहीं, देश के लिए भी एक कठोर वज्रपात था। उससे देश में दरिद्रता, अशांति और निराशा के भयावह एवं करुण दृश्य दिखाई पड़ने लगे। अनाचार और व्यभि-चार की दुंदुभि बजने लगी और सबसे भयंकर धक्का पहुँचा हिन्दू-जाति और हिन्दू-धर्म को, जिससे उनकी काया काँप उठी। इतना ही नहीं तैमूर के आक्र-मण से दिल्ली का गौरव भी गहरे गढ़े में गिर गया। जो नगर लगभग दो शतियों तक साम्राज्य के गौरव का केन्द्र रहा, वही अब प्रान्तीय राजधानी मात्र के रूप में रह गया।

देश की ऐसी दुर्दशा के समय दिल्ली का शासन-सूत्र लोदी-वंश के हाथों में चला गया। बहलोल लोदी ने एक बार पुनः देश को एक सूत्र में बाँधने का प्रयत्न किया, किन्तु देश के दुर्भाग्य से शासन-सत्ता अधिक दिन तक उसके व्य-क्तित्व का उपभोग न कर सकी। उसके पश्चात् शासन की बागडोर सिकन्दर लोदी के हाथों में चली गई। उसका समय हिन्दुओं के लिए और भी भयानक सिद्ध हुआ। इस काल में हिन्दुओं को गाजर-मूली की भाँति काटकर फेंक दिया जाने लगा। उसका धार्मिक दुरुत्साह इतना प्रबल था कि वह एक-एक दिन में पन्द्रह सौ हिन्दुओं को तलवार के घाट उतारने में भी नहीं हिचका। यदि उसने कबीर को भी मरवाने का प्रयत्न किया हो तो, कोई आश्चर्य की बात नहीं।

सिकन्दर का भी अधिकांश समय विद्रोहियों को दबाने में ही बीता। केन्द्रिकता की कमर लचक जाने से दिल्ली का अतीत गौरव और भी अधिक मिट्टी में मिल गया। जैसाकि पहले कहा जा चुका है, दिल्ली के गौरव का विभाजन बंगाल, जौनपुर, गुजरात और मालवा के बीच हो गया था।

कबीर के आविर्भाव का यह समय एक राजनीतिक उथल-पुथल का समय था। अब राज्य-विजय का प्रश्न नहीं रह गया था, प्रश्न था शासन को दृढ़ और प्रभावशाली बनाने का। देश के टुकड़ों का सम्बन्ध दिल्ली से न रह जाने के कारण उनमें शासकों की मनमानी नीति चल रही थी, जिसका प्रजा से विशेषतया हिन्दुओं से गहन सम्बन्ध था। दिल्ली के हाथ में केवल स्थानीय शासन रह गया था, जिसमें पंजाब का समृद्ध प्रान्त भी सम्मिलित था। उस समय इस्लाम का वास्तविक वैभव दिल्ली में नहीं, बल्कि अहमदाबाद, मांडू, जौनपुर और लखनौती में था। इस विभाजन और रीति-नीति का प्रभाव धर्म, समाज, कला, साहित्य आदि पर भी पड़े बिना न रह सका। 'कबीर-बानी' इनका एक मुखर प्रतिरूप प्रस्तुत करती है।

धार्मिक वातावरण—

यह ठीक है कि कबीर के उदय से पूर्व ही हिन्दू-धर्म पर संकट के काले बादल छा रहे थे। इस्लाम से काफ़िर हिन्दुओं को जो कुछ मिल सकता था, वह सब-कुछ मिला। शासन की छत्र-छाया में हिन्दू लोग मुसलमान बन रहे थे। हिन्दुओं के बहु-देव-वाद और मूर्ति-पूजन के प्रति इस्लाम की स्थायी घृणा थी और दोनों धर्मों में सम्बन्ध स्थापित होने की कोई आशा नहीं थी। उस समय तक जितने मुस्लिम विजेता आये उन्होंने मंदिरों की मूर्तियों का अपमान किया। हिन्दुओं की धार्मिक स्वतंत्रता पर क्या-क्या आघात किये, इसका प्रमाण फीरोज तुग़लक के काले कारनामे हैं। कहा जाता है कि उसने एक बार एक ब्राह्मण को खुलेआम हिन्दू-संस्कार करने पर जीवित ही जलवा दिया। इतिहास इस बात का भी साक्षी है कि सिकन्दर लोदी की उपस्थिति में बोधन नाम के एक ब्राह्मण को अपने धर्म का उत्कर्ष प्रकट करने पर मृत्यु-दण्ड दिया गया।

इन सब घटनाओं से जो विस्मयजनक तथ्य उद्घाटित होता है, वह है

हिन्दू-धर्म की शक्ति। उस हिन्दू के लिए जो इस्लाम धर्म स्वीकार कर लेता था, सब द्वार खुले थे। कोई पद या अधिकार ऐसा नहीं होता था जो उसको न मिल सकता था। खुसरो (काठियावाड़ का एक अवर्ण दास) ने तो मुसलमान होकर थोड़े समय के लिए दिल्ली का तख्त तक पा लिया था। छः सौ वर्ष तक शक्ति और समृद्धि का सरल पथ उपलब्ध होने पर भी उत्तर प्रदेश में मुसलमानों की संख्या १४ प्रतिशत ही रही, यह एक महत्त्वपूर्ण बात थी। इससे स्पष्ट है कि हिन्दू-धर्म ने अपने ऊपर आये हुए सब आघातों का बड़े साहस से सामना किया। उधर तो धर्म-परिवर्तन की परम्परा बनी रही और इधर हिन्दू-धर्म ने दृढ़ बनने के प्रयत्न किये। धर्म-रक्षा की भावना ने नये सिद्धान्तों और सम्प्रदायों को जन्म दिया। इस समय हिन्दू-धर्म में अनेक आन्दोलन हुए। वैष्णव सम्प्रदायों ने उत्तर में और लिंगायत धर्म ने कर्नाटक में जो विकास पाया उससे हिन्दू-धर्म की बड़ी रक्षा हुई।

"कहना न होगा कि उक्त धार्मिक आन्दोलन केवल भक्ति पर आश्रित थे, कर्म-काण्डपरक नहीं। निस्सन्देह भारतीय भक्ति का रूप बहुत प्राचीन है, किन्तु उस समय उसको जो लोक-प्रियता प्राप्त हुई, उसका कारण थी—हिन्दुओं की निराशा जो तत्कालीन आघातों से उत्पन्न हुई थी। गीता में भक्ति-योग का उपदेश दिया गया है और उसका अन्तिम सन्देश है परमात्मा को अपना सर्वस्व समर्पित कर देना। गीता ने जीवन में प्रयत्न-वाद की प्रतिष्ठा करते हुए फलासक्ति का अवमूलन अवश्य किया है, किन्तु जयदेव से लेकर चैतन्य (उससे भी पीछे) तक की राधा-कृष्ण की भक्ति में इसकी कोई प्रतिध्वनि नहीं।

इससे यह स्पष्ट है कि भक्ति-क्षेत्र की यह नई उपज थी। मध्यकालीन भक्ति का उदय इस्लाम के आक्रमण के उत्तर के रूप में हुआ था। चाहे उनके देवों के कुछ भी नाम हों, किन्तु सभी मध्यकालीन भक्तों ने यह माना है कि एक परमात्मा हमारा उपास्य है और उसी के अनुग्रह से हमारी मुक्ति हो सकती है। अतएव सभी भक्ति-धाराओं में तत्त्व-रूप से अद्वैत-वाद का प्रवाह है। भिन्न-भिन्न नामों से प्रख्यात राम, कृष्ण, शिव आदि एक ही अनन्त शक्ति के प्रतीक हैं। कबीर की बानियों में इस तथ्य का दर्शन स्पष्ट रूप से किया जा सकता है।

इस्लाम के बढ़ते हुए प्रचार की प्रतिक्रिया के रूप में भारतीय भावना ने अपने को अनेक रूपों में व्यक्त किया था। अपनी भूमि पर इस्लाम को अपना सहचर समझ कर अनेक भारतीय धर्मों ने उसके प्रति जिस सहिष्णुता का परिचय दिया था वह सहज, सांस्कृतिक थी। यद्यपि कुछ मुसलमान शासकों ने भी यहां के धर्मों के प्रति सहिष्णुता दिखलाई, किन्तु वे अपने नैतिक दृष्टिकोण से इस्लाम की बढ़ती हुई कट्टरता का नियंत्रण न कर सके। इस्लाम-जैसे नये धर्म में इस प्रकार की कट्टरता स्वाभाविक थी, किन्तु उससे भारतीय हृदय की उपजाऊ भूमि में रक्षात्मका भावना के अनेक बीज प्रांकुरित हो उठे।

वीर-शैव सम्प्रदाय—

कर्नाटक में वीर-शैव सम्प्रदाय का विकास भी इस युग की एक विशेषता थी। तामिलनाड की भाँति कर्नाटक में भी शैव-मत की एक प्राचीन परम्परा थी। बारहवीं शताब्दी में इसके दो सिद्धान्तों पर विशेष जोर देते हुए एक नये मत का आविर्भाव हुआ। उन सिद्धान्तों में से एक तो था केवल शिव की उपासना पर आधारित अद्वैत-वाद और दूसरा था जाति-पाँति का बहिष्कार जिसमें ब्राह्मणों की प्रमुखता का भी घोर विरोध था। वीर-शैव मत के अनुयायी वासव को अपने मत का जन्मदाता मानते हैं। निस्सन्देह मध्यकालीन हिन्दू-सन्तों में वासव का प्रमुख स्थान था।

शैव-मत—

वीर-शैव मत उस समय नया दीखता हुआ भी अपने मूल रूप में प्राचीन था। कहना न होगा कि शैव-मत बहुत प्राचीन धर्म है। उसका प्रचार कबीर के प्रादुर्भाव से पूर्व उत्तर-भारत में भी था। शैव और वैष्णव मतों में एक-दूसरे के सम्पर्क के कारण बहुत कुछ आदान-प्रदान हो चुका था। साम्प्रदायिक उत्साह से मुक्त विष्णु-भक्त शिव की आराधना बिल्कुल उसी प्रकार करते थे जिस प्रकार उदार शैव शिव के साथ-साथ विष्णु और उनके अवतारों का समादर करते थे।

शाक्त-मत—

पूर्व में शाक्त मत का जोर था, किन्तु जिस प्रकार वैष्णव भक्तों में दुर्गा को

उपासना प्रचलित थी, उसी प्रकार शैवों में योग के माध्यम से कुण्डलिनी शक्ति की प्रतिष्ठा के साथ-साथ अन्य प्रभाव भी परिलक्षित होने लगे थे। आद्या शक्ति को देवी के रूप में स्वीकार करके भी शैवों और वैष्णवों के मन में शाक्तों के प्रति घृणा भर गई थी। पंच मकारों में मत की घोरतम विकृति की अभिव्यक्ति ने शाक्त मत को संयत धर्मों से विदूर कर दिया था।

शैव, शाक्त और वैष्णव मतों का सम्बन्ध—

इन धर्मों में एक ओर तो अपरिलक्षित रूप से आदान-प्रदान हो रहा था और दूसरी ओर साम्प्रदायिक कट्टरता और कठोरता के कारण भाव-संकीर्णता और कटुता भी पनप रही थी। अतएव अन्तःसाम्प्रदायिक राग-द्वेष धार्मिक विकृतियों का परिणाम था। एक ही भाव-भूमि पर आग्रह और विग्रह के फलस्वरूप विकृति कुछ अधिक जटिल हो गई थी।

बौद्ध-धर्म—

यह कहना अनुचित न होगा कि बौद्ध धर्म के विकारों की छाया में, जिन मतों का आविर्भाव हो गया था, उन्होंने भी आर्य-संस्कृति की मौलिकता को बहुत बड़ा धक्का पहुँचाया। उससे हिन्दू-धर्म की एकता खण्डित हो गई। यह कहना भी असंगत नहीं कि बौद्ध धर्म भारत से लुप्तप्राय होने पर भी अपने अनेक सिद्धान्तों को भारतीय विचार-धारा में सञ्चारित कर गया था। अनात्मवाद की चरम अभिव्यक्ति नागार्जुन के 'शून्य-वाद' में हो चुकी थी। औपनिषदिक आत्मा के स्थान पर 'शून्य' की प्रतिष्ठा ने भारतीय चिन्तन की परम्परा में एक बड़ी क्रान्ति और प्रगति को जन्म दे दिया था। शंकर का मायावाद शून्य-वाद को ही एक चुनौती थी।

कहने की आवश्यकता नहीं कि 'शून्य' ने विकास-क्रम से अशून्य के रूप में सब कुछ प्राप्त किया। धीरे-धीरे शून्य को स्थिति और शक्ति की विशेषता प्राप्त हो गई। जिस प्रकार बौद्ध-चिन्तन से प्रसूत क्रान्ति को नहीं भुलाया जा सकता है, उसी प्रकार बौद्ध-साधना की क्रान्ति को भी नहीं भुलाया जा सकता है। यह ठीक है कि धर्म व्यक्तिगत साधना की वस्तु है, किन्तु व्यक्तिवाद के हाथों में पड़ कर वह अपनी मौलिकता को अक्षुण्ण नहीं रख सकता। परिणामतः

विकृतियों का विकास होता है, जिससे अनेक मतों और सम्प्रदायों का प्रजनन होता रहता है। वज्रयान और सहजयान सम्प्रदाय बौद्ध-धर्म की विकृति और विकलता के ही परिणाम थे। यद्यपि कालक्रम से वे भी विकृतियों से विगलित हो गये, फिर भी नये धर्मों और सम्प्रदायों के लिए वे अपनी कुछ परम्पराएँ और साधनाएँ अवश्य छोड़ गये।

नाथ-पंथ—

नाथ-पंथ वज्रयान और सहजयान ही की प्रतिक्रिया था। कुछ विद्वानों का मत है कि नाथ-पंथ सहजयान और वज्रयान का ही परिमार्जित एवं परिष्कृत रूप है। राहुल जी ने तो नाथ-पंथ के प्रधान आचार्य गोरखनाथ को वज्रयान का ही आचार्य कहा है। यों तो इस सम्प्रदाय के आदि प्रवर्तक आदिनाथ (भगवान् शंकर) ही माने जाते हैं, किन्तु इसके पुनरुत्थान का श्रेय गोरखनाथ ही को दिया गया है। इस सम्प्रदाय का उदय सिद्धों की बीभत्स एवं तामसिक साधना-पद्धति की प्रतिक्रिया के रूप में होने से इसमें सदाचरण को विशेष महत्त्व दिया गया।

किसी समय नाथ-पंथ का बड़ा प्रभाव था। अनेक सवर्ण और अवर्ण लोग इसके अनुयायी थे, किन्तु अवर्णों में तो इसका प्रचार बहुत ही अधिक था। ऐसा दीख पड़ता है कि इसके सिद्धान्तों का सामान्य समादर इसलिए हुआ कि इस मत ने सामाजिक भेद-भाव को मिटाने का प्रयत्न किया था। अवर्णों के लिए यह एक बहुत बड़ा आकर्षण था। इसके अतिरिक्त नाथ-पंथ की यौगिक करामातों और सिद्धियों की जन-श्रुतियों से समाज जितना विस्मित हुआ था, उतना ही आकृष्ट भी। कबीर के समय में भी इस मत का व्यापक प्रचार था। उत्तर-भारत में इसके मठ स्थापित हो गये थे। कहते हैं कि गोरखपुर इस पंथ का केन्द्र था। जिस प्रकार उत्तरभारत में उसी प्रकार उत्तर-पश्चिमी भारत में भी इस मत का प्रचलन रहा है। नाथ-पंथ में निरंजन की महिमा का बहुत गान किया गया है। साधारण रूप में 'निरंजन' शब्द निर्गुण ब्रह्म का और विशेष रूप में शिव का वाचक है।

निरंजन-संप्रदाय—

भारत में 'निरंजन' से सम्बन्धित एक सम्प्रदाय भी रहा है जो 'निरंजन

सम्प्रदाय' के नाम से प्रसिद्ध है। यह पंथ नाथ-पंथ की भाँति ही प्राचीन माना जाता है। इस पंथ में निरंजन-पद परम-पद का समकक्ष था। आज कल निरंजनी साधुओं का एक सम्प्रदाय राजस्थान और उसके प्रान्तरीय भागों में मिलता है। कहा जाता है कि इस सम्प्रदाय के प्रवर्तक स्वामी निरानन्द थे, जो निरंजन भगवान् (निर्गुण) के उपासक थे, पर आज कल के निरंजन मत के अनुयायी बहुत-कुछ रामानन्दी वैरागियों के समान राम-सीता के उपासक हैं। वे शालि-ग्राम-शिला और गोमती-चक्र को मान्यता देते हैं। अपने 'मेडिवल मिस्टिसिज्म' में श्री क्षितिमोहन सेन ने लिखा है कि उड़ीसा में अब भी वह निरंजन पंथ जी रहा है, जिसने निर्गुण साधना को प्रभावित किया था। यहीं से इस पंथ की शिक्षाएं मध्यदेश और पूर्वी प्रान्तों में पहुँची थीं। पश्चिमी भारत में भी इसका प्रभाव अभी तक विद्यमान है। डा० हजारीप्रसाद ने अपने 'कबीर' में लिखा है कि बंगाल के पश्चिमी हिस्सों तथा बिहार के पूर्वी जिलों में आज भी एक धर्म-मत है जिसके देवता निरंजन या धर्मराज हैं। उन्होंने अपनी नई पुस्तक 'कबीर-पंथ' में बताया है कि एक समय यह धर्म-सम्प्रदाय झारखण्ड और रीवां तक प्रचलित था। बाद में चलकर यह मत कबीर सम्प्रदाय में अन्तर्लीन हो गया और उसकी सारी पौराणिक कथाएं कबीर-मत में संगृहीत हो गईं, परन्तु उनका स्वर बदल गया। बंगाल में धर्म-पूजा-विधान का एक काफ़ी बड़ा साहित्य उपलब्ध हुआ। शुरू-शुरू में धर्म ठाकुर या निरंजन देवता को बौद्ध धर्म के त्रिरत्न में से एक रत्न (धर्म) का अवशेष समझा गया था, पर अब इस मत में सन्देह भी किया जाने लगा है। कबीर पंथ के अध्ययन से ऐसा भी प्रतीत होता है कि निरंजन का सम्बन्ध बुद्ध से था। डा० त्रिगुणायत का अनुमान है कि निरंजन-पंथ नाथ-पंथ का एक उपसम्प्रदाय मात्र है। निरंजन-पंथ का अध्ययन इस अनुमान का समर्थन नहीं करता। जिस प्रकार कबीर-पंथ को नाथ-पंथ या निरंजन-पंथ का उपसम्प्रदाय नहीं कह सकते, उसी प्रकार निरंजन-पंथ को भी नाथ-पंथ का एक उपसम्प्रदाय नहीं कह सकते। डा० त्रिगुणायत की यह बात भी उचित नहीं दीख पड़ती कि उत्तरी भारत में निरंजन-पंथ का नाममात्र अवशिष्ट रह गया है। राजस्थान राज्य में अब भी अनेकों निरंजनी मिलते हैं।

जोधपुर और डीडवाना इस पंथ के प्रमुख स्थान हैं।

इस्लाम और सूफ़ी मत—

कबीर के समय में इस्लाम धर्म इतना प्रबल नहीं था जितना सूफ़ी मत। मजहबी मुसलमान हिन्दू धर्म के मर्म-स्थान पर चोट नहीं कर पाये थे। वे केवल उसके बाहरी शरीर को विक्षुब्ध कर सकते थे; पर सूफ़ी लोग भारतीय साधना के अविरोधी थे, अतः उनके उदारतापूर्ण प्रेम-मार्ग ने भारतीय जनता के हृदय पर अधिकार करना आरम्भ कर दिया था। फिर भी ये लोग आचार-प्रधान भारतीय समाज को आकृष्ट नहीं कर सके। उनका सामंजस्य आचार-प्रधान हिन्दू-धर्म के साथ नहीं हो सका। यहाँ यह बात स्मरण रखने की है कि न तो सूफ़ी मत और न योगियों की अन्तःसाधना बौद्ध-संघों के अनुकरण पर प्रतिष्ठित विपुल वैराग्य के बोझ को वहन कर सकी। देश में पहली बार वर्णाश्रम-व्यवस्था को एक अननुभूत-पूर्व विकट परिस्थिति का सामना करना पड़ रहा था। अब तक वर्णाश्रम-व्यवस्था का कोई प्रतिद्वन्द्वी नहीं था। जो आचार-भ्रष्ट व्यक्ति समाज से अलग कर दिये जाते थे वे एक नई जाति की रचना कर लेते थे। उनको राज और समाज किसी का आदर प्राप्त नहीं होता था। इसके विरुद्ध सूफ़ीमत की शरण में आये ऐसे व्यक्तियों को इस्लाम अपनी सहानुभूति का आकर्षण दे रहा था, केवल इस्लाम को स्वीकार करने की देर होती थी। फिर तो समता और पद सब कुछ प्रस्तुत था। सच तो यह है कि कुछ भारतीय विचारों की ओट में सूफ़ी-मत इस्लाम का पोषक था। यही ओट, हिन्दू-समाज को इस्लाम-विरोधी होते हुए भी सूफ़ी-विरोध नहीं करने देती थी। तत्कालीन निर्गुणोपासना को विरह-भावना में जिस तीव्रता का समावेश हुआ वह प्रायः सूफ़ी-मत की ही देन थी।

तान्त्रिक-सम्प्रदाय—

अनेक धर्मों का विवेचन करते हुए हम उस समय प्रचलित तान्त्रिक साधना को नहीं भुला सकते। यों तो तान्त्रिक साधना बहुत से सम्प्रदायों और मतों में समाहृत हो चुकी थी, किन्तु कबीर के युग में वह अपनी पराकाष्ठा पर थी। उसकी चरमाभिव्यक्ति शाक्त-मत में हो रही थी। यद्यपि शाक्त-मत अपनी अनेक हेय प्रवृत्तियों के लिए बहुत से लोगों की घृणा भी पा चुका था, फिर भी इसके

अनेक सिद्धान्त उस समय की विचार-परम्परा और साधना-पद्धति में समाविष्ट हो गये थे। तान्त्रिकों का प्रभाव समस्त भारत में विद्यमान था, किन्तु शाक्त लोगों का प्रभाव बंगाल और उसके आसपास के भू-भाग पर विशेष था। शाक्तों को वक्र-दृष्टि से देखते हुए भी कबीर ने उनकी साधना की कुछ बातों को सूक्ष्म दृष्टि से देखा था। इसीलिए बुराइयों में भी अच्छाइयां मिलने पर उन्होंने उन्हें स्वीकार कर लिया था। कबीर की साधना में वे बातें किस मार्ग से समाविष्ट हुईं, यह प्रश्न विचार करने योग्य है। अनुमान किया जाता है कि वे सीधी तान्त्रिकों या शाक्तों से न आकर नाथ-पन्थ के माध्यम से आई थीं।

जैन-धर्म—

वेद-विरोधी धर्मों में बौद्ध और जैन-धर्म ही प्रमुख थे। बौद्ध-धर्म की विकृतियों ने वज्रयान और सहजयान जैसे सम्प्रदायों को जन्म देकर भी अवकाश ग्रहण नहीं किया था। प्रतिक्रिया-स्वरूप नाथ-पन्थ आदि अनेक मत और वाद प्रचलित हो गये थे। इधर जैन-धर्म के अन्तर्गत भी कई सम्प्रदायों का उदय हो गया था। उनकी स्पर्धा के कटु परिणाम न केवल धर्म को बिगाड़ रहे थे, अपितु सामाजिक जीवन को भी संकीर्ण बना रहे थे। जबकि बौद्धों की अहिंसा हिंसा का रूप ले चुकी थी, जैनों की अहिंसा ने अपने तात्त्विक सौन्दर्य को तिलाञ्जलि नहीं दी थी, परन्तु वह भी उपेक्षा और रूढ़ियों के हाथों किसी अंश तक उपहास्य अवश्य हो गई थी। यों तो जैन-धर्म भारत भर में फैला हुआ था और उसके अनुयायी किसी न किसी अंश में कम-से-कम नगरों में तो मिल ही जाते थे, परन्तु राजस्थान, गुजरात और सौराष्ट्र में तो उनका बाहुल्य था।

भारतीय धर्म-साधना को सामान्यतः दो प्रमुख धाराओं में बांटा जाता है— वैदिक धारा तथा वेद-विरोधी धारा। जैन तथा बौद्ध वेद-विरोधी धारा में आते हैं। वेद-विरोधी-धारा में चार्वाकों का नाम भी आता है, किन्तु चार्वाक-मत का अधिक विकास न हो सका। कबीर के समय में भी चार्वाक मत उपेक्षित ही था। वेद-विरोधी धारा तो वैदिक युग में भी रही होगी, किन्तु उस समय वह अत्यन्त क्षीण होगी, अन्यथा वेदों का इतना डंका न बजता। महात्मा बुद्ध को पाकर यह धारा प्रबल वेग से बहने लगी। वैदिक तथा वेद-विरोधी धाराओं का संघर्ष

जीवन के अनेक क्षेत्रों में था। संघर्ष के जो कारण तब थे वही कबीर के समय में भी विद्यमान थे।

कबीर के युग तक आते-आते भारतीय चिन्तन तथा साधना की अनेक धाराओं का उद्भव तथा विकास हमारे सामने आ जाता है। कबीर के युग में भारत दो भिन्न समाजों में विभक्त दीख पड़ता है—एक भारतीय धर्म-साधना का पोषक था और दूसरा अभारतीय धर्म-साधना का। भारतीय धर्म-साधना का पोषक समाज अनेक धर्मों और सम्प्रदायों से क्षत-विक्षत होते हुए भी अपनी सांस्कृतिक एकता रखता था, किन्तु अभारतीय धर्म ने जो समाज तैयार किया था वह भारतीय समाज से एकदम भिन्न था। इसीलिए देश में विरोध का वातावरण था। हिन्दू-धर्म से सूफ़ी मत की सहानुभूति अवश्य दिखाई पड़ती थी, किन्तु बिल्कुल वैसी ही जैसी कि किसी पेड़ के पास उग कर पेड़ पर छाई हुई लता की जो पेड़ की संजीवनी शक्ति को स्वयं खाकर उसे हीन करने का प्रयत्न करती है।

हिन्दू-समाज में अनेक धार्मिक सम्प्रदाय थे, जिनमें वैष्णव, शैव और शाक्त प्रधान थे। इनके अतिरिक्त बौद्ध, जैन और वैदिक कर्मकाण्डी भी थे। इन धर्म-साधनाओं में पारस्परिक विरोध था। जिस प्रकार शिव, विष्णु और शक्ति की प्रधानता को लेकर उनके उपासकों में विरोध का उद्बोधन होता था, उसी प्रकार उनकी साधना भी संघर्ष-उद्बोधिका थी।

तांत्रिक सिद्धों की साधना अत्यन्त विकृत तथा पापाचार से भरी हुई थी। वे शक्ति की पूजा करते थे। उन्होंने मांसाहार, सुरापान तथा व्यभिचार को साधना के रूप में स्वीकार कर लिया था। इधर उनके आचरण की तो यह दशा थी, उधर वे लोग सामान्य जनता को सिद्धियों के चमत्कार दिखा कर प्रलोभन से बहकाते थे। स्पष्टतः इस प्रकार की साधना साधकों के साथ-साथ समाज को भी दुर्गति के दुरन्त गर्त में गिरा रही थी। परिस्थितियाँ मानों उद्धार की बाट जोह रही थीं।

हिन्दुओं में बहुदेवोपासना और मूर्ति-पूजा का प्रचलन था। मूर्ति-पूजा के अनेक विधि-विधान विद्यमान थे। मन्दिरों के अनेक पुजारियों के हृदय में

संकीर्णता, पाखण्ड श्रौर दुराचार का श्रावास था। बाह्याचार चरम-सीमा पर था। स्नान, छापा, तिलक, माला, वस्त्र श्रादि के बल पर ही श्रनेक पाखण्डी भक्त, साधु श्रौर महात्मा बने बैठे थे। श्रज्ञ जनता को बहका कर वे श्रपना उल्लू सीधा करने में संलग्न रहते थे। इन बाह्याचारों के प्राबल्य श्रौर बाहुल्य से सत्य-धर्म ग्रन्धकार में निमग्न हो चला था। श्रद्धा श्रौर विश्वास ने श्रपना स्थान श्रन्ध-भक्ति श्रौर दंभ के लिए छोड़ दिया था। वेश की सेवा होती थी। सत्य के समर्थक को श्रश्रद्धालु, श्रधर्मी एवं नास्तिक श्रादि संज्ञाश्रों से विभूषित किया जाता था।

वर्ण-व्यवस्था ने कर्म के श्राधार का परित्याग कर जन्म का श्राश्रय स्वीकार कर लिया था। शूद्रों को सामाजिक सौभाग्य से वञ्चित कर रखा था। श्रन्त्यजों को वेदाध्ययन से ही वञ्चित नहीं कर रखा था, प्रत्युत उन्हें मन्दिरों में प्रवेश तक नहीं दिया जाता था, मानों धर्म का ठेका कुछ ही लोगों को मिला था। श्रन्त्यजों का स्पर्श तक दूषित समझा जाता था। उनके कुएँ भिन्न थे, उनके मुहल्ले श्रलग थे। हिन्दुत्व की सीमाश्रों में उन्हें कहीं मुक्ति नहीं दीख रही थी। इस्लाम के द्वार के भीतर उन्हें श्रपने दुर्भाग्य से मुक्ति दृष्टिगोचर हो रही थी। इसी-लिए श्रवर्ण लोग मुसलमान होते चले जा रहे थे। जो लोग इस्लाम को नहीं भी चाहते थे, वे भी तत्कालीन हिन्दुत्व से ऊब गये थे। श्रतएव समय किसी ऐसे धर्म श्रथवा पंथ की श्रपेक्षा रखता था, जिस पर चलने का सबको श्रधिकार हो। यद्यपि बौद्ध-धर्म में किसी समय ऐसे लोगों को श्राकर्षण मिल सकता था, तथापि उस समय वैदिक धर्म की उदारता ने उस श्राकर्षण को मन्द कर दिया। कबीर के समय में वैदिक उदारता रूढ़ियों में बंधकर संकीर्णता में परिणत हो गई थी। उस समय बौद्ध धर्म श्रपनी विकृतियों को छोड़कर लुप्त हो गया था। जितने मत-मतान्तर उस युग में प्रचलित थे, वे भी श्रनेक विकृतियों का श्रावास बन रहे थे, किन्तु नाथ-पंथ जैसे सम्प्रदाय भी विद्यमान थे। नाथ-पंथ में चाहे श्रौर कितनी भी बुराइयाँ रही हों, किन्तु उसने जाति-पाँति के बन्धन को तोड़ कर नई सामाजिक व्यवस्था को प्रोत्साहन दिया था, जिसमें वेदों, मन्दिरों श्रौर वेशभूषा को कोई महत्त्व नहीं दिया गया था। ऐसे ही सम्प्रदायों में दलित वर्ग के लिए

आकर्षण था। इसीलिए निम्न-वर्ग के लोगों पर नाथ-पंथ का इतना व्यापक प्रभाव पड़ा। निःसन्देह उसमें बुद्धि का हृदय से समन्वय नहीं था, अतएव अब भी एक अभिनव समन्वित एवं सहज धर्म की आवश्यकता थी।

प्रतिक्रिया एवं प्रभाव—

उस वातावरण में कुछ ऐसे विचार भी पनप रहे थे जो धार्मिक संघर्ष और संकीर्णता से ऊंचे उठकर एक नये पथ की ओर संकेत कर रहे थे। उन्हें केवल एक प्रौढ़, प्रवर्तक और कर्मठ संचालक की आवश्यकता थी, जो युग की भयानकता में से होता हुआ उनको आगे बढ़ाता। किसी धर्म के बहिष्कार में ऐसे मार्ग की खोज नहीं की जा सकती थी। वह तो सब धर्मों के सार-ग्रहण से ही बन सकता था। इसी से वह स्थायी और सार्वभौम मार्ग हो सकता था।

कबीर ने समाज की दुर्बलता और अधोगति को बड़ी करुणा से देखकर उसे ऊपर उठाने के मौलिक प्रयत्न किये। भय, भर्त्सना और भक्ति उनके ऐसे अस्त्र थे, जिनसे वे राजनीतिक बिभीषिकाओं और सामाजिक विषमताओं के शत्रु को परास्त करना चाहते थे। जिस शरीर पर मनुष्य इतना गर्व करता है, जिस वैभव के लिए वह इतने अत्याचार करता है, जिसकी गहरी नींव डालने के लिए वह अनेक प्रयत्न करता है, वे सब भंगुर हैं, नश्वर हैं, अस्थायी हैं। इसीलिए उन्हें कहना पड़ा :—

कबीर कहा गरबियौ, चांम पलेटे हड।
हैबरि ऊपरि छत्र सिरि, ते भी देबा खड॥
कबीर थोड़ा जीवणां, माड़े बहुत मंडाण।
सबहीं ऊभा मेल्हि गया, राव रंक सुलितान॥

परिवर्तन की लहरों के क्षणिक बुद्बुदों पर गर्व करना व्यर्थ है। यह शरीर धूल की पुड़िया है, जो चन्दरोज़ा है। कुछ ही दिनों में यह ख़ाक में मिल जायेगा। कबीर विस्मित हैं कि जन्म-मरण को देखकर भी मानव अपने क्रूर कर्म नहीं छोड़ता, इसीलिए कबीर उपदेश देते हैं कि ऐसे कर्मों से बचकर उचित आचरण करना चाहिए :—

कबीर धूलि सकेलि करि, पुड़ी जु बांधी एह ।
दिवस चारि का पेषणां, अंति षेह की षेह ॥
जांमण मरण बिचारि करि, कूड़े कांम निवारि ।
जिनि पंथूं तुझ चालणां, सोई पंथ संवारि ॥

एक दिन सब को इस दुनिया से कूच करना है । जो राजा, राणा या छत्रपति अपने अधिकार या पद के मद में विचूर्ण होकर अपने प्रस्थान को भूल रहे हैं, उनको सावधान हो जाना चाहिए :—

इक दिन ऐसा होइगा, सबसूं पड़ै बिछोय ।
राजा राणा छत्रपति, सावधान किन होय ॥

इस प्रकार कबीर, काल के डंके की कर्कश ध्वनि सबको सुनाते हैं और समझाते हैं कि गजेन्द्रारोहण, छत्र-धारण, वैभव-विलास, उच्च-आवास, ये सब एक दिन नष्ट होने वाले हैं । इतने पर भी जो अपने मार्ग को नहीं पहचानते उन मूर्खों को कुछ कहना व्यर्थ है । जिनको लोक-वैभव का गर्व है वे केवल गर्व का भार ही वहन करते हैं । दुनिया की कोई वस्तु, विलास की कोई सामग्री, हमारे साथ नहीं जायेगी । जो लोग दुनिया को ही सब कुछ मान बैठे हैं, उनकी तुलना कबीर उस ग़ाफ़िल से करते हैं जो अपने ही पैरों में कुल्हाड़ा मारने लगता है :—

दीन गंवाया दुनीं सौं, दुनी न चाली साथि ।
पाइ कुहाड़ा मारिया, गाफ़िल अपणैं हाथि ॥

यह मनुष्य शरीर बार-बार नहीं मिलता, इसकी सफलता और सार्थकता हरि-भक्ति में है, अन्यथा वह व्यर्थ है :—

कबीर हरि की भगति करि, तजि विषिया रस चोज ।
बार-बार नहीं पाइए, मनिषा जन्म की मौज ॥

इस प्रकार कबीर न केवल अपने मार्ग को प्रशस्त करते हैं, अपितु उनके मार्ग का भी निर्देशन करते हैं जो भ्रान्त या उन्मत्त हैं । अधिकार, यौवन या वैभव के मद से प्रमत्त लोगों को वे ऐसे संकेत करते हैं जो उनकी दुर्नीति के विसर्जन में सहायक हों ।

यह ठीक है कि कबीर के वैराग्य में परंपरा की कड़ी दीखती है, किन्तु

उसमें चेतावनी का संकेत भी स्पष्ट है। उसमें युग-प्रवर्तन और क्रान्ति के अमोघ लक्षण दीख पड़ते हैं। यह भुला देना चाहिए कि कबीर के पथ को उनकी भक्ति ने निर्मित किया था, अपितु युग की अभ्यर्थना ही उनकी प्रेरणा थी, जो अत्याचार को सकरुण एवं विकल हृदय की चुनौती थी। कबीर का लक्ष्य संयत एवं संतुलित जीवन में निराशा का संचार करना नहीं था, अपितु जीवन के प्रति आशा पैदा करना था। जिन लोगों का दुर्नय अनाचार की सीमा लाँघ चुका था और जिनकी निष्करुण अहंकार की विस्फोटमयी ज्वालाओं में प्रलयंकर अभिनय था, उनको उनके कुकर्मों के प्रति निवृत्त करना ही कबीर की वैराग्योक्तियों का प्रधान लक्ष्य था।

अपने समय में कबीर को भक्ति ही में एक ऐसा मार्ग दीख पड़ा जिसमें विषमता का निवारण कर समता एवं सन्तुलन स्थापित करने की क्षमता थी। भक्ति की शक्ति ही गर्व के उन्माद का उपचार एवं दलितों की निराशा का अपहरण कर सकती थी। इसी भक्ति में कबीर को अपने लिए एक शक्ति का प्रकाश दिखाई पड़ा और इसी में उन्हें वह दिशा दिखाई पड़ी जो समाज की एकता के पथ को संकेतित कर रही थी। उनकी विरक्तोक्तियाँ उसी पथ की सीढ़ियाँ थीं। कबीर की भक्ति में आशा-निराशा, आकर्षण-विकर्षण तथा भय और प्रेरणा का अद्भुत सामंजस्य खोज लेना कठिन नहीं है, क्योंकि दो विपरीत विन्दु आक्षिप्त दशा में एक ही सरल रेखा में, एक पथ में प्रलीन हो जाते हैं; अतएव यह कह देना अनुचित नहीं है कि उनमें से एक दूसरे में खो जाता है। भक्ति सांसारिक आसक्ति को परमात्मा की आसक्ति में विलीन कर देती है जिससे दर्प का निपात, अनेकता का विलय और एकता का आविर्भाव होता है। कहना न होगा कि कबीर की भक्ति-भावना के मूल में सामाजिक एकता एक प्रबल प्रेरणा थी।

यदि यह सत्य है कि परमात्मा के प्रति परम प्रेम का नाम ही भक्ति है तो यह भी सत्य है कि हम भक्ति को सामाजिक प्रेम के रूप में प्रस्फुटित भी देख सकते हैं। कबीर की भक्ति में दो दिशाओं से आने वाली प्रेम-परम्पराओं का मिलन है—एक तो भारतीय प्रेम-परम्परा और दूसरी सूफ़ी प्रेम-परम्परा। दोनों

की पद्धतियाँ भिन्न होती हुई भी लक्ष्य पर पहुँच एक ही हैं।

भारतीय भक्ति-परम्परा में भी भक्ति की दो धाराएँ मानी गई हैं—एक भावप्रधान और दूसरी ज्ञानप्रधान। भावप्रधान भक्ति में साधक अपने हृदय की सारी कामनाएँ, अपने मन की सभी प्रवृत्तियाँ अपने इष्टदेव के चरणों में अर्पित कर देता है और आत्मसमर्पण के भाव में ही वह परमानन्द का अनुभव करता है। इसको प्रेम-लक्षणा भक्ति भी कहते हैं। भक्ति के क्षेत्र का यह प्रेम ईश्वर-सान्निध्य का एक मार्ग है। इसमें प्रेमी अपने को प्रिय के प्रेम-बन्धन में बाँध लेता है और इतना कस कर बाँध लेता है कि उसका अपना अस्तित्व ही प्रिय में विलीन हो जाता है, दुई मिट जाती है और एकता के भाव का अपूर्व उन्मेष होता है। शास्त्रीय परिभाषा में इसको कुछ भी कहा जाय, किन्तु है यह वही दशा जिसे अद्वैतावस्था कहते हैं। भाव और ज्ञान की चरम परिणति एक ही स्थिति में एक ही दशा में होती है। इस स्थिति पर पहुँच कर भक्ति और ज्ञान का अन्तर मिट जाता है।

यह दुहराने की आवश्यकता नहीं कि कबीर के प्रेम का प्रादुर्भाव तत्कालीन समाज की दुर्दशा से हुआ। उनकी करुणा ही अन्ततोगत्वा भक्ति में परिणत हुई। खंड को अखंड और त्रस्त को आश्वस्त करने की प्रेरणा के पीछे उनका प्रेम करुणाजन्य था। इस प्रेम का मूल स्वर एकता था और यही उनकी भक्ति का स्वर था। कदाचित् कबीर के सामने एकता की समस्या के समाधान के लिए एक दुविधा रही होगी। उनके मन में एक प्रश्न उलझ रहा होगा कि वे प्रेम-क्षेत्र में किस पथ को अपनाएँ—भारतीय भक्तिमार्ग को अथवा सूफ़ी-प्रेम-मार्ग को? एक में आलंबन साकार और सलील था और दूसरे में आरोपित, एक के समर्थन में दूसरे का विरोध निहित था। कबीर का लक्ष्य विरोध का मिटाना था, इसलिए वे किसी एक मार्ग को लेकर नहीं चल सकते थे। इस लक्ष्य की सिद्धि के लिए उन्होंने दोनों ओर से प्रेम-साधना के तात्त्विक उपकरण संकलित किये और दोनों के विरोध को निर्गुण भक्ति में विलीन कर दिया।

कबीर की निर्गुण भक्ति का स्वरूप भारतीय भक्ति-धारा के बहुत समीप है। भारतीय भक्ति-धारा के दो रूप अन्यत्र कहे गये हैं। उनमें से एक ज्ञान-

प्रधान था। कबीर की भक्ति इसी के अन्तर्गत है। जिस समय हम भक्ति के इस रूप पर विचार करते हैं तो सहसा गीता के उस भक्त का स्मरण हो आता है जिसके लिए 'ज्ञानी' शब्द का प्रयोग किया गया है। यह शब्द ज्ञान और भक्ति के सामंजस्य की ओर संकेत करता है। यही सामंजस्य कबीर की निर्गुण भक्ति की आधार-शिला है। यहाँ ज्ञान का महत्त्व भक्ति के लिए ही है।

कबीर की भक्ति के सम्बन्ध में विचार करते समय विशेष ध्यान देने की बात यह है कि निराकार के समर्थक कबीर अपनी वाणी में साकार को नहीं भुला सके। "ना जसरथि धरि औतरि आवा, ना जसवै लै गोद खिलावा" कहने वाले कबीर ही उस स्वरूप से सम्बन्धित अनेक उदाहरण दे जाते हैं जो साकार की प्रतिष्ठा में भी अधिक सहायक होते हैं, जैसे—

राजन कौन तुमारे आवै।
ऐसो भाय बिदुर को देख्यो, वहु गरीब मोहि भावै।
(दुर्योधन) हस्ती देखि भरम ते भूला हरि भगवान न जाना॥

और

महापुरुष देवाधिदेव नरसिंह प्रगट कियो भगति भेव।
कहै कबीर कोई लहै न पार। प्रह्लाद उबारचो अनेक बार॥

इन उदाहरणों से स्पष्ट है कि कबीर को सगुण और निर्गुण की विशेष चिन्ता नहीं थी, चिन्ता उन्हें उस सामाजिक खाई की थी, जो सगुण निर्गुण के कारण उत्पन्न हो सकती थी। साकारोपासना, अवतारवाद और बहुदेववाद का समर्थन करती है, उसका तालमेल इस्लाम के 'एकेश्वरवाद' से बिल्कुल नहीं बैठता। कबीर के युग में एकता एक समस्या थी। उसका समाधान कबीर अपना कर्त्तव्य समझते थे। निर्गुण-पंथ उसी को प्रस्तुत करता है।

कुछ आलोचकों का विचार है कि एक नये पंथ को चलाने के लिए ही कबीर ने निर्गुण-भक्ति को अपनाया था। यह उनका भ्रममात्र है। निर्गुणोपासना में पंथ-प्रवर्तन की प्रवृत्ति नहीं थी, प्रत्युत कबीर की भावना मानव-प्रेम के लिए समतल भूमि बनाने की थी। वे एकतावादी थे। निर्गुणोपासना को नया पंथ इसलिए भी नहीं कह सकते कि उसमें कोई विशेष नई वस्तु नहीं

थी। इंट और रोड़े सब पुराने थे। यदि कोई नवीनता थी तो उनसे भानुमती का नया कुनबा जोड़ने में थी।

भक्ति के रूप को आगे बढ़ाने में कबीर का बड़ा हाथ रहा। अनात्मवादी बौद्धों ने देश में ही नहीं, बाहर भी अनीश्वरता के प्रचार में कोई कमी नहीं छोड़ी थी। सिद्धों ने सिद्धियों के प्रलोभन से जहाँ योग का प्रचार किया वहाँ अनीश्वरवाद को भी दृढ़ किया। उनके निरीश्वर योग में आत्मा और परमात्मा के लिए कोई स्थान नहीं था। इससे भागवत धर्म को बड़ा आघात पहुँचा। कबीर के समय अनास्था और अविश्वास लौकिक और आध्यात्मिक दोनों रूपों में बहुत बढ़े हुए थे। इससे मनुष्य के मन में सन्देह के साथ-साथ निराशा भी बढ़ गई थी। इन्हीं में कबीर के 'गुरण' की दुरवस्था का विशेष कारण निहित था। इसके उच्छेदन के लिए विश्वास और आशा की प्रतिष्ठा के लिए एक सामान्य भाव-भूमि की आवश्यकता थी जो कबीर को ईश्वरवाद के भीतर ही दिखाई पड़ी। यह ईश्वरवाद हिन्दू और मुसलमान दोनों के लिए सामान्य था, अतएव कबीर ने देश की सामाजिक एकता के लिए जिस भक्ति की प्रतिष्ठा की, वह नितराम् अपेक्षित थी। उसने हिन्दू और मुसलमानों के बीच की तथा सामाजिक ऊँच-नीच के भेद-भाव की गहरी खाई को अवश्य भरा।

कबीर की भक्ति का विरह-तत्त्व बड़ा ही सबल और सफल है। कबीर ने सूफ़ियों की प्रेमप्रधान भावात्मक साधना से कुछ नहीं लिया—यह कहना भी ठीक वैसा ही है जैसा हाथी को सामने खड़ा देख कर भी उसकी सत्ता को न मानना। यह बात भी नहीं कि कबीर ने सूफ़ियों का अन्धानुकरण किया है क्योंकि कबीर ने परमात्मा को प्रिय, पिता, माता, गुरु, स्वामी आदि अनेक रूपों में चित्रित किया है, जिन रूपों को सूफ़ी सम्प्रदाय मान्यता नहीं देता। सूफ़ियों के दाम्पत्य में परमात्मा प्रेयसी है, आत्मा प्रिय है पर कबीर के दाम्पत्य में हरि 'पीव' है और आत्मा 'बहुरिया'। पीव और बहुरिया के पीछे भारतीय दाम्पत्य की झलक है। कबीर की अभिव्यंजना भारतीय दाम्पत्य की अनुगामिनी है। इसमें भी कोई सन्देह नहीं कि कबीर की अभिव्यक्ति में आश्रय और आलम्बन से सम्बन्धित सूफ़ीमान्य आरोप भी स्पष्ट हैं। इस आरोप के लिए भारतीय

भक्ति-भावना में कोई स्थान नहीं। कृष्ण-भक्ति में गोपियों का पति-पत्नी-भाव आरोपित नहीं। इसके विरुद्ध सूफ़ी-साधना का सारा महल ही इसी आरोप की आधार-शिला पर खड़ा है।

ऐसा प्रतीत होता है कि कबीर के समय तक भक्ति और योग में संगति नहीं रही थी। दोनों के समर्थकों ने उनमें एकात्मता और संगति देखने की अपेक्षा असंगति को ही देखा। परिणामतः ज्ञान और भक्ति की भाँति भक्ति और योग के बीच में भी खाई-सी पट गई। यद्यपि नाथ-पंथ ने योग में प्रेम का पुट देकर उसे भक्ति के समीप लाने का प्रयत्न किया तथापि उसकी क्षीण रुचि शैवमत से आगे न चल सकी। नाथपंथ वैष्णव भक्ति से अपनी निकटता स्थापित न कर सका। कबीर ने योग की इस प्रवृत्ति को बड़ी सूक्ष्मता से देखा और उसे भक्ति में लाने का भगीरथ-प्रयत्न किया। श्रीरंग, हरि, राम, गोविंद, शिव आदि शब्दों से एक ही शक्ति की ओर संकेत करके योग को भक्ति से जोड़ दिया। इसका परिणाम यह हुआ कि भक्ति में चित्तवृत्ति की स्थिरता और योग में प्रेम-तत्त्व की प्रतिष्ठा होने से योग और भक्ति बहुत समीप हो गये।

कबीर की भक्ति बहुप्रयोजना है। वह निराशा और संदेह का निवारण कर आशा और विश्वास को दृढ़ करती है, एक ही परम शक्ति की प्रतिष्ठा कर लौकिक शक्तियों को चुनौती देती है, एक सत्य की मान्यता से अनेकता का निराकरण करती है और ज्ञान से अटूट सम्बन्ध जोड़कर प्रेम के आलम्बन की एकता को प्रतिष्ठित करती है। कबीर की भक्ति-पद्धति में अन्ध-विश्वासों के लिए कोई स्थान नहीं। किसी पद्धति या प्रथा को कबीर रूढ़ि के रूप में नहीं मानते। वे उसे ही मान्यता देते हैं जो प्रेममूलक, एकता के व्यवस्थापक, उनके बौद्धिक निकष पर खरा उतरता था। जिसमें समयानुकूल उपादेयता नहीं वह कबीर के मत में हेय है। पारस्परिक फट की जननी जाति-पाँति की प्रथा से उन्हें घोर घृणा थी। वे ब्राह्मण और चाण्डाल दोनों में मानवता के समर्थक थे। उनकी दृष्टि में प्रेम से परिष्कृत चाण्डाल दुराचारी ब्राह्मण से बहुत ऊंचा था। कबीर के अन्तर की इस प्रक्रिया में उनके मस्तिष्क और हृदय का सामंजस्य दीखता है। यही कबीर के 'ज्ञानी भक्त' की अभिव्यक्ति है।

कबीर भक्ति को आडम्बर से अलग मानते हैं। मस्जिद और मन्दिर, कुरान और वेद, ईमान और धर्म, तस्बीह और माला, दाढ़ी और चोटी आदि अपने तथा-कथित रूप में वाह्याडम्बर हैं। इनसे सामाजिक विकृतियाँ बढ़ती हैं, पारस्परिक राग-द्वेष को सहारा मिलता है। अतः कबीर इनको मान्यता नहीं देते; इनको न तो वे धर्म का ही लक्षण मानते हैं और न ईश्वर-प्रेम का ही। खुदा या परमात्मा मस्जिद या मन्दिर में नहीं मिलता, वह तो हृदय में प्रतिष्ठित है। हृदय के निर्मल होने पर ही उसका अनुभव होता है। इसीलिए कबीर कहते हैं :—

कबीर दुनिया देहुरै सीस नवावण जाइ।
हिरदा भीतर हरि बसै, तूं ताही सौं ल्यौ लाइ॥

परमात्मा प्रेम और दया में हैं, दम्भ और पाखण्ड में नहीं। खुदा की सच्ची बंदगी नमाज़ में नहीं है दया में है। जो नमाज़ पढ़ कर जीवहत्या करते हैं, वे कभी सत्यरूप परमात्मा के समीप नहीं पहुँच सकते। इसी प्रयोजन से वे काज़ी को चेतावनी देते हैं :—

यहु सब झूठी बंदिगी, बरियां पंच निवाज।
साँचै मारै झूठ पढ़ि, काजी करै अकाज॥

इस विवेचन के आधार पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि कबीर ने मानव-प्रेम को उदार बनाकर व्यापक ईश्वर-प्रेम में विलीन कर दिया तथा ज्ञान और भक्ति अथवा योग और भक्ति के बीच की गहरी खाई को भर कर भक्ति को ज्ञान और योग से परिपुष्ट करने का प्रयत्न किया। कबीर की ज्ञान-क्रिया-विशिष्ट भक्ति में तत्कालीन सभी विचार-धाराओं और साधनाओं का सार संगृहीत है।

पिछले अध्याय में जिन अनेक धार्मिक विचार-धाराओं की ओर संकेत किया गया है उनमें से प्रमुख थीं—१. सगुण वैष्णव-भक्ति-धारा २. ज्ञानाश्रयी निर्गुण-भक्ति-धारा ३. नाथपंथी योग-धारा ४. सूफ़ी-प्रेम धारा और ५. इस्लाम की एकेश्वरवादी धारा। कबीर की साधना में इन सबके उपकरण सार रूप में मिलते हैं। कबीर की साधना के सम्बन्ध में अनेक मत प्रस्तुत किये गये हैं। कबीर के आलोचकों ने अपनी-अपनी रुचि एवं खोज के अनुसार अपने-अपने

निर्णय दिये हैं। कुछ ने उन्हें सगुण भक्त कहा है, कुछ ने उन्हें ज्ञानी के रूप में देखा है, कुछ ने योगी माना है और कुछ ने सब-कुछ भुलाकर सूफ़ी और इस्लाम का अनुयायी कहा है। रुचि-वैचित्र्य उन्हें ईसाई-धर्म से प्रभावित कहने की सीमा तक पहुँच गया है। इन अनेक मतों के पीछे दो कारण दीख पड़ते हैं—एक तो यह कि कबीर ने कहीं भी अपने सिद्धान्तों का शास्त्रीय विधि से निरूपण नहीं किया और दूसरा यह कि उनके सार-ग्रहण में अनेक मत-मतान्तरों का अन्तर इतना सूक्ष्म हो गया है कि उसके रहस्य का उद्घाटन सरलता से नहीं किया जा सकता। सच बात तो यह है कि कबीर भक्तों की वनखण्डी के मधुकर थे, सार-संग्रही थे। उनमें किसी की अनुयायिता नहीं थी और न ही विरोध।

यह तो स्पष्ट ही है कि कबीर पर अपने समकालीन वातावरण का प्रभाव पड़ा, किन्तु प्रभाव को सक्रिय बनाने में वे बड़े ही सतर्क थे। इसका परिचय हमें उनकी सार-स्वीकृति और विकार-बहिष्कृति में मिलता है। हमें यह भी स्मरण रखना चाहिये कि कबीर ने किसी मत या पंथ का खण्डन या उपहास नहीं किया। हाँ, उनमें आ जाने वाले विकारों पर उन्होंने अवश्य ही व्यंग्यों का कशाघात किया है। दम्भ, पाखंड और धूर्तता के प्रति तो वे बड़े ही कटु हो गये। उनकी यह कटुता असत्य और असार के प्रति थी, सार-सत्य के प्रति नहीं। इस तथ्य की झाँकी हमें इस पद में मिल सकती है :—

काजी कौन कतेब बखानें।
पढ़त-पढ़त केते दिन बीते, गति एकै नहीं जानै॥
सकति से नेह पकरि करि सुंनति, यहु नबदूं रे भाई।
जोर षुदाइ तुरक मोहि करता, तौ आपै कटि किन जाई॥
हौं तो तुरक किया करि सुंनति औरति सौं का कहिए।
अरध सरीरी नारि न छूटै, आधा हिन्दू रहिए॥
छाँड़ि कतेब राम कहि काजी खून करत हौ भारी।
पकरी टेक कबीर भगति की, काजी रहे झष मारी॥

कबीर का कहना है कि धर्म का लक्षण वेशभूषा नहीं है, उसका सार सत्य है जो एक है। उसे किसी भी धर्म या पंथ से देखा जा सकता है। ढोंग-

ढकोसले उस सत्य को छुपाते हैं, इन्हीं की ओट में वह अनेकता में विभक्त-सा दीखता है :—

कबीर यहु तो एक है पड़दा दीया भेष ।
भरम करम सब दूरि करि, सबहीं मांहि अलेप ।।

तिलक-छापा, वेष-भूषा, मंदिर, मस्जिद आदि भेद-सूचक हैं, भ्रममूलक हैं, सत्य नहीं हैं। भेद-बुद्धि इस संसार-सागर से कभी पार नहीं उतार सकती :—

कबीर इस संसार कौं, समझाऊं कै वार ।
पूंछ जु पकड़ै भेद की, उतरया चाहे पार ।।

इससे स्पष्ट है कि कबीर अपने वातावरण को बड़ी सूक्ष्मता से देख रहे थे। उसके प्रभाव उनके चारों ओर छा रहे थे। उन्होंने केवल उसे ही स्वीकार किया जो उनकी मानसिक तुला पर पूरा उतरा। वे चतुर शिल्पी की भांति प्रभाव के प्रस्तर को अपनी बुद्धि की टांकी से तराश कर, अपनी रुचि के अनुकूल गढ़कर उस पर अपने व्यक्तित्व की छाप लगा देते थे। इसीलिए वे वैष्णव, सूफ़ी, योगी आदि अनेक रूपों में आलोचकों के समक्ष आ प्रकट होते हैं।

कबीर ने अपने पंथ का आधार उस वैष्णव-धर्म को बनाया जिस पर उपनिषदों की शिक्षा का विशेष प्रभाव है। उनके निर्गुण ब्रह्म, आत्मा और ब्रह्म का अभेद तथा एकत्व के ज्ञान से मुक्ति आदि के सिद्धांत मूलतः उपनिषदों में ही मिलते हैं। 'भगति नारदी मगन सरीरा, इहि विधि भव तरि, कहै कबीरा'—शब्दों से वैष्णव-भक्ति के प्रति उनका आकर्षण स्पष्ट है। वैष्णव-धर्म के प्रति अपनी प्रवृत्ति के कारण ही तो वे सिहर कर कह उठते हैं :—

कबीर धनि ते सुन्दरी, जिन जायो वैसनों पूत ।
राम सुमिरि निरभै हुआ, सब जग गया अऊत ।।

कबीर के कुछ सिद्धांतों की प्रवृत्ति वैष्णव-धर्म के अनुरूप है। कर्मवाद, पुनर्जन्मवाद, अहिंसावाद, भाग्यवाद, भक्ति, ज्ञान, वैराग्य आदि के प्रति कबीर की आस्था और श्रद्धा वैसी ही है जैसी वैष्णव भक्त की होती है।

इसके अतिरिक्त कबीर का परिचय बौद्ध-धर्म के महायानी रूप, वज्रयान, सहजयान, निरंजन-पंथ, तन्त्रमत और नाथ-पंथ और जैन-धर्म से भी है। कबीर

की वाणी को देखकर ऐसा प्रतीत होता है कि वे सहजयानी और नाथपंथी सिद्धान्तों से विशेष प्रभावित हैं। बाबा गोरखनाथ के प्रति उनका बड़ा आदर दीख पड़ता है, किन्तु उन नाथपंथी योगियों को खरी सुनाने में वे बिल्कुल नहीं हिचकते जिन्होंने योग को किंगरी, मेखला, सींगी, जनेव, घंघारी, रुद्राक्ष, अधारी, गूदरी, खप्पर, झोला आदि में ही परिमित कर लिया है। इन चिह्नों को वे बाह्याडंबर मानते हैं और इनकी निंदा करते हैं। वे योगी के स्वरूप की मीमांसा करते हुए कहते हैं :—

सो जोगी जाके मन में मुद्रा।
राति-दिवस न करई निद्रा ॥
मन में आसन, मन में रहना।
मन का जप तप मनमू कहना ॥
मन में खारा मन में सींगी।
अनहद नाद बजावै रंगी ॥
पंच परजारि भसम करि भूका।
कहै कबीर सो लहसै लूका ॥

उनके अन्य कई पदों से भी यही प्रकट होता है कि नाथ-पंथ के बाह्याडंबरों को भी उन्होंने आड़े हाथों लिया। वे तो बाबा गोरखनाथ के अलख जगाने तक के भी समर्थक नहीं, न वे उनकी साधना की प्रमुखता को ही स्वीकृति देते हैं। कबीर के लिए साधना गौण है, राम की कृपा मुख्य है। वे उस कृपा में विश्वास के समर्थक हैं। कबीर के राम उदार, भक्तवत्सल हैं और गोरखनाथ सिद्धों की ज्योति के उस व्यक्त रूप में आस्था रखते हैं जो निरंजन है। यही कबीर का गोरख से अलगाव है। दोनों में एक और भी अन्तर है। कबीर के गुरु, आत्मा और परमात्मा के बीच की कड़ी ही नहीं हैं, अपितु परमात्मा के समकक्ष या साक्षात् परमात्मा हैं। उधर बाबा गोरखनाथ के गुरु कायिक साधना और योग के विशेषज्ञ हैं। पारिभाषिक शब्दावली के क्षेत्र में गोरखनाथ का कबीर पर बहुत प्रभाव है। नाद, विन्दु, सुरति, निरति आदि शब्द जिनका प्रयोग कबीर-वाणी में अनेक बार हुआ है, गोरखनाथ की टकसाल के ही सिक्के हैं। खंडन-मंडन

की शैली और तीव्र प्रयोग भी कबीर ने गोरखनाथ से ही सीखे हैं। उनके वाक्यों में सिद्धों और नाथों का अक्खड़पन भी दृष्टिगोचर होता है, पर कबीर के व्यक्तित्व की छाप सब पर स्पष्ट है। उनका व्यक्तित्व उनकी भाषा और अर्थ में है। सहज, समाधि, शून्य, षट्चक्र, इड़ा, पिंगला, सुषुम्ना आदि पर उन्हीं का रंग चढ़ा हुआ है।

कबीर के 'अजपा जाप', 'उलटी चाल' या 'उलटी गंगा' आदि कुछ शब्द ऐसे हैं जिनको हम निरंजन सम्प्रदाय में खोज सकते हैं। इसी प्रकार चक्रभेदन, कुण्डलिनी-चालन आदि बातें कबीर ने तंत्र-मत से ली हैं। कुण्डलिनी की मान्यता शाक्तों से ली, पर उनके असंयत आचरण के प्रति कबीर को बड़ी घृणा थी।

इन सब प्रभावों के फलस्वरूप कबीर का 'मध्यम मार्ग' बड़े समृद्धरूप में प्रकट हुआ। उसमें व्यवस्थित साधना का विकास हुआ, भक्ति और योग की संगति पुष्ट हुई। माया के व्यावहारिक और सैद्धान्तिक भेदों के बल पर माया-वाद को तर्क-भूमिका पर खड़े होने की शक्ति प्राप्त हुई। कबीर ने धर्म को अत्यन्त सहज, सरल, सात्त्विक और बुद्धिवादी रूप देकर समाज के साथ उसका निकट सम्बन्ध स्थापित किया। इससे सहजरूप में धार्मिक दर्प-दंभ खंडित हुआ, अंधा-नुसरण एवं रूढ़िवादिता को आलोचना का सामना करना पड़ा।

साहित्यिक वातावरण और प्रभाव—

कबीरकालीन भारतीय जीवन में वह स्पन्दन नहीं था जो साहित्य-सृजन की प्रेरणा देता है। उसमें आकर्षण था, पर अत्याचार और उत्पीड़न के बर्बर हाथों में उसकी आशा का आकाश विकलता के बादलों से धूमिल था, भय भूखा भेड़िया बन चारों ओर भाग रहा था, अशान्ति जीवन-सहचरी की तरह प्रत्येक हृदय में घर कर चुकी थी, निराशा की काली निशा में कोई मार्ग नहीं सूझ रहा था और जनजीवन दरिद्रता के दारुण दाह से विकल और दयनीय था। पाखण्ड और दंभ का बोल-बाला था। राजनीतिक षड्यन्त्र हृदय में विष उँडेल रहे थे, बुद्धि विधवा-सी वैभव-विहीन बन बैठी थी, मन मलिन हो चुके थे। भला ऐसे विषमय, विषम वातावरण में साहित्य कैसे साँस ले सकता था?

कराल करवाल की कल कीर्ति कुण्ठित हो गई। कहीं-कहीं टिमटिमाता राजपूत दीपक इस्लाम की आंधी के अँधेरे में स्वयं सो गया। वीर-पूजा विलीन हो गई, और वैराग्य-भावना अधिकांशतः अभिव्यक्ति की प्रेरणा बन गई। उसका स्तर ऊँचा होने लगा। वज्रयान, सहजयान, कालचक्रयान जैसे सम्प्रदायों के अनुयायी अब भी अपनी साधनाओं में निरत रहते थे। उनको अपने सिद्धान्तों और आदर्शों की ही चिन्ता थी। यदि उनका समाज से कोई सम्बन्ध था तो अपने सिद्धान्तों के समर्थन के लिए। जहाँ उनके सिद्धान्त नहीं थे वहाँ उनको घृणा थी। सिद्धों और नाथों की वाणियों में अनेक स्थानों पर ऐसे स्वर का संक्रम भी होता दीखता है जिसमें सन्त-वाणी का बीज दिखाई पड़ता है। ऐसी बात नहीं कि सन्त-वाणी अपनी पूर्व वाणी से सर्वथा साम्य ही रखती थी, वह उसका विरोध भी करती थी। विरोध के स्वर में सन्तों ने अपने पूर्ववर्तियों को 'संशयग्रस्त' एवं 'मायानिरत' बतलाया है। इससे स्पष्ट है कि सन्त-मत अपनी स्वतन्त्रता में प्रकट हुआ।

नामदेव, त्रिलोचन, सदना आदि ने सन्त-वाणी-परम्परा को और आगे बढ़ाया। इन वाणियों में ब्रह्म, माया और जीव से भी अधिक जगत और शरीर की अस्थिरता के वर्णनों और उपदेशों की प्रचुरता थी। बंगाल में गीतगोविंद के रचयिता जयदेव ने अपनी मौलिक उद्‌भावना से एक नई शैली को जन्म देकर ब्रह्म-निरूपण की धारा को नई दिशा प्रदान की, किन्तु उस समय उसकी गणना सन्त-साहित्य के साथ की जाती थी। कबीर की वाणियों में इन दोनों धाराओं का संगम स्पष्ट है। कुछ लोग कबीर को सन्त-मत का प्रवर्तक मानने की भूल कर सकते हैं, किन्तु हम तो उनको सन्तमाला की मध्य-मणि ही कहना समीचीन समझते हैं। उन्होंने साहित्य को जो कुछ दिया यद्यपि वह संग्रह है पर उसमें भक्तिवाटिका के प्रत्येक पुष्प का पावन पराग है, मधुर मकरन्द है।

उस समय साहित्य में काव्यांगों का प्रयोग नाममात्र के लिए ही होता था। प्रबन्ध-काव्य तो बहुत ही कम रचे जाते थे। मुक्तक क्षेत्र में चहल-पहल थी। आबद्ध परम्परा के पुजारी ही कुछ करते दिखाई देते थे। जिस प्रकार जैनों और चारणों के स्वर में कोई प्रगति नहीं दीख पड़ती थी उसी प्रकार सन्त-वाणियों में भी पिष्टपेषण ही था जो मुक्तक रूप में चल रहा था।

साधारणतया साहित्य में जीवन के प्रवृत्ति-मूलक तथा निवृत्तिमूलक, दोनों ही दृष्टिकोण विद्यमान थे। पहले से लौकिक साहित्य का सृजन हो रहा था और दूसरा वैराग्य तथा अध्यात्म-सम्बन्धी काव्य को प्रेरित कर रहा था। जिस प्रकार नागार्जुन के शून्यवाद ने निवृत्तिमूलक दृष्टिकोण को प्रेरित किया था उसी प्रकार शंकर के मायावाद ने भी उसे ही प्रोत्साहन दिया था। इस के अतिरिक्त राजनीति के विक्षुब्ध वातावरण तथा समाज की विषमताओं ने भी निवृत्तिमूलक दृष्टिकोण को ही सामाजिक बढ़ावा दिया था।

यह तो पहले ही कहा जा चुका है कि वीर-वन्दना का प्रचलन अब भी था। सामन्ती दरबारों में शास्त्रीय दृष्टि से कविता करने वाले कवियों का अभाव नहीं था। वे राज-सभाओं में लब्ध-प्रतिष्ठ भी थे। पाण्डित्य-प्रदर्शन ही उनकी रचनाओं में प्रमुख था। इस काल की कृतियां आन्तरिक-प्रेरणा-प्रसूत नहीं थीं। ये आश्रयदाताओं की प्रशस्ति के निमित्त की जाती थीं। इन पर भय और लोभ का रंग चढ़ा था। वास्तविकता बहुत कम थी ; हां, कला की कलाबाजियां अवश्य थीं। अभिप्राय यह है कि कबीर का पूर्ववर्ती साहित्य-प्रयोजन परवश था पर सन्त-काव्य अन्तःप्रेरणा से प्रसूत हुआ। यद्यपि इसमें मत के प्रचार और प्रसार की भावना है, पर है गौण। दरबारी कवि अपने सामन्तों की विरुदावली में अपनी कला का चमत्कार दिखाने में ही अपने को कृतकृत्य मानते थे, किन्तु ऐसे कवि भी अधिक नहीं थे।

देश के अनेक भागों में, प्रमुखतया पश्चिमी भाग में, जो जैन साधु साहित्य-रचना करते थे, उनकी रचनाओं की मूल प्रेरणा धार्मिक प्रचार और कला-कौशल के प्रदर्शन का लोभ थी; इसलिए वे प्राचीन कृतियों के नवीनीकरण से ही प्रायः सन्तुष्ट थे।

कबीर के पूर्ववर्ती साहित्य में वर्णाश्रम धर्म का विपुल विरोध दिखाई देता है। बौद्ध धर्म के प्रचार के साथ-साथ ही भारतीय साहित्य में इस विरोध का प्रजनन हो गया था। सिद्धों ने उसे कम न होने दिया। भारत में इस्लाम के जमने पर उसको अधिक उत्तेजना मिली। उस समय की अधिकांश रचनाएं

समाज को विभाजित करने का प्रयत्नमात्र हैं। सन्तवाणी में उसके एकसूत्रीकरण की चेष्टा स्पष्ट है।

यदि यह कहा जाय कि उस समय साहित्य-निर्माण निष्प्राण-सा हो रहा था, तो कुछ अनुचित नहीं। वातावरण में अनुभूति तो तीव्रतर थी पर अभिव्यक्ति की साधन प्रतिभा का सर्वथा अकाल पड़ रहा था। प्रतिभाशक्ति के बिना अभिव्यक्ति में मौलिकता नहीं आती। मौलिक अभिव्यक्ति के बिना अनुभूति अपने में ही समाप्त हो जाती है।

उस समय संस्कृत भाषा सामाजिक जीवन से अपना सम्बन्ध विच्छिन्न कर चुकी थी। यद्यपि त्रावनकोर से कश्मीर तक संस्कृत अब भी विद्वानों और दार्शनिकों की भाषा बनी हुई थी, किन्तु सिद्ध-सम्प्रदाय ने देश के तत्कालीन साहित्यिक वातावरण में बड़ी क्रान्ति पैदा कर दी थी। उसने केवल संस्कृत भाषा के मूल पर ही कुठाराघात नहीं किया, अपितु जैन-भाषा के विकास में भी बहुत बड़ा सहयोग दिया। इन्हीं के हाथों में एक नई अभिव्यंजना-शैली को भी जन्म मिला जिसकी भाषा को विद्वानों ने 'संध्या-भाषा' कहा है। अपभ्रंश के भग्नावशेष उनकी लेखनी में अब भी निहित थे। मुसलमानों के सम्पर्क ने भी लोक-भाषाओं को बड़ा प्रोत्साहन दिया था। गुजराती, बंगाली, मराठी, मारवाड़ी और ब्रज आदि भाषाएँ अपभ्रंश की गोद में अपना-अपना रूप सँवार रही थीं।

संध्या-भाषा कोई भाषा नहीं थी। वह तो एक शैली थी जिसमें उलटे अर्थों का प्राधान्य था। नाथों और तान्त्रिकों में उसका बहुत प्रचलन था। उसमें वाच्यार्थ के असंगत होने पर कोई सांकेतिक अर्थ ग्रहण किया जाता था। वह शैली साम्प्रदायिक थी जिसका क्षेत्र सीमित था। साधारण क्षेत्रों में उसके संकेतों को अधिक प्रोत्साहन नहीं मिला क्योंकि उसके रूढ़ार्थ, कभी-कभी घोर गर्हणीयता तक पहुँच जाने से लोकप्रियता न पा सके।

'सन्ध्या-भाषा' ने एक ओर तो अपने प्रवर्तकों के आचरण की कलई खोली, दूसरी ओर साहित्य की प्रतीक-पद्धति को आगे बढ़ाया। उसी से उलटबाँसियों का प्रचलन हुआ। यों तो प्रतीक-प्रयोग कोई नई वस्तु नहीं था और न उलटबाँसियों में ही कोई नवीनता थी। कूट और विरोधाभास में इनका बीज

विद्यमान था, किन्तु निरूपण-शैली में नूतनता अवश्य थी।

उस समय की शब्दावली में विविधता थी। योग, तन्त्र आदि से सम्बन्धित उक्तियां प्रायः विदेशी शब्दों से मुक्त थीं, परन्तु सन्त-वाणियों को, फ़ारसी-अरबी के अनेक शब्दों ने, देश की भाषा के शब्दों में मिलकर एक निर्वर्णीय रूप दे दिया था। इन शब्दों के प्रचलन के लिए प्रायः मुस्लिम संस्कृति का सम्पर्क ही हेतु रूप था। सूफ़ीमत के प्रचार और राजनीतिक परिस्थितियों ने भी उक्त शब्दों के प्रचलन को आगे बढ़ाया था। सम्मिलित समाज के ढांचे में इनका प्रयोग अस्वाभाविक नहीं था। लोक-व्यवहार से आये हुए विदेशी शब्दों को तत्कालीन सिद्धानुयायी बड़े उत्साह से मान्यता देते थे क्योंकि उनके हृदय में संस्कृत के विरोध की भावना निहित थी।

उस समय की भाषा का निर्णय करना आज के आलोचक के लिए एक समस्या है। अपभ्रंश ने अपना दायित्व अपनी बोलियों को सौंप दिया था, पर प्रमुखता पाने के लिए उनमें प्रतिस्पर्द्धा अब भी चल रही थी। शौरसेनी या महाराष्ट्री अपभ्रंश की भांति अभी किसी बोली को प्रमुखता नहीं मिली थी। इससे कोई भी भाषा अभी तक साहित्यिक स्थिरता प्राप्त नहीं कर सकी थी। जैन और चारण कवि अब भी अपभ्रंश का पल्ला पकड़े हुए थे। बोलियों में अपभ्रंश का पूरा पुट था। विद्यापति ठाकुर जैसे कवि भी अपनी भाषा में अपभ्रंश का पुट दे रहे थे। हां, सन्तों ने अपनी वाणियों में एक नई परम्परा को जन्म दिया था जिसमें अनेक प्रमुख बोलियों के शब्दों के सम्मिश्रण की स्वीकृति थी। उनकी भाषा को विद्वानों ने 'सधुक्कड़ी' भाषा कहा है। 'सधुक्कड़ी' शब्द सन्तों की भाषा को साधारण भाषा से पृथक् कर देता है। मिले-जुले शब्दों के प्रयोग से बनी हुई भाषा को 'सधुक्कड़ी' नाम यदि 'हिन्दुस्तानी' जैसे अर्थ में दिया गया है तो उसमें निहित लोकतन्त्रता के प्रति संकेत स्पष्ट हो जाता है। अनेक स्थानों में भ्रमण करने वाले, एवं अनेक स्थानों से सम्बन्धित शिष्यों के सम्पर्क में आने वाले, साधुओं की वाणियों में मिले-जुले शब्दों का प्रयोग बहुत स्वाभाविक था। सन्तों की वाणी में प्रतिस्पर्धी भाषाओं की एकता और व्यापकता का स्वर था। यद्यपि उनकी यह कामना आज तक सफल नहीं हो पाई, तथापि अनेक बाधाओं

के गर्भ में अब तक भी प्रयत्न चल रहे हैं। वह दिन बहुत दूर नहीं जबकि सन्तों का स्वर देशव्यापी भाषा की एकता में मिले-जुले शब्दों से प्रतिध्वनित हो उठेगा।

अभी तक छन्द-क्षेत्र में कोई नवीनता नहीं आई थी। दोहा, चौपाई, सबद, रमैणी, गीत, बानी आदि का प्रयोग रूढ़ हो गया था। इन्हीं को प्रमुख सन्तों के शिष्य-प्रशिष्य जहां-तहां गा-गा कर लोगों को मुक्ति का साधन बताते फिरते थे। कहने की आवश्यकता नहीं कि वह तानपूरे का साहित्य था।

गीतों का जो रूप संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश में प्रचलित था वह अब बदलने लगा था। 'गीतगोविंद' ने गीत की एक नई शैली और नई परम्परा को जन्म देकर लोक-भाषाओं के क्षेत्र में गीत के लिए एक अभिनव वातावरण उत्पन्न कर दिया था। विद्यापति के पद उसी का परिणाम थे। यद्यपि सिद्ध लोग भी पद-शैली का प्रचलन कर चुके थे, किन्तु विद्यापति से पूर्व पदों को केवल साम्प्रदायिक स्वीकृति ही मिली थी। विद्यापति ने उनको साहित्यिक स्वीकृति देकर उनके इतिहास में एक नूतन अध्याय का प्रारम्भ कर दिया था। उसी परम्परा का निर्वाह, कुछ अधिक विस्तार से, सन्तों ने किया।

तत्कालीन पदों को देख कर यह कहना अनुचित न होगा कि संगीत का विरोध सिद्धों के सम्प्रदाय में भी नहीं रह गया था। उस समय पद स्वयं एक छन्द बन गया था, किन्तु दो पदों में मात्रा-भेद अथवा राग-भेद हो सकता था। लोक-भाषाओं में पदों को प्रायः भक्ति, वैराग्य आदि के क्षेत्र में ही अधिक महत्व मिला था। यों तो विद्यापति के बाद भी पदों में श्रृंगार-रचना हुई, किन्तु उनके प्रसार में भक्ति और अध्यात्म का धरातल ही प्रमुख रहा।

उस समय का सर्वप्रिय छन्द 'दोहा' था जो लोक-भाषाओं को अपभ्रंश से मिला था। चौदहवीं शताब्दी के अन्त तक तो वह राजा से रंक तक, सभी का कंठहार बन गया था। उसकी उपयुक्तता सभी रसों में स्वीकार कर ली गई थी। सभी धर्मों, सम्प्रदायों और वर्गों ने इसका स्वागत करके इस छन्द को साहित्यिक ही नहीं, प्रत्युत प्रचारात्मक अभिव्यक्ति के लिए भी अनिवार्य साधन बना दिया था। यह कहना असमीचीन नहीं होगा कि 'दोहा' को सिद्धों से भी अधिक जैनों और चारणों से परिपोषण प्राप्त हुआ। इसमें सन्देह नहीं कि दोहा की सरलता

ही उसकी लोकप्रियता का प्रमुख कारण थी। उसने कलात्मक भेद-उपभेदों में भी जिस प्रकार अपनी लोक-प्रियता को अक्षुण्ण रखा उसी प्रकार सरलता को भी। सच तो यह है कि दोहा लोक-जीवन का एक अंग बन गया। इसको सबसे बड़ी सहायता चौपाई और चौपई से मिली। ऐसी बात नहीं कि वह चौपाई या चौपई से अलग रहा ही नहीं, वह अनेक प्रबन्ध-काव्यों में था, पर अधिकांशतः उन्हीं के साथ। कबीर के पदों और रमैणियों में दोहा की साहचर्य-लीला स्पष्ट है।

संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि यह समय सांस्कृतिक संघर्ष का समय था। युग-प्रवृत्तियां ऐसे वातावरण की प्रतीक्षा कर रही थीं, जिसमें आदान-प्रदान की संभावनाएं बढ़ें तथा अस्थिर और निराश जीवन को सान्त्वना मिले। कबीर से पूर्व के काव्य में जीवन और समाज में समरसता लाने वाली शक्ति का अभाव था। प्रायः प्रयत्नों का प्रवाह विपरीत दिशा में था। इसीलिए लोक-जीवन को कबीर की 'वाणी' की बड़ी आवश्यकता थी।

अध्यात्म-दर्शन

यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि कबीर का साधना-पक्ष बड़ा प्रबल है। कबीर योगी भी हैं और भक्त भी। योग को वे प्रेम-सिद्धि का ही एक साधन मानते हैं अन्यथा हरि-प्रेम के सामने वे योग को व्यर्थ न कह डालते। इतना ही नहीं, हरि-प्रेमी कबीर ने ज्ञान तक को व्यर्थ कह दिया है। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि योग और ज्ञान की उनके लिए कोई उपयोगिता ही नहीं थी। वे योग को वृत्तियों के दमन के लिए और ज्ञान को तात्त्विक बोध के लिए भक्ति का सहयोगी मानते हैं।

योग उनकी व्यक्तिगत साधना है जिसका सम्बन्ध केवल उन्हीं से है। प्रेम में उनकी व्यक्तिगत साधना का उदय आत्म-प्रसार से होता है, जहां योग का कोई

काम नहीं है, किन्तु ज्ञान उस आत्म-प्रसार के विश्लेषणात्मक बोध के लिए भी आवश्यक रहा है। जैसे-जैसे उन्होंने आत्म प्रसार को समझा वैसे-वैसे उनका प्रेम व्यापक एवं गहन होता गया। यहाँ तक कि उनका सुधारवादी दृष्टिकोण भी ज्ञान से प्रेरित है। उनके इस दृष्टिकोण में जहाँ ज्ञान की प्रेरणा है वहां प्रेम का आश्लेष भी है। ज्ञान ने उनके प्रेम को परिमार्जित करके चमका दिया है जिससे उन्हें समदृष्टि प्राप्त हुई है। ज्ञान सत्य का उद्घाटन करता है जिसे कबीर ने श्रेय और प्रेय, दोनों रूपों में देखा है।

कबीर के ज्ञान की दो भूमिकाएँ हैं जो उनके चिन्तन पर आधारित हैं। एक भूमिका पर वे लोक-कल्याण में प्रवृत्त होते हैं, जहां वे सुधार के प्रस्ताव एवं कुत्साओं की भर्त्संना करके विषमता को समता से पाटना चाहते हैं। दूसरी भूमिका पर वे परमात्मा के प्रेम में निमग्न होते चले जाते हैं। उनके प्रेम की चरम परिणति, प्रिया, प्रेम और प्रेमी की एकता में होती है।

कहने की आवश्यकता नहीं कि कबीर का ज्ञान-क्षेत्र अद्वैतपरक है, किन्तु प्रेम-क्षेत्र के पथिक कबीर का प्रस्थान-बिन्दु द्वैतपरक है। प्रेम दो के बीच का भाव है अर्थात् आश्रय और आलम्बन के बीच में प्रेम पुल का काम करता है, किन्तु प्रेम की एक विशेषता है कि वह अपनी अनन्यता की दशा में प्रेमी को प्रिय से अभिन्न बना देता है। इस तथ्य की पुष्टि कबीर के ही शब्दों से की जा सकती है :—

> तू तू करता तू भया, मुझ में रही न हूं।
> वारी फेरी बलि गई, जित देखौं तित तू ॥

अतएव प्रेम अपने आरम्भ में द्वैतपरक तथा परिणति में अद्वैतपरक है। उस अद्वैत की विवेचना कबीर के चिन्तन-क्षेत्र की वस्तु है। वह अद्वैत तत्त्व क्या है, इसका उत्तर कबीर ने अनेक प्रकार से दिया है।

अद्वैत तत्त्व—

वह अद्वैत तत्त्व अद्भुत है, कहने में नहीं आ सकता और हो सकता है कि कहे हुए पर सुनने वाले को विश्वास न हो क्योंकि सुनने वाले की अनुभूति भिन्न हो सकती है। इसीलिए कबीर कहते हैं :—

पारब्रह्म के तेज का कैसा है उनमान।
कहिवे कूं सोभा नहीं, देख्या ही परवान ।।

उस अद्वैत तत्त्व को कबीर ने अनेक नामों से अभिहित किया है। परब्रह्म, ब्रह्म, परमात्मा, हरि, निरंजन, अलख, खालिक, निर्गुण, भगवान, राम, पुरुषोत्तम आदि अनेक नामों से वे उसी अद्वैत तत्त्व की ओर संकेत करते हैं। वह गुण-विहीन है। उसका न कोई रूप है, न रंग। उसमें देखने की भी कोई वस्तु नहीं है। उसका कोई नाम भी नहीं रखा जा सकता क्योंकि वह निर्गुण और निराकार है। इसीलिए कबीर अपनी समस्या प्रस्तुत करते हुए कहते हैं :—

अवगति की गति क्या कहूं, जस कर गांव न नांव।
गुन विहूंन का पेखिये, काकर धरिये नांव ।।

सामर्थ्य एवं शक्ति—

उस अद्वैत तत्त्व के सम्बन्ध में कबीर की अनुभूति अद्‌भुत है। वहां कारण के विना ही कार्य हो जाता है। "वह मुख के विना खा सकता है, चरणों के विना चल सकता है, जिह्वा के बिना बोल सकता है, स्थान को छोड़े विना ही दसों दिशाओं में फिर सकता है, हाथों के विना ताली वजा सकता है, वाजे के विना संगीत प्रस्तुत कर सकता है और शब्द के विना अनाहत नाद ध्वनित कर सकता है। उसे कोई विरला ही जान सकता है।" यह वर्णन उस अद्वैत तत्त्व की शक्ति और सामर्थ्य का द्योतक है। इस प्रकार का वर्णन कबीर की कोई विशेषता नहीं है। उपनिषदों ने भी उसकी शक्ति एवं प्रभुता का वर्णन इसी प्रकार किया है। 'अपाणिपादो जवनो ग्रहीता पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः आदि शब्दों में श्वेताश्वतर उपनिषद् ने उसकी महिमा का प्रतिपादन किया है तथा "आसीनो दूरं व्रजति शयानो याति सर्वतः" कहकर कठोपनिषद् ने परमात्मा की महिमा के वर्णन करने की उसी शैली का उपयोग किया है।

देश-काल—

कोई कृति उसके लिए असम्भव नहीं है किन्तु वह किसी कृति में आवद्ध भी नहीं है। देश और काल की सीमाएं भी उसे आवद्ध नहीं करतीं। न वह दूर है न निकट है। जिसके सम्बन्ध में न उदय का प्रश्न उठता है, न अस्त का।

न उसका आदि है और न अन्त। वह काल के विकारों से परे है। न वह बाल है, न युवा और न वृद्ध ही। वह अजर-अमर कहा जाता है। न वहाँ दिन है, न रात है; समय का कोई चिह्न भी वहाँ नहीं है—

तहाँ न ऊगै सूरज चन्द, आदि निरंजन करै अनन्द।

एक अन्य स्थान पर 'जाकै सूरज कोटि करैं परकास' तथा 'कोटि चन्द्रमा गहैं चिराक' कहकर उस अद्वैत तत्त्व को सूर्य और चन्द्रमा का कारण भी सिद्ध कर दिया है। कबीर की इस उक्ति को मुण्डकोपनिषद् का समर्थन प्राप्त है:—

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्र-तारकं,
नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः।
तमेव भान्तमनुभाति सर्वं,
तस्य भासा सर्वमिदं विभाति॥

अवस्था—

वह तत्त्व किसी अवस्था को प्राप्त नहीं होता। वहाँ न संयोग है और न वियोग, न धूप है और न छाया। उसे न शीतल कह सकते हैं, न तप्त। वह न उत्पन्न होता है और न नष्ट होता है। इसलिए कबीर उसे 'सत्य' कहते हैं।

सत्य—

सत्य वह है जो स्थिर रहता है, जो विकार को प्राप्त नहीं होता। जहाँ विकार होता है वहाँ विनाश की स्थिति भी निश्चित है और जहाँ विकार और विनाश है वहाँ सत्य नहीं है। जो उत्पन्न और विनष्ट होता है वह असत्य (झूठ) है।

सत्य की खोज—

उस सत्य की विवेचना वे औपनिषदिक ढंग से 'नेति-नेति' की शैली में करते हैं। उस अद्वैत तत्त्व को 'इत्थमिदं' कहकर सीमित नहीं किया जा सकता। अतएव वे उसकी विलक्षणता को 'ऐसा भी नहीं, ऐसा भी नहीं' कह कर ही प्रतिपादित करते हैं:—

देवी न देवा पूजा नहीं जाप, भाइ न बंध माइ नहीं बाप।

+ + +

अमिलन मिलन घाम नहीं छांहा, दिवस न राति नहीं है तांहा ॥

+ + +

मुंनि असथूल रूप नहीं रेखा, द्रिष्टि, अद्रिष्टि छिप्यौ नहीं पेखा।

बरन अबरन कथ्यौ नहीं जाई, + + +

आदि अंति ताहि नहीं मधे, कथ्यौ न जाई आहि अकथे ॥

वह सत्य अखण्ड एवं पूर्ण है। वह सर्वव्याप्त एवं निर्विकार है। उसको किसी विशेष व्यक्ति, वस्तु या स्थान में देखना अनुचित है क्योंकि उसकी अखंडता अक्षुण्ण नहीं रहती। किसी प्रकार की सीमा उस अखण्ड, अनन्त एवं पूर्ण सत्य को व्यक्त नहीं कर सकती। इस कारण कबीर उपनिषद् के स्वर में उस सत्य की व्यक्तिगत सीमा का विरोध करते हुए कहते हैं :—

ना जसरथ घरि औतरि आवा, ना लंका का राव संतावा।

देवै कूखि न औतरि आवा, नां जसवै लै गोद खिलावा।

ना वो ग्वालन कै संग फिरिया, गोबरधन ले ना कर धरिया।

बांवन होइ नहीं बलि छलिया, धरनीं बेद लेन उधरिया।

गंडक सालिगराम न कोला, मंछ कछ ह्वै जलहिं न डोला।

बद्री बैस्य ध्यांन नहीं लावा, परसरांम ह्वै खत्री न संतावा।

द्वारामती सरीर न छाड़ा, जगननाथ ले प्यंड न गाड़ा।

कहै कबीर बिचारि करि, ये ऊंले व्योहार।

याही थैं जे अगम है, सो वरति रह्या संसारि॥

इसी शैली में वे और भी आगे कहते चले जाते हैं :—

ना इहु मानुष ना इहु देव, ना इहु जती कहावै सेव।

ना इहु जोगी ना अवधूता, ना इसु माइ न काहू पूता।

+ + +

ना इहु गिरही ना ओदासी, ना इहु राज न भीख मंगासी।

ना इहु पिंड न इकतू राती, ना इहु ब्रह्मन ना इहु खाती॥

ना इहु तया कहावै सेख, ना इहु जीवै न मरता देख॥

यह सत्य 'अनुभवैकगम्य' है। न उसको भावरूप कह सकते हैं न अभाव-

रूप। वह न तो जलाने से जल सकता है, न काटने से कट सकता है और न सुखाने से सूख ही सकता है। कबीर की इस उक्ति का समर्थन गीता के ये शब्द करते हैं :—

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि, नैनं दहति पावकः।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः॥

कबीर उसे भारी या हल्का कहने में डरते हैं क्योंकि उसको उन्होंने नेत्रों से कभी नहीं देखा। वह सत्य बड़े-से-बड़ा और छोटे-से-छोटा है। फिर उसको कैसे व्यक्त किया जाय!

सत्य और नानात्व—

जगत् के नानात्व को देखकर प्रायः सत्य में भी नानात्व का आरोप कर लिया जाता है किन्तु कबीर इस नानात्व को स्वीकार नहीं करते। अतएव 'नानात्व' का खण्डन करते हुए वे 'एकत्व' का प्रतिपादन करते हैं :—

कबीर यहु तौ एक है, पड़दा दीया भेष।
भरम करम सब दूरि करि, सबही मांहि अलेख॥

कबीर ने अपनी इस साखी से बृहदारण्यकोपनिषद् के स्वर का ही समर्थन किया है। कबीर का विश्वास है कि द्वैतानुभूति दुःख का कारण है। जिसको अद्वैतानुभूति हो जाती है उसी को शान्ति मिलती है और वह अनुभूति प्रेम से होती है :—

एक एक जिनि जांणियां तिनहीं सचु पाया।
प्रेम प्रीति ल्यौ लीन मन, ते बहुरि न आया॥

कबीर को सर्वत्र एक ही तत्त्व या सत्य की प्रतीति होती है। वे कहते हैं—उसी से पिंड और उसी से ब्रह्माण्ड पूर्ण है किन्तु वह सबको नहीं दीखता, केवल उसी को वह दिखाई देता है जिसको समदृष्टि प्राप्त है :—

ए सकल ब्रह्मण्ड तैं पूरिया, अरु दूजा महिं थांन जी।
मैं सब घट अंतरि पेषिया, जब देख्या नैंन समांन जी॥

अद्वैत तत्त्व की अलभ्यता—

वह अद्वैत तत्त्व उन लोगों को प्राप्त नहीं होता जिनकी दृष्टि विकृत है।

दृष्टि-विकार का कारण भ्रम है। जब तक भ्रम रहता है तब तक द्वैत की ही प्रतीति होती है किन्तु ज्ञानोदय होने पर द्वैत तिरोहित हो जाता है। ज्ञान भ्रम को नष्ट करके समदृष्टि प्रदान करता है और 'समांन नैंन' से देखने पर वही अद्वैत तत्त्व सर्वत्र दिखाई पड़ता है। जिसको भ्रम-निर्मित नानात्व के पीछे अद्वैत तत्त्व का साक्षात्कार नहीं होता वह आवागमन से मुक्त नहीं होता और भव-क्लेश उसे पीड़ित करता रहता है :—

दोई कहैं तिनहीं कौं दोजग, जिन नांहिन पहिचांनां ॥

इस उक्ति को कठोपनिषद् ने भी अपना समर्थन प्रदान किया है—

मृत्यो ! स मृत्युं गच्छति, य इह नानेव पश्यति।

वह तत्त्व न तो नेत्रों के द्वारा प्राप्तव्य है, न वाणी, तप और कर्म द्वारा ही उपलभ्य है। वह उसी को मिलता है जिसका अन्तर ज्ञान-ज्योति से प्रकाशित हो गया है। जब तक अन्तर प्रकाशित नहीं होता तब तक द्वैत का आभास होता है किन्तु ज्ञान-ज्योति के कारण अन्तर के अन्धकार के मिट जाने पर एक परमात्मा की ही प्रतीति होती है :—

जब मैं था तब हरि नहिं, अब हरि है मैं नांहि।
सब अंधियारा मिटि गया, जब दीपक देख्या मांहि॥

आत्मा—

आत्मा ही परमात्मा है। राम को कबीर आत्मा से अभिन्न मानते हैं। एक अन्य पद में कबीर कहते हैं कि—उस (परमात्मा) और इस (आत्मा) में एकता है। उपनिषद् के 'तत्त्वमसि' महावाक्य में भी इसी आशय की सिद्धि होती है। लोग भ्रम के कारण पिंड और ब्रह्मांड में भिन्न-भिन्न सत्ताओं की प्रतीति करने लगते हैं। सत्य तो एक ही है। जो ब्रह्मांड में है वही पिंड में भी है :—ब्रह्मण्डे सो प्यंडे जानि।

जिस प्रकार घड़े के भीतर और बाहर आकाश होता है उसी प्रकार इस शरीर के भीतर और बाहर वही परमात्मा है। सच तो यह है कि इस शरीर की स्थिति भी उसी परमात्मा की सत्ता से है :—

आकाश गगन पाताल गगन है चहुं दिसि गगन रहाइले।
आनन्दमूल सदा पुरुषोत्तम, घट बिनसै गगन न जाइले॥

+ + +

हरि महिं तनु है तनु महिं हरि है सर्व निरन्तर सोइ रे।

जिस प्रकार जल और तरंग में कोई भेद नहीं होता, केवल एक विशेष रूप में जल को ही तरंग कह दिया जाता है उसी प्रकार आत्मा और परमात्मा में भी कोई अन्तर नहीं है। आत्मा को शरीर के सम्बन्ध से परमात्मा से पृथक् समझ लिया जाता है। जिस प्रकार तरंग का रूप मिथ्या है उसी प्रकार यह शरीर भी मिथ्या है।

भेद की प्रतीति का कारण कबीर ने भ्रम में देखा है। जिस प्रकार काली, गोरी, धौरी आदिक गायों के भेद से दूध में भेद नहीं हो जाता, उसी प्रकार शरीर-भेद से आत्मा की अनेकता सिद्ध नहीं होती।

सत्य और जगत्—

इस अद्वैत तत्त्व को व्यक्त करने के लिए कबीर अनेक सिद्धान्तों को एकत्र करते हैं। उनमें से विवर्तवाद, परिणामवाद, एवं प्रतिबिंबवाद प्रमुख हैं। विवर्तवाद के अनुसार रज्जु में सर्प और सीप में रजत का भ्रम हो जाता है और रज्जु और सीप को भूल कर भ्रान्त मनुष्य सर्प और रजत को सत्य मान बैठता है। इसी प्रकार भ्रम के कारण लोग जगत् को सत्य मान बैठते हैं। उसके मूल में निहित सत्य को भूल जाते हैं। वह सत्य परमात्मा या ब्रह्म है। उसी की सत्ता के कारण इस जगत् की प्रतीति होती है जो नाना रूपों में दिखाई पड़ता है:—

झूठै झूठ रह्यौ उरझाई, साचा अलख जग लख्या न जाई।

जिस प्रकार रस्सी के सम्बन्ध से सर्प की उत्पत्ति केवल मन में होती है उसी प्रकार सत्य को लेकर झूठे नाम रख लिये जाते हैं:—

झूठै नांउ साच ले धरिया।

भय, माया, मोह आदि का कारण सत्य-ज्ञान का अभाव है। इसीलिए जीव झूठी आशा में अटका रहता है—उस आशा में जो उसको उसी भांति पीड़ित करती है जैसे निदाघ में तृष्णा मृग को पीड़ित करती है। यह मिथ्या जगत् जीव

को भयभीत करता रहता है और रज्जु-सर्प के दंश से वह उस समय तक मुक्त नहीं होता जबतक कि सत्य का परिचय प्राप्त नहीं होता :—

भूठ देखि जीव अधिक डराई, विना भवंगम डसी दुनियाई।
भूठे भूठ लागि रही आसा, जेठ मास जैसें कुरंग पियासा ॥

जब सत्य का ज्ञान हो जाता है तो मिथ्या प्रतीति नष्ट हो जाती है। यह तो पहले ही कहा जा चुका है कि सत्य और भूठ को परखने के लिए कबीर के पास एक कसौटी है और वह है :—

साँच सोई जे थिरह रहाई।
उपजै विनसै भूठ ह्वै जाई ॥

इस कसौटी पर जगत् असत्य ही ठहरता है क्योंकि वह स्थिर नहीं है। वह उत्पन्न और नष्ट होता है।

अद्वैत तत्त्व को व्यक्त करने के लिए कबीर 'परिणामवाद' के सिद्धान्त का भी प्रयोग करते हैं। इसके अनुसार जगत्, ब्रह्म या परमात्मा का परिणाम माना जाता है। जैसे तरंग जल का परिणाम है अथवा कुण्डल स्वर्ण का परिणाम है उसी प्रकार यह जगत् ब्रह्म का परिणाम है। इस सिद्धान्त को सगुणोपासक भी मानते हैं और वे दूध और दही का उदाहरण देकर ब्रह्म और जगत्, दोनों की सत्ता स्वीकार करते हैं जिससे द्वैत की सिद्धि होती है। कबीर इस सिद्धान्त का उपयोग अद्वैत सिद्धि के लिए करते हैं।

कबीर का कहना है कि अलंकार भिन्न होते हुए भी स्वर्ण एक है। एक स्वर्ण से निर्मित अनेक अलंकारों की विभिन्नता सत्य नहीं है, सत्य तो स्वर्ण-मात्र है। गलने पर रूप विगलित हो जाता है और स्वर्णमात्र रह जाता है। उसी प्रकार यह नामरूपात्मक नानात्वमय जगत् उत्पन्न और विनष्ट होने के कारण अस्थिर एवं असत्य है। इसके मूल में अवस्थित ब्रह्म ही सत्य है क्योंकि वह विकारमुक्त है। वह न उत्पन्न होता है और न नष्ट होता है, इसलिए स्थिर है। इस प्रकार कबीर की उपर्युक्त कसौटी पर यह नामरूपात्मक अस्थिर जगत् मिथ्या है। वे उदाहरण देकर बतलाते हैं :—

जैसे वहु कंचन के भूषन, ये कहि गालि तवांवहिंगे।
जैसे जलहि तरंग तरंगिनी, ऐसैं हम दिखलावहिंगे ॥

अद्वैत-सिद्धि के लिए कबीर द्वारा प्रयुक्त तीसरा सिद्धान्त 'प्रतिबिंबवाद' है। इसके अनुसार सब रूपों में परमात्मा का प्रतिबिंब है। जिस प्रकार अनेक जल-पात्रों या जलाशयों में एक ही चन्द्र या सूर्य का प्रतिबिंब दिखाई पड़ता है उसी प्रकार अनेक रूपों में परमात्मा प्रतिबिंबित है। प्रतिबिंब अनेक हैं किन्तु बिंब एक है। प्रतिबिंब-अनेकता से बिंबानेकता सिद्ध नहीं होती। प्रतिबिंब की सत्ता बिंब और जल दोनों की सत्ता पर निर्भर है। जल के होने पर बिंब का प्रतिबिंब दिखाई देगा और न होने पर नहीं दिखाई देगा। केवल जल के होने-न-होने से प्रसिबिंब का कोई सम्बन्ध नहीं है और न जल-पात्रों या जलाशयों की अनेकता से बिंब की एकता ही बाधित होती है। इसी प्रकार परमात्मा एक है और स्वतन्त्र है। उसका प्रतिबिंब प्रत्येक रूप में दिखाई पड़ता है। प्रतिबिंब को ही बिंब मान बैठना भ्रम है किन्तु प्रतिबिंब की सत्ता बिंब से भिन्न नहीं है। जिस प्रकार जलपात्र के न होने पर अथवा जल और कुम्भ के विगलित हो जाने पर प्रतिबिंब बिंब में ही समा जाता है उसी प्रकार नश्वर रूप के विगलित होने पर प्रतिबिंब रूप जीव परमात्मा में समा जाता है, अर्थात् यह नानात्व रूप के कारण प्रतीत हो रहा है :—

ज्यूं बिंबहि प्रतिबिंब समाना, उदकि कुम्भ बिगराना।
कहै कबीर जांनि भ्रम भागा, जीवहि जीव समाना ॥

ये तीनों सिद्धान्त सत्य की एकता के प्रतिपादक हैं और पूर्वकथित कसौटी पर पूरे उतरते हैं। नानात्व का कारण अज्ञान है। ज्ञान के प्रकाश में अद्वैत सत्य के सिवा और कुछ नहीं ठहरता।

शरीर—

यह पिंड अर्थात् शरीर पंचतत्त्व से निर्मित हुआ है जिसमें तीन गुणों का समावेश है। पाप और पुण्य इसके बीज हैं, जिनसे यह उत्पन्न होता है और जन्म एवं मृत्यु के बीच में यह विकार को प्राप्त होता है। यह शरीर नश्वर है, किन्तु इसके नष्ट होने से शरीर नष्ट नहीं होता। शरीर आत्मा का वस्त्र है। वस्त्र का फटना अवश्यम्भावी है। जिसका उदय होता है उसका अस्त होना भी निश्चित

है। जो उत्पन्न हुआ है वह नष्ट होगा, जो फूला है वह मुरझायेगा, जो चुना गया है वह गिरेगा और जो आया है वह जायेगा :—

जो ऊग्या सो आंथवै, फूल्या सो कुमिलाइ।
जो चिणियां सो ढहि पड़ै, जो आया सो जाइ॥

इस क्षणभंगुर शरीर का कोई विश्वास नहीं है। जल-बुद्‌बुद के समान इस शरीर के नष्ट होने में देर नहीं लगती। जिस प्रकार कच्चा घड़ा कहीं भी और कभी भी चोट खाकर फूट सकता है उसी प्रकार कहीं और कभी भी यह शरीर नष्ट हो सकता है। कबीर इस शरीर को धूलि की पुड़िया कहते हैं जो कुछ दिन तो दिखलाई देती है परन्तु अन्त में मिट्टी में मिल जाती है। यह शरीररूपी काग़ज की गुड़ी तभी तक उड़ती है जब तक प्राण-पवन का संचार होता है।

मनुष्य समझता है कि उसका शरीर अमर है। इसीलिए वह इस पर गर्व करने लगता है। वह नहीं जानता कि यह झूठा है। वह आगे के लिए अनेक साज सजाता है, किन्तु खबर उसे पल भर की भी नहीं है। जिस प्रकार तीतर पर बाज कभी भी आ झपटता है, उसी प्रकार काल मनुष्य पर कभी भी आकर झपट सकता है।

मृत्यु—

मृत्यु ध्रुव है। हर किसी को मरना पड़ता है। ऐसी बात नहीं है कि रोगी ही मरता है, वैद्य भी मरता है। जिस प्रकार हमारे पूर्वज मर चुके हैं, उसी प्रकार हम और हमारे परवर्ती भी मरेंगे। मृतक को रोने वाले, जलाने वाले और हा-हा करने वाले सभी मरते हैं। अतएव मृत्यु के संबंध में कुछ कहना-सुनना व्यर्थ है :—

रोवणहारे भी मुए, मुए जलांवणहार।
हा हा करते ते मुए, कासनि करौं पुकार॥

यह कहा जा चुका है कि शरीर पंच तत्त्व के मिलने से निर्मित हुआ है और पंचतत्त्व 'अविगत' से उत्पन्न हुए हैं। जब वे एक दूसरे से वियुक्त हो जाते हैं तब उस अवस्था को दुनिया वाले 'मृत्यु' कहते हैं :—

पंच तत अविगत थैं उतपनां, एकैं किया निवासा।
बिछुरे तत फिर सहज समांनां, रेख रही नहिं आसा।।

यहाँ एक स्वाभाविक प्रश्न उठता है कि मरने वाला कौन है? इस प्रश्न को बहुत महत्त्वपूर्ण मान कर वे पूछते हैं :—

कौन मरै कहु पंडित जनां, सो समझाइ कहौ हम सनां।।

इस के उत्तर में वे स्वयं कहते हैं—मिट्टी, मिट्टी में मिल जाती है और पवन पवन में मिल जाता है और दुनिया देखती है कि मृत्यु रूप की होती है :—

माटी माटी रही समाइ, पवनैं पवन लिया संगि लाइ।
कहै कबीर सुनि पंडित गुनी, रूप मुवा सब देखैं दुनीं।।

जन्म—

एक अन्य रूपक में कबीर कहते हैं कि कायिक रूप का निर्माण मिट्टी से हुआ है और वह पवन के बल से खड़ा है। बिन्दु के संयोग से उसकी उत्पत्ति हुई है। देह मिट्टी है और पवन बोलने वाला है। इस मिट्टी के शरीर का ही नाम रखा जाता है। यह जन्म के पहले और मृत्यु के पश्चात् और दोनों के बीच में भी मिट्टी के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।

पंचीकरण का कारण ब्रह्म की माया है। अपनी माया के बल से ब्रह्म ही इन शरीरों को बनाता है और वही विगाड़ता है :—

भांनैं घड़ै सँवारै सोई, यहु गोव्यंद की मांया।

वियुक्त होकर पंचतत्त्व कहाँ चले जाते हैं—यह भी एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न है। इसके उत्तर में कबीर कहते हैं:—पृथ्वी तत्त्व जल में, जल तेज में, तेज पवन में, और पवन-तत्त्व शब्द में, जो आकाश का गुण है, विलीन हो जाता है।

कबीर का विश्वास है कि यह मनुष्य शरीर अति दुर्लभ है, यह बार-बार नहीं मिलता, किन्तु जीवन-मरण को समान समझ कर पश्चात्ताप नहीं करना चाहिए।

जगत्—

यह जगत् भी जल की बूंद के समान नश्वर है। इसकी उत्पत्ति और नाश में देर नहीं लगती :—

ज्यूं जल बूंद तैसा संसारा, उपजत बिनसत लगै न वारा।

यह जगत् उत्पन्न होता है। उत्पन्न होकर आंखों के सामने ही यह नष्ट भी हो रहा है :—

उपजै निपजै निपजिस भाई, नयनहु देखत इहु जग जाई।

उसने त्रिगुणात्मिका माया से इस जगत् की सृष्टि की है और अपने मध्य ही अपने को छिपा लिया है। इस जगत् को उस परमात्मा ने कहने-सुनने के लिए बनाया है। लोग जगत् में ही भ्रान्त हो गये हैं, उस स्रष्टा को किसी ने नहीं पहिचाना। एक सुन्दर रूपक में इस जगत्रूपी वृक्ष का चित्र कबीर ने इस प्रकार प्रस्तुत किया है :—

सूक बिरख यहु जगत् उपाया, समझि न परै विखम तेरी माया।
साखा तीनि पत्र जुग चारी, फल दोइ पाप पुंनि अधिकारी॥

त्रिगुणात्मिका माया से उत्पन्न यह जगत् चार प्रकार का है—स्वेदज, अण्डज, जरायुज तथा उद्भिज्ज।

एक अन्य स्थान पर कबीर ने सृष्टि का मूल कारण ओंकार को बतलाया है। 'ऊंकारे जग ऊपजै ऊंकार आदि है मूला' तथा 'ओंकार आदि में जाना' वाक्यों से कबीर इसी मत की पुष्टि करते हैं।

कबीर ने 'माया' और 'ओंकार' का सम्बन्ध कहीं नहीं दिखलाया। अवश्य ही जगत् के इन दो नाम वाले कारणों में कोई सम्बन्ध होना चाहिए। सम्भवतः मायामय शब्द-ब्रह्म ही ओंकार है।

जीव, जगत् और ब्रह्म का संबंध—

कबीर नामरूपात्मक जगत् को मिथ्या कहते हैं। इसकी प्रतीति मन के भ्रम के कारण होती है। मोह, ममता, सुख, दुख सब मन के विकार हैं। जब तक मन में विकार रहते हैं तब तक संसार नहीं छूटता। जब मन निर्मल हो जाता है तब उसकी स्थिति निर्मल निरंजन से पृथक् प्रतीत नहीं होती :—

जब लग मनहिं विकारा, तब लगि नहीं छूटै संसारा।
जब मन निर्मल करि जाना, तब निर्मल मांहि समाना॥

मन के स्थिर होने पर स्थिति, आत्मसत्ता या सत्य का साक्षात्कार हो जाता है :—

मन थिर भयौ तबै थिति पाइ ।

अतएव आत्मा, परमात्मा और जगत् का जो भेद केवल मन में है, वास्तव में वह भेद नहीं । वस्तुतः आत्मा और परमात्मा में कोई भेद नहीं है :—

आतम रांम अवर नहिं दूजा ।

जगत् अपनी नामरूपात्मक स्थिति में असत्य एवं मिथ्या है । उसके मूल में निहित सत्य न तो नामरूपात्मक है और न नानारूप । जिस प्रकार स्वप्न-दृश्य सत्य नहीं होते उसी प्रकार दृश्यजगत् भी सत्य नहीं है । 'एकमेक रमि रह्या सबनि मैं' अथवा 'संसौ मिट्यौ एक कौ एकै' कह कर कबीर ने सत्य के स्वरूप एवं ब्रह्म तथा जीव और जगत् के सम्बन्ध पर एक ही साथ प्रकाश डाला है ।

सुख-दुख का कारण—

इस जीवन को कबीर ने एक हाट बतलाया है । जिस प्रकार वणिक् हाट में किराना बेचने आता है और किराने के अभाव में उसे वहाँ नहीं आना पड़ता उसी प्रकार जीव को अपने कर्म समाप्त करने के लिए इस संसार में आना पड़ता है । जब तक कर्म समाप्त नहीं होते तब तक आवागमन से मुक्ति नहीं होती । यह जगत् पर-घर है और परमात्मा स्व-घर है । प्रत्येक वणिक् का लक्ष्य स्वगृह है । वह वहीं लौटना चाहता है किन्तु जब तक उसका किराना नहीं बिक जाता तब तक उसे हाट में ही ठहरना पड़ता है । इसी प्रकार जब तक पाप-पुण्यों में से कुछ भी अवशिष्ट रहता है तब तक जीवात्मा को ब्रह्म या परमात्मा की प्राप्ति नहीं हो सकती । इसी भाव को कबीर इस प्रकार व्यक्त करते हैं :—

इत प्रघर उत घर, वणजण आये हाट ।
करम किरांणां वेचि करि, उठि जो लागे वाट ।।

जीव नाम ही उसका है जो कर्मों के वश में है :—

करमौं के वसि जीव कहत हैं ।

पाप और पुण्य, दोनों को कबीर भ्रम मानते हैं । वे कहते हैं कि इसी से जीव को आगे जन्म ग्रहण करना पड़ता है । जब भ्रमजन्य पाप-पुण्य जल जाते हैं तब ब्रह्म साक्षात्कार हो जाता है ।

जाथें जनम लहत नर आगें, पाप पुंनि दोऊ भ्रम लागें।

\+ + +

जब पाप पुंनि भ्रम जारी, तब भयौ प्रकास मुरारी।

जिस प्रकार पाप-कर्म बंधन हैं उसी प्रकार पुण्य-कर्म भी बंधन हैं। ये दोनों समवेत रूप में तथा पृथक् रूप में भी आवागमन का कारण बनते हैं।

कर्म-फल—

जो जैसा करता है उसको वैसा फल मिलता है। जो पुण्य-कर्म करता है उसे सुख मिलता है और जो पाप-कर्म करता है उसे दुःख मिलता है :—

जो जस करिहै सो तस पइहै, राजा राम नियाई।

यहाँ कबीर ने 'राजा राम नियाई' कह कर 'अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्' एवं 'कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन' दोनों का भाव एक ही पंक्ति में एक-साथ भर दिया है।

कुछ लोग भ्रमवश यह सोच लेते हैं कि वे धर्म करते हैं अतएव उनकी मुक्ति हो जायेगी। ऐसे लोगों को कबीर व्यंग्यात्मक ढंग से चेतावनी देते हुए कहते हैं :—

कबीर मन फूल्या फिरै, करता हूँ मैं ध्रंम।
कोटि क्रम सिरि ले चल्या, चेत न देखै भ्रम॥

कहने की आवश्यकता नहीं कि कबीर पर 'कर्मवाद' और 'पुनर्जन्मवाद' के सिद्धान्तों का पूरा प्रभाव है। इसका एक प्रौढ़ प्रमाण उन्हीं की यह उक्ति है :—

पूरब जनम हम बांम्हन होते, ओछे करम तपहीनां।
राम देव की सेवा चूका, पकरि जुलाहा कीन्हां॥

इससे कबीर संचित एवं क्रियमाण कर्मों की ओर संकेत करते हैं। उन्होंने प्रारब्ध कर्म की ओर भी संकेत किया है। विषय-रत मन पल-भर में करोड़ों कर्म कर डालता है :

कोटि कर्म पल में करै, यहु मन विषया स्वादि।

कर्म और कामना—

जब तक कर्म कामना से किया जाता है तब तक वह दुख-सुख का कारण बनता है किन्तु जब वह निष्काम रूप से किया जाता है, तब दुख-सुख दोनों ही

व्याप्त नहीं होते । दुख-सुख वहीं होते हैं जहाँ फलासक्ति होती है । विवेकी लोग आसक्ति का परित्याग करके निष्काम कर्म करते हैं और उन्हीं को आत्म-साक्षात्कार होता है । अतएव वे निष्काम कर्म पर ही विशेष बल देते हैं ।

माया—

कबीर ने सुख-दुख, आवागमन एवं जगत् का मूल कारण माया को माना है । जहाँ शास्त्रों ने माया को विद्या और अविद्या के संबंध से दो प्रकार का माना है वहाँ कबीर ने उसे अविद्या-स्वरूपा ही माना है । साथ ही उन्होंने उसको असत्य भी कहा है । एक उपदेश में उन्होंने माया को मिथ्या कह कर छोड़ने का आदेश दिया है :—

मिथ्या करि माया तजो सुख सहज विचारि ।

एक अन्य स्थान पर वे माया के बन्धन को झूठा कह कर उसका संबंध भ्रम या अज्ञान से जोड़ते हुए कहते हैं :—

झूठी माया आप बंधाया, ज्यों नलनी भमि सूआ ।।

ब्रह्म और माया—

इस माया को कबीर रघुनाथ या ब्रह्म की मानते हैं "तू माया रघुनाथ की, खेलण चढ़ी अहेड़" कह कर उन्होंने माया का संबंध स्पष्टतः परमात्मा से जोड़ा है । वह माया सत्त्व, रजस् एवं तमस् तीनों गुणों में व्याप्त है :—

राजस तामस सातिग तीन्यू ये सब तेरी माया ।

परमात्मा की त्रिगुणात्मिका सृष्टि इसी माया से होती है और वही इसका पालन एवं संहार भी करती है :—

भानै घड़ै संवारै सोई, यहु गोव्यंद की माया ।

सच तो यह है कि माया परमात्मा की प्रेरणा है । उसी की प्रेरणा से वह अपना काम करती है । वह माया की शक्ति को समझ कर उसके प्रेरक की बलिहारी जाते हैं क्योंकि जो माया को प्रेरित करता है वही उसको खींच भी लेता है । अतएव वे कहते हैं :—

वलि जाऊं ताकी जिनि तुम पठई ।

उस माया से रक्षा केवल परमात्मा ही कर सकता है । इसीलिए वे भक्ति

के स्वर में उससे प्रार्थना करते हैं :—

मोहनी माया बाघनीं थैं राखि लै राम राइ।

इससे यह विदित होता है कि कबीर ने माया के दो रूप माने हैं—एक मोहक और दूसरा भयंकर। 'मोहनी' और 'बाघनी' दोनों शब्दों का प्रयोग, माया के विशेषणों के रूप में एक ही साथ, करके कबीर ने माया की मोहकता में भयंकरता और भयंकरता में मोहकता की स्थिति प्रकट की है।

माया का ज्ञान—

माया को हर कोई नहीं जानता और जो इसको नहीं जानता उसी को यह सताती है। त्रिलोक-विजयिनी इस माया को कोई नहीं खा सकता—

मीठी मीठी माया तजी न जाई,
अग्यांनीं पुरिष कौं भोलि भोलि खाई।
+ + +
कीड़ी कुंजर में रही समाई,
तीनि लोक जीत्या माया किनहूं न खाई॥

माया को या तो परमात्मा जानता है या परमात्मा के भक्त जानते हैं :—

बाजी की बाजीगर जांनैं, कै बाजीगर का चेरा।

जिस मनुष्य के अन्तर में परमात्मा अथवा ज्ञान का प्रकाश हो जाता है उसके अन्तर से माया किनारा कर जाती है :—

घट की जोति जगत प्रकास्या, माया सोक बुझानां।

जिनको परमात्मा का आश्रय मिल जाता है अथवा जिन पर उसकी कृपा हो जाती है वे माया को तोड़ कर फेंक देते हैं :—

दास कबीर राम कै सरनैं, ज्यूं लागी त्यूं तोरी।

जिनको आत्मज्ञान या परमात्म-ज्ञान हो जाता है उनको माया का ज्ञान भी हो जाता है। फिर उनके लिए माया न तो भयंकर ही लगती है और न मोहक ही। इतना ही नहीं उनके लिए उनकी सत्ता तक आभासित नहीं होती। इसी कारण जो मनुष्य माया के बन्धन में बंध कर नाचता फिरता है वही परमात्मा को जानकर परमात्मा हो जाता है, उसका वह नाच बन्द हो जाता है और वह

स्वस्थ या परमात्मस्थ हो जाता है। इसीलिए शिवजी ने उमा को समझाया है :—

उमा दारु-योषित की नाईं, सबहिं नचावहिं राम गोसाईं।

तुलसीदास की उक्ति में माया से मुक्ति पाने की दशा का भी संकेत है :—

जानत तुम्हहिं तुम्हहि होइ जाई।

इससे भी यही संकेत मिलता है कि ब्रह्म या परमात्मा माया के स्वामी हैं और जीव माया का दास है। जीव का दासत्व उस समय तक नहीं छूटता जब तक कि वह माया को नहीं छोड़ देता, किन्तु माया बड़ी मधुर प्रतीत होती है, सहज ही छोड़ी नहीं जा सकती :—

कबीर माया मोहनी जैसी मीठी खांड।

ब्रह्मज्ञानी ही माया से बच सकते हैं, इस आशय की अभिव्यक्ति कबीर ने एक सुन्दर रूपक के द्वारा इस प्रकार की है :—

जग हटवाड़ा स्वाद ठग, माया वेसां लाइ।
रांम चरन नीका गही, जिनि जाइ जनम ठगाइ॥

माया का प्रसार—

माया सर्वव्यापिनी है। यह परमात्मा की ठगौरी है। इसके प्रभाव से जीव को स्वरूप-विस्मरण हो जाता है और वह चौरासी लाख योनियों में भ्रमण करता फिरता है। जगत् में कोई भी तो इससे नहीं बच पाया :—

कबीर माया मोहिनी, सब जग घाल्या घाणि।

मीर, मलिक, छत्रपति राजा आदि सभी माया के अधीन रहे हैं। इसने किसी को भी नहीं छोड़ा है।

यह माया मनुष्य को ही नहीं, अपितु पशु-पक्षियों तक को पीड़ित करती है। जल की मछली, आकाश का पतंग, पृथ्वी का हाथी और भुजंग आदि सभी माया से बिंधे हुए हैं। माया के प्रसार का एक विशद चित्र कबीर ने इस प्रकार प्रस्तुत किया है :—

जल महि मीन माया के बेधे।
दीपक पतंग माया के छेदे॥

काम माया कुंजर कौ व्यापे।
भुअंगम भृंग माया माँहि खापे॥
माया ऐसी मोहनी भाई।
जेते जीव तेते डहकाई॥
पंखी मृग माया मँहि राते।
साकर मांखी अधिक संतापे॥
तुरे उष्ट्र माया मँहि भेला।
सिध चौरासी माया मँहि खेला॥
छिये जती माया के बन्दा।
नवै नाथु सूरज अरु चन्दा॥
तपे रखीसर माया मँहि सूता।
माया मँहि काल अरु पंच दूता॥
स्वान स्याल माया मँहि राता।
बंदर चीते अरु सिंघाता॥
माजार गाडर अरु लूबरा।
बिरख मूल माया मँहि परा॥
माया अन्तर भीने देव।
सागर इन्द्रा अरु धरतेव॥
कहि कर जिसु उदर तिसु माया।
तब छूटे जब साधू पाया॥

माया की परिधि में इन्द्रिय-विषय ही नहीं, मन भी है। मन के सारे व्यापारों में माया की ही चेष्टाएँ हैं। आशा, तृष्णा, मोह, ममता, मान, अपमान आदि अनेक मनोवृत्तियों में माया का प्रसार परिलक्षित होता है। कबीर शायद यह भी मानते हैं कि शरीर के मर जाने पर भी मन और उस पर पड़े हुए संस्कार नहीं मरते। जिसको लिंग-शरीर कहते हैं वह मन के संस्कारों के रूप में दूसरे जन्म में भी जाता है।

माया मुई न मन मुवा, मरि मरि गया सरीर।
आसा तृष्णां नां मुई, यौं कहि गया कबीर॥

माया के अनेक आत्मजों में 'अहंकार' प्रमुख है। 'मान' उसी का एक अंग है जो बड़े बड़े मुनियों तक को निगल चुका है:—

मानि बड़े मुनिवर गिले, मानि सबनि कौं खाइ।

मोह भी अहंकार का ही एक अंग है। यह आत्म-ज्योति को आच्छादित करता है:—

कबीर माया मोह की भई अँधारी लोइ।

इस प्रकार कबीर काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मात्सर्य को माया का ही प्रसार बताते हैं। धन, धाम, अर्थ, काम, परिवार आदि का सम्बन्ध ही नहीं, अपितु शरीर का सम्बन्ध भी माया का ही बन्धन है:—

संकल ही तैं सब लहै, माया इहि संसार।
ते क्यूं छूटैं बापुड़े, बांधे सिरजनहार॥

स्रष्टा ने माया में लोगों को क्यों बाँध रखा है? यह एक प्रश्न है जो गम्भीरता से विचार करने योग्य है। अन्यत्र यह बताया जा चुका है कि माया परमात्मा की प्रेरणा है। उसी को भक्त लोग उसकी लीला भी कहते हैं। वे उसकी लीला को नित्य मानते हैं, किन्तु कबीर माया को मिथ्या मानते हैं। सत्य ज्ञान का उदय होने पर अथवा परमात्मा को समझ लेने पर, माया आभासित नहीं होती। जिस प्रकार जादूगर को न समझने वाला ही जादू से विस्मय-विमुग्ध होता है उसी प्रकार परमात्मा को न समझने वाला ही माया से प्रभावित होता है। जो परमात्मा को समझता है उस पर माया का कोई प्रभाव नहीं होता क्योंकि उसको उसका मिथ्यात्व भासने लगता है। माया का प्रसार-क्षेत्र अज्ञान है। ज्ञान के प्रकाश में माया की ग्रन्थि सुलझ जाती है। ज्ञानदीपक में महात्मा तुलसीदास ने भी इस ओर संकेत किया है। कबीर ने इस माया के झूठे बन्धन को तोड़ डाला। कैसे? क्योंकि उन्हें मायापति का ज्ञान हो गया, वे माया की वास्तविकता को समझ गये, इसलिए वे कह उठे:—

कबीर माया पापणी फंध ले बैठी हाटि ।
सब जग तौ धंधै पड़्या, गया कबीरा काटि ।।

कबीर ने माया की आवरण-शक्ति को ही विशेष रूप से देखा है । उसकी विशेषता यह है कि वह 'सत्य' को आवृत करती है जिससे मनुष्य सत्य को सत्य न समझ कर झूठ को ही सत्य मान बैठता है। भ्रम का उत्पादन माया का प्रथम पुरस्कार है, इसलिए कबीर के मुख से माया के विषय में बड़ी कटूक्तियाँ निकल पड़ी हैं, यथा :—

कबीर माया पापणीं, हरि सूं करै हराम ।
मुखि कड़ियाली कुमति की, कहण न देई राम ।।

विवेक और वैराग्य से माया के उच्छेदन में बड़ी सहायता मिलती है । सब लोग माया के दास हैं, किन्तु माया स्वयं सन्तों की दासी है । उनके ऊपर माया का कोई प्रभाव नहीं होता । साथ ही सन्त माया की दुर्गति करके छोड़ते हैं :—

माया दासी संत की, ऊंची देइ असीस ।
विलसी अरु लातौं छड़ी, सुमरि सुमरि जगदीस ।।

इस साखी से यह स्पष्ट है कि आत्म-बल से सन्त लोग माया को त्याग सकते हैं, केवल विवेक और वैराग्य की शक्ति से नहीं ।

माया को कबीर एक दलदल के समान बतलाते हैं । इसमें पैर पड़ा कि फिर मनुष्य फँसता ही चला जाता है। माया मोहती है, आकृष्ट करती है और साथ ही बाँध भी लेती है । जो माया से बाहर रहते हैं उन्हीं का उद्धार होता है । इस प्रपंच में जिनकी प्रवृत्ति है, उनके उद्धार का कोई प्रश्न ही नहीं । वे आशा-पिशाची से अभिभूत होते हैं । निवृत्ति-पथ पर चला हुआ ही जीव माया के इस प्राण-पीडक पाश से छुटकारा पा सकता है । प्रवृत्ति और निवृत्ति एक आश्रय में नहीं रह सकतीं । एक म्यान में दो तलवारें कभी नहीं समा सकतीं ।

सब आसण आसा तणां, निर्वातिकै को नांहि ।
निवरतिकै निबहै नहीं, परवति परपंच मांहि ।।

मुक्ति—

सत्य का साक्षात्कार ही मुक्ति है । सत्य परमात्मा का स्वरूप है । अतएव

वह आत्मीय है और झूठ परकीय। मनुष्य बन्धन में इसलिए पड़ा रहता है कि वह अपने और पराये को नहीं समझता। जिसको वह अपना और पराया समझता है वह उसकी वास्तविकता को नहीं जानता। माया परकीय है और आत्मा स्वकीय है। दोनों को समझने के लिए उनके प्रसार को समझना भी आवश्यक है। इस रहस्य का उद्घाटन कबीर एक ही साखी में इस प्रकार करते हैं:—

आप आपथं जानियं, है पर नाहीं सोइ।
कबीर सुपिनें केर धंन ज्यूं, जागत हाथि न होइ॥

इससे स्पष्ट है कि भ्रम बन्धन है और ज्ञान ही मुक्ति है। ज्ञान के अरुणोदय में अज्ञानज कर्म क्षीण हो जाते हैं। कर्मों के पूर्णरूप से क्षीण होने पर ही मुक्ति सम्भव है। जब तक कर्म बने रहते हैं तब तक आवागमन भी बना रहता है। कर्म का फल भोग है और भोग भोगने के लिए ही आवागमन है। इसी आवागमन के सिद्धान्त में चौरासी लाख योनियों की कल्पना निहित है। जब कर्म कर्म को काटने लगें तो समझिए ज्ञानोदय हो गया।

योग-दर्शन

कबीर की साधना में योग का स्थान—

जिस प्रकार सामाजिक पक्ष में कबीर ने कुछ निजी दृष्टिकोण बना लिये थे उसी प्रकार वैयक्तिक साधना-क्षेत्र में भी उन्होंने कुछ निजी सिद्धान्त निर्धारित कर लिये थे। उनमें से उनके अपने सिद्धान्त यद्यपि कम थे, फिर भी जो थे, वे अपना मौलिक अस्तित्व रखते थे। जो सिद्धान्त उन्होंने दूसरे धर्मों से ग्रहण किये थे वे उनके विवेक की कसौटी पर कसे हुए थे। उनका चयन बड़ा ही सक्षम और समर्थ है। उनकी सैद्धान्तिक मौलिकता प्रेम से पुटित है। कबीर की

साधना का मूलाधार प्रेम ही तो है। उनका अद्वैत-दर्शन प्रेम से अनुप्राणित है। कबीर के सिद्धान्तों में प्रेम का प्रमुख स्थान है। उन्होंने योग की स्थूलता को प्रेम से भावित करके सूक्ष्मता में पर्यवसित कर दिया है। प्रेमातिरेक से योग और अद्वैत-दर्शन भक्ति-क्षेत्र के अधिवासी हो गये हैं। फिर भी योग और अद्वैत-दर्शन में ही नहीं, कबीर की भक्ति में भी एक दृष्टिकोण है।

योग और प्रेम—

ऊपर यह कहा जा चुका है कि कबीर की योग-साधना उनकी प्रेम-साधना का ही एक अङ्ग है। जिस प्रकार सिद्धों ने योग को कायिक सिद्धियों के आडम्बर में लपेट दिया था, कबीर ने उसे उस प्रकार परम्परा की शृङ्खला में नहीं जकड़ा। 'सिद्धों और नाथों की परम्परा में कबीर' के अन्तर्गत यह बतलाया जा चुका है कि कबीर किसी परम्परा को वहाँ तक ही पुरस्कृत करते थे जहाँ तक वह कल्याणकारी सिद्ध होती थी। इसके आगे वे उसको स्वीकार नहीं करते थे। कबीर योगी थे, इसमें तो सन्देह की कोई बात ही नहीं है, किन्तु वे सिद्धों और नाथों के ढंग के योगी नहीं थे। उन्होंने योग को चमत्कार के लिए नहीं अपनाया था और न उसको उस योग में प्रविष्ट ही होने दिया। वे अपने ढंग के योगी थे। उन्होंने योग को 'मध्यम मार्ग' की सीमाओं में स्वीकार करते हुए उसके मानसिक और आध्यात्मिक पक्ष पर ही विशेष बल दिया।

कबीर ने योग को एक मार्ग के रूप में ही स्वीकार किया है। वह सिद्धों की भाँति उनका लक्ष्य नहीं बन पाया था। उन्होंने साधन रूप में भी योग की उन्हीं बातों को स्वीकार किया जो उनकी अध्यात्म-सिद्धि में भी सहायक सिद्ध हुईं, अतएव कबीर के योगी के लक्षण परम्परागत योगी के लक्षणों से भिन्न हैं। उनकी मुद्रा, सिंगी आदि में विशेषता है। 'जोगी' के लक्षण बताते हुए कबीर कहते हैं—

अवधू जोगी जग थैं न्यारा।
मुद्रा निरति सुरति की सींगी, नाद न षंडै धारा।
बसै गगन मैं दुनीं न देखै, चेतनि चौकी बैठा।
चढ़ि अकास आसण नहीं छांडै, पीवै महारस मींठा।

परगट कंथा मांहै जोगी, दिल मैं दरपन जोवै।

+ + +

ब्रह्म अगनि मैं काया जारै, त्रिकुटी संगम जागै।
कहै कबीर सोई जोगेस्वर, सहज सुनि ल्यौ लागै।

परम पद के मार्ग—

वास्तव में कबीर का लक्ष्य उस परम पद को प्राप्त करना है जिसे बिरले ही पा सकते हैं। 'परम पद' के गढ़ पर वे एक मार्ग से नहीं अपितु अनेक मार्गों से एकसाथ धावा बोलते हैं। योग भी उनमें से एक है। जिस प्रकार अन्य मार्गों में उसी प्रकार योग में भी मन ही एक विशेष प्रतिबन्ध है। जब तक इस का निवारण नहीं होता तब तक वह गढ़ विजित नहीं हो सकता। इस के निवारण के दमन और शमन, दो ही उपाय हैं। कबीर ने 'मन' को मारने की बात कही है, किन्तु 'विष' देकर मारने की नहीं, वरन् मधु देकर मारने की। कहने का तात्पर्य यह है कि वे मन को वश में करने के लिए कृत्रिम उपायों का उपदेश नहीं देते क्योंकि वे सब दमनोपाय हैं। वास्तव में वे उसे शमनोपाय से वश में करना चाहते हैं जिसे वे 'सहज मार्ग' भी कहते हैं। कबीर का यह 'सहज मार्ग' ज्ञान, भक्ति और योग, इन तीनों के सामंजस्य से निर्मित हुआ है। इसलिए कबीर उसको वास्तविक योगी नहीं मानते जो आसन, मुद्रा, खपरा, सिंगी, बेन आदि को योग के उपकरण के रूप में ग्रहण करता है। इन वस्तुओं को तो वे एक दिखावा समझते हैं। इन सब का विनिवेश मन में करके वास्तविक योगी का रूप वे इस प्रकार प्रस्तुत करते हैं—

सो जोगी जाकै मन में मुद्रा, राति दिवस न करई निद्रा ॥
मन में आसण मन मैं रहणां, मन का जप तप मनसूं कहणां ॥
मन मैं षपरा मन मैं सींगी, अनहद बेन बजावै रंगी ॥
पंच परजारि भसम करि भूला, कहै कबीर सो लहसै लंका ॥

कबीर एवं योगसंबंधी रूढ़ियां—

योगियों में जो आडम्बर प्रचलित हो गये थे, कबीर ने उनको कोई प्रोत्साहन नहीं दिया। इसके विपरीत उन्होंने आडम्बरों की बड़ी निन्दा की है। वे यह

मानते हैं कि योग के लिए किसी बाह्य उपकरण की अपेक्षा नहीं। उसके लिए जो उपकरण आवश्यक हैं वे सब इसी शरीर में उपलब्ध हैं। बेन, बटुवा, मेखला, भस्म, सिंगी आदि बाह्य वस्तुएं योगी के दंभ की सूचक हैं। वस्तुतः इनको मन में ही खोजा जा सकता है, अतएव वे योगी को संबोधित करते हुए उपदेश देते हैं:—

जोगिया तन की जंत वजाइ, ज्यूं तेरा आवागमन मिटाइ।
तत करि तांति धर्म करि डांडी, सत की सारि लगाइ।
मन करि निहचल आसंण निहचल, रसनां रस उपजाइ॥
चित करि वटवा तुचा मेपली, भसमैं भसम चढ़ाइ।
तजि पापंड पांच करि निग्रह, खोजि परम पद राइ॥
हिरदै सींगी ग्यांन गुंणि वांधौ, खोजि निरंजन सांचा।
कहै कवीर निरंजन की गति, जुगति विना प्यंड कांचा॥

इन पदों से स्पष्ट है कि कबीर योग की रूढ़ियों को स्वीकार नहीं करते। उनकी वाणी में अष्टांग-योग की सभी अनिवार्य बातें मिल सकती हैं, पर हम कबीर की योग-साधना को किसी परंपरा के अन्तर्गत रख कर नहीं देख सकते। उनकी दृष्टि योग के बाह्य आवरण पर नहीं प्रत्युत उस के प्राणों पर निहित है। मन को रोक कर उसे एकाग्र एवं निश्चल करना तथा उसके भीतर 'परम पद राइ' को खोजना ही कबीर के योग का लक्ष्य है। कबीर का योग राजयोग के अन्तर्गत रखा जा सकता है। कबीर का योग प्रेम-सुधा-सिक्त है। यही उसकी प्रमुख विशेषता है। सिद्धियों और चमत्कारों की अभिलाषा से दूर कबीर परंपरागत योग-शृंखला की केवल उन कड़ियों को स्वीकार करते हैं जो मन को बांध कर प्रियतम तक पहुँचाने में सफल सिद्ध होती हैं। इसीलिए उन्होंने सिद्धों और नाथों की योग-पद्धति की उन सब अर्हणाओं की अवहेलना की है जो साधना में अनपेक्षित हैं।

यम-नियम—

जो यम-नियम किसी भी साधना के लिए आवश्यक हैं वे कबीर की दृष्टि में योग-साधना के लिए भी आवश्यक हैं, इसलिए उन्होंने पृथक् रूप में उनका

निर्देश नहीं किया, किन्तु वे ग्रासन की ग्रावश्यकता की उपेक्षा नहीं कर सके। इसी से वे उसकी दृढ़ता के लिए बार-बार सचेत करते हैं—

सहज लछिन ले तजौ उपाधि, ग्रासण दिढ़ निद्रा पुनि साधि।
पुहप पत्र जहाँ हीरा मणीं, कहै कबीर तहां त्रिभवन धणीं ॥

ग्रासन—

जहाँ सिद्धों ग्रौर नाथों ने चौरासी प्रकार के ग्रासन बतला कर योग के कायिक पक्ष को महत्त्व दिया है, कबीर ने वहां केवल ग्रासन को दृढ़ करने की बात कही है। ग्राध्यात्मिक वातावरण के निर्मित करने में शरीर के ग्रनुदान को भुलाया नहीं जा सकता। किसी न किसी प्रकार का ग्रासन (Pose) ग्रवश्य चाहिए, किन्तु वह दृढ़ होना चाहिए। दृढ़ ग्रासन दृढ़ साधना की भूमिका प्रस्तुत करता है। इसीलिए कबीर ने ग्रासन की दृढता ग्रौर रक्षा की बात पर विशेष जोर दिया है। वे ग्रासन के प्रकारों के पीछे नहीं पड़े।

प्राणायाम—

ग्रासन के पश्चात् योग का ग्रन्य ग्रंग 'प्राणायाम' है। योग-दर्शन में प्राणायाम तीन प्रकार का माना गया है—बाह्यवृत्ति, ग्राभ्यन्तरवृत्ति ग्रौर स्तम्भवृत्ति। बाह्यवृत्ति का दूसरा नाम 'रेचक' है। ग्राभ्यन्तर वृत्ति को 'पूरक' नाम से भी ग्रभिहित किया जाता है। पहली प्रक्रिया में प्राण को बाहर ले जाकर रोक दिया जाता है ग्रौर दूसरी में प्राण को भीतर ले जाकर रोका जाता है। तीसरे प्रकार का प्राणायाम स्तंभवृत्ति है। इसको 'कुम्भक' भी कहते हैं। इस प्रक्रिया में ग्रन्दर गये हुए प्राण को यथाशक्ति रोकना पड़ता है। वास्तविक प्राणायाम कुम्भक ही माना गया है। यह दो प्रकार का होता है। जब रेचक ग्रौर पूरक की सहायता ली जाती है तब इसे 'सहित' कहते हैं, पर जब उन दोनों की सहायता के बिना ही प्राणायाम सिद्ध हो जाता है तब वह 'केवल' कहलाता है। उसी की सहायता से कुण्डलिनी शक्ति जाग्रत होती है। हठयोग-प्रणाली में जिस प्रकार सिद्धासन, खेचरी मुद्रा ग्रौर नाद-लय का महत्त्व है उसी प्रकार 'केवल' प्राणायाम का भी महत्त्व है।

प्राणायाम और मन—

कबीर प्राणायाम का उतना विशद विवेचन नहीं करते जितना कि योगमार्ग में प्रायः किया गया है। फिर भी कबीर-वाणी में उसका महत्त्व कम नहीं हुआ। योग की जटिलताओं की विवेचना करना कबीर का लक्ष्य नहीं था और न जटिल कायिक साधनाओं में ही वे योग को निहित मानते थे। वे तो योग को आध्यात्मिक उपलब्धि के लिए उपयोगी मान कर उसके उपयोगी अंश भर को मान्यता देते थे। वे योग का उपयोग मन के शमन के लिए करते थे क्योंकि मन ही द्वैत की प्रतीति का कारण है। 'हीरा' की निष्पत्ति 'मानस' में होती है अतएव कबीर का योगदर्शन मन पर विशेष जोर देता है। मन की विकृति का निवारण करने और उसे स्वस्थ बनाने के लिए कबीर ने प्राणायाम को उपयोगी माना है। 'पंच वाइ' के खोजने की जो बात वे कहते हैं उसका अवश्य ही कोई महत्त्व है। 'रवि ससि पवनां मेलौ बंधि' कहकर भी वे प्राणायाम-प्रक्रिया की ओर संकेत करते हैं। अतएव कबीर की वाणी में नाड़ियों का मूल्य प्राणायाम के संबंध से है।

नाड़ियाँ—

नाड़ियां प्राणवाहिनी हैं। इनके द्वारा शरीर में प्राण-सञ्चार होता है। इनकी संख्या के सम्बन्ध में शास्त्रों में मत-भेद है। भूतशुद्धि तंत्र में इनकी संख्या बहत्तर हजार बताई गई है, प्रपञ्चसार तंत्र में तीस हजार तथा शिव-संहिता में पैंतीस हजार कही गई है। इनकी संख्या कितनी भी हो, इनमें से थोड़ी-सी ही नाड़ियां महत्त्व की हैं, जिनमें से तीन ही का नाम बार-बार आया है। नाड़ियों की एकता कबीर की दृष्टि में है, यह स्पष्ट है।

जो हो, कबीर यह मानते हैं कि नाड़ियां वे मार्ग हैं जिनसे प्राण-शक्ति प्रवाहित होती है। यद्यपि कबीर शारीरिक शोध को विशेष महत्त्व नहीं देते, तथापि मानसिक शोध में शारीरिक शोध अपने-आप समाविष्ट हो जाता है। नाड़ी-शोध योग की प्रारम्भिक सीढ़ी है क्योंकि मन का सम्बन्ध वायु से है और वायु का नाड़ियों से। नाड़ियों की अशुद्धता कुण्डलिनी शक्ति के ऊर्ध्व-गमन को रोकती है और शुद्धि उसमें सहायक होती है।

प्रमुख नाड़ियाँ—

नाड़ियों में इड़ा, पिंगला और सुषुम्ना का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इड़ा और पिंगला श्वासवाहिनी नाड़ियाँ हैं। इनके द्वारा क्रम-क्रम से श्वास-प्रवाह होता रहता है, अतएव ये काल की सूचना देती हैं, बिल्कुल उसी प्रकार जिस प्रकार चन्द्र और सूर्य काल की सूचना देते हैं। इड़ा को चन्द्रा और पिंगला को सूर्या नाड़ी भी कहते हैं। 'ससिहर सूर' कह कर कबीर इन्हीं नाड़ियों की ओर संकेत करते हैं। जिस प्रकार चन्द्र, सूर्य शब्द क्रमशः इड़ा, पिंगला के प्रतीक हैं उसी प्रकार अग्नि सुषुम्ना की प्रतीक है। यह नाड़ी इड़ा और पिंगला के बीच में स्थित है। यह काल का भक्षण करती है क्योंकि सुषुम्ना-मार्ग में वायु का प्रवेश तभी होता है जब इड़ा और पिंगला दोनों के मार्ग को रोक दिया जाता है। इन दोनों नाड़ियों का सम्बन्ध अथवा ऐक्य सुषुम्ना में होता है। इस प्रकार वायु के सुषुम्ना में आने पर चन्द्र और सूर्य—रात और दिन अर्थात् काल का अन्त हो जाता है। यही योगी की अमरता है और इसी को उन्मनी अवस्था कहते हैं। जब सुषुम्ना में चन्द्र और सूर्य मिल जाते हैं तब प्राण सुषुम्ना के मार्ग से ऊपर को चढ़ते हैं। इसको कबीर 'उलटी गंगा'‡ बहना भी कहते हैं—

उलटी गंग मेर कूं चली।

इसी समय चक्रभेदन होता है और इसी समय अनाहत नाद सुनाई पड़ता है—

प्रकट प्रकास ग्यांन गुर गमि थैं, ब्रह्म अगनि प्रजारी।
ससिहर सूर दूर दूरंतर, लागी जोग जुग तारी॥
उलटे पवन चक्र षट वेधा, मेरडंड सर पूरा।
गगन गरजि मन सुनि समांनां, बाजे अनहद तूरा॥

अथवा—

ससिहर सूर मिलावा, तब अनहद वेन बजावा।

नाड़ी-प्रतीक—

जिस प्रकार इड़ा, पिंगला और सुषुम्ना को प्रतीक रूप में क्रमशः चन्द्र,

---

‡'उलटी गंगा' बहने का तात्पर्य मनोवृत्तियों के प्रवाह को उलट देना भी है। कबीर ने इस अर्थ में भी यह प्रयोग किया है।

सूर्य और अग्नि कहते हैं उसी प्रकार गंगा, यमुना और सरस्वती भी कहते हैं। कबीर ने 'सरस्वती' का प्रयोग सम्भवतः कहीं नहीं किया। वे इन्हें बंकनालि, सुषुमन नाड़ी, उलटी गंगा आदि नामों से इंगित करते हैं। कबीर ने जिस प्रकार 'गंग जमुन उर अंतरें' कह कर इड़ा और पिंगला की ओर संकेत किया है उसी प्रकार 'वंकनालि की डोरि' कह कर सुषुम्ना की ओर इंगित किया है।

त्रिवेणी—

मूलाधार इन तीनों नाड़ियों की मिलन-स्थली है। इसको योग की भाषा में 'युक्त त्रिवेणी' भी कहते हैं। आधार-कमल से प्रारम्भ होकर इड़ा और पिंगला क्रम-क्रम से उस सुषुम्ना के दांये-बांये जाती हैं जो ब्रह्मरन्ध्र तक जाती है। वे आज्ञाचक्र में सुषुम्ना में प्रवेश करती हैं। इस संगम को 'युक्त त्रिवेणी' कहते हैं क्योंकि यहाँ से निकलकर इड़ा और पिंगला पृथक् होकर क्रमशः बांये और दांये नासिका-रन्ध्र में चली जाती हैं। कबीर ने 'युक्त-त्रिवेणी' को त्रिवेणी नाम से अभिहित कभी नहीं किया। हाँ, 'युक्त त्रिवेणी' को उन्होंने 'त्रिवेणी', 'त्रिकुटी संगम', 'त्रिकुटी संधि', 'तीरथराज' एवं 'त्रिकुट कोट' आदि संज्ञाएं प्रदान की हैं। कबीर ने योग के पारिभाषिक शब्दों से अनेक सुन्दर रूपक तैयार किये हैं। उनमें से एक देख सकते हैं जिसमें इड़ा, पिंगला, त्रिवेणी और षट्चक्रों का महत्त्व प्रतिपादित किया गया है—

अरध उरध की गंगा जमुना, मूल कमल की घाट।
षट चक्र की गागरी, त्रिवैणी संगम वाट॥

जिस प्रकार धार्मिक लोग त्रिवेणी-स्नान का माहात्म्य बतलाते हैं उसी प्रकार कबीर भी त्रिवेणी-स्नान के माहात्म्य का वर्णन करते हैं, किन्तु कबीर की 'त्रिवेणी' में केवल मन ही स्नान कर सकता है और उससे उसको 'सुरति' की प्राप्ति हो सकती है—

त्रिवेणी मनहि न्हवाइये। सुरति मिलै जौ हाथि रे॥

काशी—

योग की भाषा में आज्ञाचक्र से गुजरती हुई इड़ा को 'वरुणा' और पिंगला को 'असी' भी कहा गया है और उनके सम्बन्ध से इस चक्र को 'वाराणसी' कहते

हैं। कबीर ने इन नदियों का नाम कहीं नहीं लिया और न चक्र को ही वाराणसी कहा है, किन्तु उसके पर्यायवाची शब्दों का प्रयोग अवश्य किया है। उन्होंने इस स्थल को कभी 'कासी' और कभी 'शिव की पुरी' कह कर उसी आशय की पूर्ति की है :—

काया कासी खोजै बास, तहाँ जोति सरूप भयौ परकास ॥

षट्चक्र—

योग-शास्त्र में सुषुम्ना के मार्ग में अनेक चक्रों की स्थिति बतलाई गई है। इनमें से प्रथम मूलाधार है जो सुषुम्ना का मूल होने के कारण इस नाम से अभिहित किया गया है। यहीं कुण्डलिनी शक्ति का निवास है। यह चक्र अधोमुख है और चतुर्दल कमल के आकार का है। यह गुदा और मूत्रेन्द्रिय के मध्य स्थित है। दूसरा स्वाधिष्ठान चक्र है जो ऊर्ध्वमुख षड्दल कमल के आकार में मूत्रेन्द्रिय के मूल में स्थित है। नाभिमूल में तीसरा चक्र मणिपूर स्थित है जो दशदल कमल के आकार का है। इसके ऊपर हृदय में चौथा चक्र है जो द्वादशदल कमल के आकार का है और जो हृदय चक्र या अनाहत चक्र के नाम से आख्यात है। पाँचवाँ चक्र कंठस्थान में स्थित है। इसका नाम विशुद्ध चक्र है और यह षोडशदल कमल कहलाता है। छठा चक्र आज्ञाचक्र या आकाश चक्र है। यह द्विदल कमल है और इसकी स्थिति भ्रूमध्य में है।

कबीर ने इन षट्चक्रों को स्वीकार किया है और उनके भेदन के महत्त्व पर जोर दिया है :—

षट चक्र कंवल बेधा, जारि उजारा कीन्हां।
काम क्रोध लोभ मोह, हांकि स्यावज दीन्हां ॥

इन चक्रों का भेदन पवन को उलटने पर एवं सुषुम्ना में वायु के प्रविष्ट होने पर होता है :—

उलटे पवन चक्र षट बेधा, मेर-डंड सर पूरा।

सहस्रार चक्र और उसकी विशेषता—

इन षट् चक्रों के अतिरिक्त ब्रह्मरन्ध्र में सहस्रार चक्र है जो सहस्रदलकमल कहलाता है। इसकी त्रिकोणकर्णिका में पूर्ण चन्द्रमण्डल है। इसके मध्य में

बिजली के समान परमानन्द रूप देदीप्यमान ज्योति है। इसमें चिदानन्दस्वरूप परम शिव विराजमान हैं। इनके पार्श्व में सहस्र सूर्य के समान तेजधारी प्रबोध-स्वरूप अर्द्धचन्द्राकार निर्वाणकला विराजमान है। इसके मध्य में कोटि सूर्यो के समान तेजोमय एवं रोम के समान सूक्ष्म निर्वाण-शक्ति की स्थिति है। इसके मध्य में मन-वाणी से परे, केवल योगगम्य, परम शिवपद है। इसी को परब्रह्म पद भी कहते हैं।

सहस्रारचक्र के समान अन्य चक्रों में भी देवस्थिति स्वीकार की गई है। मूलाधार में ब्रह्मा, स्वाधिष्ठान में विष्णु, मणिपूर में महारुद्र, हृदय में ईश्वर, विशुद्ध में सदाशिव तथा आज्ञाचक्र में शिव की कल्पना की गई है।

चक्राधिदेव—

इन चक्र-कमलों के दलों और अधिदेवों के सम्बन्ध में कबीर ने स्वतन्त्रता से काम लिया है। कबीर ने एक अष्टदल-कमल भी माना है जो परम्परा से भिन्न है। किस कमल की स्थिति कहाँ है, इस सम्बन्ध में कबीर की वाणी स्पष्ट नहीं है। अधिदेवों के सम्बन्ध में कबीर ने जो स्वतन्त्रता ली है उसका कारण यह है कि वे अनेक देवों की सत्ता स्वीकार नहीं करते। उन्हें तो केवल एक ही देव मान्य है जिसे वह किसी भी नाम से अभिहित कर देते हैं। वह कहीं श्रीरंग, कहीं श्रीगोपाल, कहीं कमलाकान्त और कहीं ज्योतिस्वरूप है। निम्नलिखित उद्धरणों से उक्त कमल-दलों और अधिदेव-नामों का परिचय हो सकता है:—

षटदल कंवल निवासिया, चहुं कौं फेरि मिलाइ रे।
दहुं के बीचि समाधियां, तहां काल न पासैं आइ रे।
अष्ट कंवल दल भीतरां, तहां श्रीरंग केलि कराइ रे।

\+ \+ \+

कदली कुसम दल भीतरां, तहां दस आंगुल का बीच रे।
तहां दुवादस खोजि ले, जनम होत नहीं मींच रे॥

\+ \+ \+

त्रिवेणी मनहिं न्हवाइए, सुरति मिलै जो हाथि रे।

\+ \+ \+

गगन गरजि मघ जोइये, तहां दीसै तार अनन्त रे।
बिजुरी चमकि घन वरषि है, तहां भीजत हैं सब संत रे।
षोडस कंवल जब चेतिया, तब मिलि गये श्री बनवारी रे।

तथा

अगम दुर्गम गढ़ रचियो वास, जामहि जाति करै परगास।
बिजली चमकै होइ अनंद, जिहि पौड़े प्रभु बाल गुबिंद॥

\+ \+ \+

अनहद सबद होत झनकार, जिह पौड़े प्रभु श्री गोपाल।

\+ \+ \+

द्वादस दल अभ्यंतर मंत, जहँ पौड़े श्रीकमलाकन्त।

\+ \+ \+

उहां सूरज नाहीं चंद, आदि निरंजन करै अनंद॥

इन उद्धरणों से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि कबीर ने योग-क्षेत्र में भी अपनी स्वतन्त्रता को अपहृत नहीं होने दिया। कबीर का लक्ष्य योग का विस्तृत एवं विशद विवेचन करना नहीं था, अपितु अनन्य प्रेम की सिद्धि एवं अद्वैत तत्त्व के साक्षात्कार के निमित्त मन को तदनुरूप बनाने के लिए योग के उपयोग की ओर संकेत करना था। इसीलिए कबीर की वाणी में योग-सम्बन्धी विस्तारों का अभाव है।

कुण्डलिनी—

कबीर ने कुण्डलिनी के जागरण पर भी पर्याप्त बल दिया है। इसके जागरण के लिए इड़ा-पिंगला के प्रवाह को रोकना आवश्यक है। इसके जागते ही सुषुम्ना का मार्ग खुल जाता है और उससे प्राणवायु ऊर्ध्वगामी हो जाती है:—

ससिहर सूर द्वार दस मूंदे, लागी जोग जुग तारी।

\+ \+ \+

उलटी गंग नीर बह आया, अंमृत धार चुवाई॥

\+ \+ \+

प्रेम पियालै पीवन लागे, सोवत नागिनी जागी॥

यह कुण्डलिनी मूलाधार के अधोभाग में स्थित है। कहते हैं कि वहाँ एक त्रिकोण-चक्र में स्थित स्वयंभूलिंग है। उसे साढ़े तीन वलयों में परिवेष्टित करती हुई कुण्डलिनी सुषुप्त सर्पिणी की भाँति स्थित है। सहस्रार चक्र में नित्य पुरुष का निवास है। कुण्डलिनी की प्रसुप्तावस्था में वाह्य सृष्टि चलती रहती है, किन्तु योग द्वारा उसके जागरित हो जाने पर वाह्य सृष्टि पुरुष में विलीन हो जाती है।

अमृत—

सहस्रार में स्थित चन्द्र से अमृत स्रवित होता रहता है। वह इड़ा नाड़ी से प्रवाहित होता रहता है जिसे मूलाधार में स्थित सूर्य भस्म करता रहता है और उसके स्थान पर विष उत्पन्न करता है जो शरीर में व्याप्त होता रहता है जिससे असामयिक जरा एवं मृत्यु का सामना करना पड़ता है। योगी लोग उपाय से उस अमृत का सदुपयोग करके विष-प्रभाव से मुक्त होकर अमर हो जाते हैं। इस अमृत-स्राव को कबीर निर्झर-रस भी कहते हैं:—

नीझर और रस पीजिये, तहां भंवर गुफा के घाट रे।

तथा

नीझर और अमीं रस निकसै, तिहि मदिरावल छाका॥

उद्बुद्ध कुण्डलिनी क्रमशः षट्चक्रों का भेदन करती हुई सहस्रार चक्र में शिव से जा मिलती है। इसको शिव-शक्ति-संयोग भी कहते हैं। कबीर शिव-शक्ति को ईश्वर-गौरी भी कहते हैं।

कबीर की योग-साधना का स्वरूप—

कबीर की योग-साधना में अनेक साधनाओं का मिश्रण है। उनके समय में योग के भी अनेक रूप प्रचलित थे। हठयोग में उनमें से बहुत-सी बातों का समावेश कर लिया गया था। फिर भी कबीर ने उन सब बातों को अपने ढंग से ही स्वीकार किया। जिस प्रकार उन्होंने कुण्डलिनी-योग की उपयोगी बातों को स्वीकार कर लिया उसी प्रकार मंत्रयोग, लययोग और शब्द-योग की सारभूत बातों को भी अपना लिया। कहने की आवश्यकता नहीं कि नाम-सुमिरण जिसको हम मंत्रयोग भी कह सकते हैं, सुरति-शब्द-योग का ही रूप है। इसका लक्ष्य मन को नाम-स्मरण में इस प्रकार लगा देना है कि उसका अपना पृथक् अस्तित्व ही न

रह जाय। लययोग का लक्ष्य भी यही है। इसमें साधक अपने को साध्य में विलीन कर देता है। इसको कबीर 'लौ' या 'लिव' कहते हैं। सुरति-शब्द-योग में मंत्र-योग और लययोग, दोनों का मिलन हो जाता है। बाह्य शब्द अन्तर्मुख होकर उच्चरित से अनुच्चरित एवं अनाहत नाद में परिवर्तित होकर शून्य रूप में परिणत हो जाता है। परमात्मा का नाम ही योग की चरम दशा में परमात्मा हो जाता है और उसमें साधक लीन हो जाता है।

सहजयोग—

संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि कबीर का योग मनोयोग है जिसको वे सहज-योग भी कहते हैं। इसको न तो अष्टांग योग ही कह सकते हैं और न षडंग हठ-योग ही, क्योंकि इसमें किसी क्रम, श्रम, या कृत्रिमता के लिए अवकाश नहीं है। यद्यपि कबीर ने यम-नियम की कोई चर्चा नहीं की, किन्तु उनका कहीं खंडन भी नहीं किया। हाँ, उनके सहजयोग में कठोर नियमों का, जिनमें श्रम एवं दिखावा अधिक है, समावेश नहीं है। आसन की दृढ़ता पर जोर देकर कबीर ने उसके भेद-विस्तारों को छोड़ दिया है। वे प्राणायाम और उसके महत्त्व को अच्छी तरह समझते हैं, किन्तु कुम्भक को अधिक अनुकूल समझते हैं:—

जब कुम्भकु भरिपुरि जीना, तब बाजे अनहद बीना।

अनेक नाड़ियों की ओर संकेत करते हुए भी कबीर ने इड़ा, पिंगला और सुषुम्ना का ही नाम लिया है। इड़ा-पिंगला से तो उन्होंने भाटी का काम लिया है। कबीर के सहजयोग में सहयोग देने वाली नाड़ी सुषुम्ना है। इसी के मार्ग से वे वायु को उलटते हैं और इसी के मार्ग से वे सोती हुई कुण्डलिनी को जगाकर ब्रह्मरन्ध्र में ले जाते हैं जहाँ वह शक्तिरूपिणी कुण्डलिनी शिव से मिलती है। इस दशा में परमानन्द की प्राप्ति होती है। षट् चक्रों का भेदन भी सुषुम्ना के मार्ग के खुलने पर ही होता है। सुषुम्ना ब्रह्मरन्ध्र का मार्ग है और ऐसा प्रतीत होता है कि कबीर ब्रह्मरन्ध्र और सुषुम्ना में विशेष अन्तर नहीं मानते। 'भंवर गुफा' सुषुम्ना और ब्रह्मरन्ध्र, दोनों को एक साथ संकेत करती है। इस ब्रह्मरन्ध्र में कबीर को आराध्य परम ज्योति का साक्षात्कार होता है। इस 'दरीबे' में आकर मन पवन के साथ विलीन हो जाता है। इस अवस्था को कबीर इस

प्रकार व्यक्त करते हैं :—

उनमन मनुवा सुन्नि समाना, दुबिधा दुर्मति भागी।
कहु कबीर अनुभौ इकु देख्या, रांम नाम लिव लागी ॥

इसको कबीर मन की निर्वाण-अवस्था भी कहते हैं :—

कबीर यहु मन कत गया, जो मन होता कालिह।
डूंगरि वूठा मेह ज्यूं, गया निवाणां चालि ॥

योगियों का कहना है कि 'सहस्रार' में स्थित चन्द्र से अमृत स्रवित होता है जिसे मूलाधार में स्थित सूर्य सोखता रहता है। योगी लोग उसे उपाय से पीकर अजर-अमर हो जाते हैं। कबीर उस चन्द्र का वर्णन तो नहीं करते जिससे अमृत स्रवित होता है, किन्तु वे वहाँ एक निर्झर अवश्य मानते हैं जहाँ से अमृत झरता है और कबीर का अनुभव है कि उसे पीकर साधक 'मतवाला' हो जाता है। कबीर का यह अमृत, मैं समझता हूँ, कायिक रस नहीं है, अपितु आध्यात्मिक आनन्दमात्र है।

मुद्रादि—

कबीर ने किसी विशेष मुद्रा का उल्लेख नहीं किया, किन्तु विभिन्न चक्रों में आराध्यदेव के ध्यान की बात अवश्य कही है जिसका उल्लेख पहले किया जा चुका है। मूलबंध पर कबीर ने विशेष ज़ोर दिया है क्योंकि इसका प्रभाव प्राणायाम की दृढ़ता पर भी पड़ता है।

ध्यान और नाद—

ध्यानबिन्दूपनिषद् योगी को अनाहत-नाद सुनने की प्रेरणा देता है। साथ-ही वह ध्यान के सम्बन्ध में भी निर्देशन करता है। पूरक के साथ नाभिकमल में स्थित चतुर्भुज रूप देव एवं शण पुष्प के रंग का ध्यान करना चाहिए, कुम्भक के साथ कमलासन ब्रह्मा का तथा रेचक के साथ आज्ञाचक्र में स्थित त्रिलोचन रुद्र का ध्यान करना चाहिए।

ध्यान की दृष्टि से कबीर अनाहत, आज्ञा और सहस्रार—इन तीन चक्रों का विशेष उल्लेख करते हैं, यद्यपि 'कदली कुसुम दल' का उल्लेख करके वे सर्वदेवमय 'नाभिकमल' का भी ध्यान रखते हैं। कमलाकान्त, श्रीरंग, श्रीगोपाल आदि

नामों से कबीर किसी आकार की ओर इंगित नहीं करते, किन्तु 'कदली कुसुम-दल' आदि से वे ध्यान के लिए आश्रय अवश्य खोज लेते हैं। जब सालम्ब मन निरालंब होकर विलय को प्राप्त हो जाता है, तभी आत्मदशा प्राप्त हो जाती है।

वायु और मन—

यह तो पहले ही कहा जा चुका है कि प्राण के साथ मन का गहन सम्बन्ध है, बिल्कुल उसी प्रकार जिस प्रकार कि मन का वासना के साथ है। इसीलिए 'हठयोग प्रदीपिका' में कहा गया है—"चित्त की प्रवृत्ति में दो कारण हैं एक वासना और दूसरा प्राणवायु। इन दोनों में से एक भी क्षीण हो तो दोनों ही नाश को प्राप्त हो जाते हैं अर्थात् वासना का क्षय होने पर प्राण और चित्त दोनों क्षीण हो जाते हैं और प्राण क्षीण होने पर चित्त और वासना दोनों का लय हो जाता है। जो पवन को बाँध लेता है वही मन को भी बांध लेता है और जो मन को बाँध लेता है वही पवन को भी बाँध लेता है। कबीर भी मन-पवन के सम्बन्ध को भली-भांति समझते हैं। वे यह जानते हैं कि जहाँ पवन लीन होता है वहीं मन भी लीन होता है।

वायु अपने ऊर्ध्वगमन के साथ मन को भी ले जाता है और मन के ऊर्ध्व-गमन में वायु का ऊर्ध्वगमन भी संनिहित रहता है। मन के स्थैर्य और विलय का एक ही अर्थ है। जब तक मन में वृत्तियाँ रहती हैं तब तक उसकी चंचलता या अस्थिरता सिद्ध है। मन के स्थिर होने पर प्राण स्थिर हो जाते हैं और प्राण (वायु) स्थैर्य से बिन्दु (वीर्य) स्थिर होता है जिससे शरीर को सत्त्व एवं स्थैर्य प्राप्त होता है :—

मनः स्थैर्ये स्थिरो वायुस्ततो बिन्दुः स्थिरो भवेत्।
बिन्दुस्थैर्यात्सदा सत्त्वं पिण्डस्थैर्यं प्रजायते ॥

कबीर मन के मारने की बात पर बहुत जोर देते हैं। इसी को सूफ़ी 'फनां' की स्थिति बतलाते हैं। कबीर जहाँ मन की स्थिरता पर जोर देते हैं वहाँ 'बिन्दु' की स्थिरता पर भी जोर देते हैं क्योंकि वे जानते हैं कि इससे सत्त्व की प्राप्ति होती है जिससे मन स्थिर होता है। इसीलिए वे कहते हैं :—

सुप्पनें विंद न देई झरनां, ता काजी कूं जुरा न मरणां।

श्रोत्रादि इन्द्रियों का प्रेरक मन है, मन का प्रेरक मारुत है और मारुत का नाथ लय (मनोलय) है। वह लय नादाश्रित है अर्थात् नाद में मन लय को प्राप्त हो जाता है :—

इन्द्रियाणां मनो नाथो मनोनाथस्तु मारुतः।
मारुतस्य लयो नाथः स लयो नादमाश्रितः॥

मन, मारुत और नाद—

कबीर भी इन्द्रियों को अधिकृत करने के लिए मन को अधिकृत करने की बात कहते हैं। जब तक मन वश में नहीं होगा तब तक इन्द्रियाँ भी वश में नहीं आतीं :—

मन न मारचा मन करि, सके न पंच प्रहारि।

इन्द्रिय-विषयों में रमा हुआ मन, उस समय तक वश में नहीं आ सकता जब तक कि उसको विषयों से विमुख न किया जाय। इस अभिप्राय से कबीर कहते हैं :—

कबीर मन विकरैं पड़्या, गया स्वादि कैं साथि।
गलका खाया बरजतां, अब क्यूं आवै हाथि॥

साधना की सफलता मनरूपी मृग को मारने में है। जिस प्रकार नादमुग्ध हरिण मारा जाता है उसी प्रकार नाद-लीन मन भी मारा जाता है। यों तो कबीर ने मन मारने के अनेक साधन बतलाये हैं, किन्तु उनमें से एक साधन नादानुसन्धान भी है जो योग से सम्बन्धित है। इसीलिए वे सुरति-निरति के साथ नाद की आवश्यकता पर जोर देते हुए कहते हैं :—

मुद्रा निरति सुरति करि सिंगी, नाद न षंडै धारा।

मन और नाद—

मन के विलय के लिए जिस प्रकार ज्योति का ध्यान आवश्यक है उसी प्रकार नाद-श्रवण भी आवश्यक है। राजा राम की ज्योति में कबीर की अन्तर्दृष्टि लग जाती है और 'अनाहत नाद' में उनकी अन्तःश्रुति लग जाती है। यह अन्तर्दृष्टि और अन्तःश्रुति मन की ही एक स्थिति है। धीरे-धीरे मन इन्हीं में लीन हो जाता है :—

राजा राम अनहद किंगुरी बाजै, जाकी दृष्टि नाद लव लागै।

तथा—

जगत गुर अनहद किंगरी बाजै, तहां दीरघ नाद ल्यौं लागै।

नाद की अवस्थाएँ—

अनाहत नाद की चार अवस्थाएँ होती हैं—(१) आरम्भावस्था, (२) घटावस्था, (३) परिचयावस्था और (४) निष्पत्ति अवस्था। निम्न श्लोक द्रष्टव्य है :—

आरम्भश्च घटश्चैव तथा परिचयोऽपि च।
निष्पत्तिः सर्वयोगेषु स्यादवस्था चतुष्टयम्॥

जब प्राणायाम के अभ्यास से अनाहत चक्र में वर्तमान ब्रह्मग्रन्थि का भेदन होता है तो हृदयाकाश में उत्पन्न आनन्दजनक, अलङ्कार-झंकृति के समान अनाहत ध्वनि देह के भीतर सुनाई पड़ती है।

घटावस्था में प्राणवायु अपने साथ अपान, नाद और विन्दु को एक करके मध्य चक्र में स्थित होती है, जो कंठ-स्थान में है। यहां कुम्भक द्वारा विष्णु-ग्रन्थि के भेदन से अतिशून्य (कंठाकाश) में भेरी-नाद जैसा विविध-नाद-संमर्द श्रवण-गोचर होता है।

तीसरी अवस्था में भ्रूमध्याकाश में मर्दल-वाद्य की-सी ध्वनि होती है जो प्राणवायु के महाशून्य (भौंहों के बीच के अवकाश) में स्थित होने पर सुनाई पड़ती है। इस अवस्था में अनेक सिद्धियां मुग्ध करने आती हैं, किन्तु उनके तिरस्कृत होने पर सहज आत्मानन्द का उदय होता है और योगी दोष, दुःख, जरा, व्याधि, क्षुधा, निद्रा आदि से मुक्त हो जाता है। यहाँ आज्ञाचक्र है जिसकी ग्रंथि का नाम रुद्र-ग्रन्थि है। इसी ग्रंथि के भेदन के उपरान्त प्राणवायु भृकुटि-आकाश में प्राप्त होती है। इस स्थान को शर्वपीठ या शिवालय भी कहते हैं।

चौथी अवस्था में प्राणवायु ब्रह्मरन्ध्र में पहुँचती है और वंशी और वीणा का शब्द सुनाई पड़ता है। इस अवस्था में सुनाई देने वाले नाद के भी अनेक भेद किये गये हैं। कहते हैं कि आदि में समुद्र, मेघ, भेरी और डमरु का-सा शब्द सुनाई पड़ता है। अन्त में किंकिणी, वेणु, वीणा, अलिगुञ्जन जैसा

शब्द सुना जाता है। इस प्रकार सूक्ष्मतर नाद को सुनता हुआ योगी का मन भी झीना (क्षीण) होता चला जाता है। एक अवस्था ऐसी आती है जिसमें नाद के विलय के साथ मनोविलय भी हो जाता है।

अनाहत नाद के अन्य नाम—

अनाहत नाद के कबीर ने भी अनेक नाम बतलाये हैं। वे उसको कहीं 'गगन-गर्जना', कहीं 'अनहद तूरा', कहीं 'अनहद बेन', कहीं 'अनहद झींगुरी', और कहीं 'अनहद बाजा' नाम से अभिहित करते हैं। 'अनहद झंकार' का प्रयोग भी उन्होंने अनाहत नाद के लिए ही किया है किन्तु कहीं ऐसा प्रतीत नहीं होता कि इन शब्दों का प्रयोग उन्होंने किसी भेद-दृष्टि से किया है।

"गुण और गुणी में अभेद है। आकाश का गुण शब्द है। जबतक शब्द सुनाई पड़ता है तब तक आकाश की कल्पना है। मन के साथ शब्द के विलय हो जाने से जिस निःशब्द परब्रह्म की अनुभूति होती है उसे ही परमात्मा भी कहते हैं। कबीर का लक्ष्य 'अनाहत नाद मात्र' का सुनना नहीं है। उनको उससे आगे असीम का साक्षात्कार करना है। वे ध्वनि के मार्ग से सहज में मिलने की बात कहते हैं :—

स्वादि पतंग जरै जरि जाई, अनहद सौं मेरौ चित न रहाई।
कहै कबीर धुनि लहरि प्रगटी, सहजि मिलैंगा सोई॥

लय—

मनोविलय की स्थिति को कबीर 'शून्य' की स्थिति भी कहते हैं। जिसकी 'लौ' शून्य में है वे उसी को 'जोगेस्वर' बतलाते हैं :—

कहै कबीर सोई जोगेस्वर, सहज सुंनि ल्यौ लागै।

अन्यत्र यह कहा जा चुका है कि 'लय' का तात्पर्य मन को ध्यानमग्न करके वृत्तिहीन कर देना है। 'सुंनि मंडल में धरौ धियान' कह कर कबीर इसी अवस्था की ओर संकेत करते हैं। इस अवस्था में जीव की क्या स्थिति होती है, इसका परिचय कबीर अपनी इस पंक्ति से देते हैं :—

प्यंड परैं जीव जैहै जहां, जीवत ही ले राखौ तहां।

इस अवस्था में शरीर और मन दोनों से संबंध नहीं रहता। जब मनो-

वृत्तियां नष्ट हो जाती हैं तो साधक के लिए शरीर की सत्ता भी मानों नहीं रहती और मन उस समय नहीं रहता जब वह ब्रह्ममय हो जाता है। कबीर ने इसी बात को इन शब्दों में व्यक्त किया है :—

तन नाहीं कब ? जब मन नाहिं, मन परतीति ब्रह्म मन मांहि।

मन ब्रह्ममय उस समय होता है जबकि वह गंगा-यमुना के संगम पर, जो दसवें द्वार पर स्थित है, स्नान करके पावन हो जाता है—

मन मंजन करि दसवें द्वारि, गंगा-जमुना-संधि बिचारि।

संभवतः वहाँ कुछ न देखकर साधकों को निराशा हो इसलिए कबीर उन्हें सचेत करते हैं :—

नांहीं देखि न जइये भागि, जहां नहीं तहां रहिये लागि।

और समझाते हुए कहते हैं कि जहाँ आप लोगों को कुछ नहीं दीखता वहाँ आप का आराध्य है। आप उसे पहचानने का प्रयत्न कीजिए :—

जहां नहीं तहां कछू जांणि, जहां नहीं तहां लेहु पछांणि।

इस अवस्था को कुलार्णव तंत्र ने ध्यान का वह रूप बतलाया है जो विलक्षण है और जिसमें न 'अत्र' है न 'अनत्र' है, जहां प्रकाश-पुञ्ज की-सी दीप्ति, सागर की-सी गंभीरता तथा आकाश की-सी व्याप्ति है।

इस संकल्प-विकल्पहीन स्थिति को योग की भाषा में अनेक नाम दिये गये हैं। समरसत्व, सहजावस्था, राजयोग, समाधि, उन्मनी, मनोन्मनी, अमरत्व, शून्य, शून्याशून्य, परमपद, अमनस्क, अद्वैत, निरालंब, निरंजन, जीवन्मुक्ति, तुरीयावस्था आदि से एक ही अवस्था का द्योतन होता है। इस अवस्था में चित्तवृत्तियों का निरोध हो जाने से सुख-दुख से मुक्ति हो जाती है। यह निर्विकार अवस्था होती है। इसी के क्रम में देह-त्याग के उपरान्त विदेह-कैवल्य अथवा परम मुक्ति की प्राप्ति हो जाती है जिसे स्वरूपावस्थान भी कहते हैं।

कबीर ने उन्मनी, मनोन्मनी, शून्य, परमपद, अद्वैत, निरालंब, निरंजन, जीवनमुक्ति आदि नामों से इसी अवस्था की ओर संकेत किया है, किन्तु इस अवस्था को वे सत्ताहीन नहीं मानते। उन्मनी अवस्था में समग्र ब्रह्मांड पिंड में आभासित होने लगता है।

निष्कर्ष—

कबीर ने योग को प्रेम से आसिक्त किया है। जिस निरंजन को हठयोगियों ने अवस्था माना है उसको कबीर ने प्रायः एक सत्ता के रूप में ही स्वीकार किया है। इसका कारण उनका प्रेमातिरेक है। इस प्रेम के अतिरेक से वे योग, ध्यान और तप को विकार कह डालते हैं। वे सर्वत्र निरंजन राम को देखते हुए उसी का आश्रय ले लेते हैं :—

अंजन आवै अंजन जाइ, निरंजन सब घटि रह्यौ समाइ।
जोग ध्यांन तप सबै विकार, कहै कबीर मेरे रांम अधार॥

'राम रसायन' के सामने वे सिद्धियों को हेय समझकर तिरस्कृत कर देते हैं। और तो और, ज्ञान तक को वे विकारों का कारण कह कर हरिप्रेम को उत्कृष्ट बतला देते हैं :—

का सिधि साधि करौं कुछ नाहीं, रांम रसांइन मेरी रमना मांहीं।
सब कृत काच हरी हित सार, कहै कबीर तजि जग ब्यौहार॥

संक्षेप में यही कहा जा सकता है कि ज्ञान और योग को कबीर अपने में पूर्ण नहीं मानते, उनकी पूर्णता हरि-प्रेम में सिद्ध होती है।

भक्ति—

कबीर की राम-भक्ति वैष्णव भक्ति है, चाहे उनके राम रहीम के वाचक ही सही। उन्होंने शुक, उद्धव, अक्रूर, हनुमान, ध्रुव, अंबरीष, प्रह्लाद, विदुर आदि जिन भक्तों के उदाहरण दिये हैं वे सब वैष्णव भक्ति की विभूतियां हैं। इसके अतिरिक्त 'चक्रसुदर्शन धारचो' आदि अनेक वाक्यों से भी यही प्रमाणित होता है कि कबीर की प्रवृत्ति वैष्णव भक्ति-मार्ग की ओर ही थी। 'विष्णु ध्यान सनान करि दे' से भी वैष्णव भक्ति की ओर ही कबीर के भाव का पलड़ा झुका दिखाई पड़ता है, चाहे कबीर की दृष्टि में विष्णु का पुराण-प्रतिष्ठित रूप भले ही न रहा हो। 'वैष्णव की छपरी भली' अथवा 'वैष्णव की कूकरि भली' आदि उक्तियों से भी वैष्णवों के प्रति कबीर की आदर-भावना प्रकाशित होती है। इससे यह न समझ लेना चाहिए कि कबीर किसी भी वैष्णव का सम्मान करते हैं। पाखंडी वैष्णव का सम्मान उनके हृदय में बिल्कुल नहीं है। इसी से वे सुना भी देते हैं—

वैष्णव हुआ तो क्या भया, माला मेली चारि।
बाहर कंचनवा रहा, भीतरि भरी भँगारि॥

वैष्णव भक्ति में भावना को अधिक महत्त्व दिया गया है। जिस प्रकार 'देवानां मानसी सृष्टिः', 'यादृशी भावना यस्य', 'सा तु परमप्रेमरूपा यथा व्रज-गोपिकानाम्', 'जाकी रही भावना जैसी, तिन देखी प्रभु मूरति तैसी' आदि उक्तियाँ हमारी आँखों के सामने वैष्णव भक्ति में भावना का स्थान ला देती हैं उसी प्रकार कबीर की अनेक उक्तियाँ उनकी भक्ति-भावना को अभिव्यक्त कर देती हैं। कबीर ने 'भाव भगति' पर ही विशेष बल दिया है। उसके बिना यमपुर से बचना असम्भव है। 'भगति नारदी रिदै न आई' से वैष्णव भक्ति और भावना की प्रधानता दोनों सिद्ध हैं। इसके अतिरिक्त नारद ने भक्ति-सूत्र में जिन तेरह आसक्तियों का निरूपण किया है वे भावाश्रित हैं। उनमें से विरहासक्ति में भावना का चरमोत्कर्ष है। इसे देख यदि कुछ आलोचक कबीर को सूफ़ी भावना से प्रभावित कहें तो कोई विस्मय की बात नहीं है।

निस्सन्देह कबीर की विरह-तीव्रता में सूफ़ी प्रभाव है पर हम पहले ही कह आये हैं कि विरह-वेदना भारतीय दाम्पत्य की अनुगामिनी है। वह एकान्ततः सूफ़ी-प्रभावित नहीं। विरह-वेदना की तीव्रता चाहे सूफ़ियों की देन हो पर आधार-शिला भारतीय है। कबीर का विरह ऐसा संगम है जिसमें भारतीय और अभारतीय दोनों धाराएँ मिल जाती हैं। जो हो, इससे कबीर के भक्ति-मार्ग का रूप खण्डित नहीं होता। 'नारदी भक्ति' अथवा 'दशधा-भक्ति' जैसे पदों से कबीर की भक्ति में आसक्ति का स्थान स्पष्ट हो जाता है। ईश्वरासक्ति कबीर की भक्ति का प्राण है, जो 'विरह-दशा' में उत्कट रूप धारण कर लेती है। कबीर की भक्ति जिसे उन्होंने 'भाव भगति' से प्रकट किया है, 'प्रेमलक्षणा' है, जिसमें संयोग के चित्र भी प्रकट हुए हैं। संयोग और वियोग, दोनों दशाओं के चित्रों को मिला कर देखने पर भी यह कहना कि कबीर का भक्ति-मार्ग वैष्णव भक्ति-मार्ग नहीं, बिल्कुल नहीं जँचता।

कबीर ने वैष्णव भक्ति की शृङ्खला को सुरक्षित रखते हुए भी एक कड़ी को बदल कर दूसरी को लगा दिया है और वह कड़ी है—निराकार और निर्गुण

की उपासना। कहने की आवश्यकता नहीं कि गीता ने जिस भक्ति को प्रस्तुत किया था उसमें सगुण-साकार और निर्गुण-निराकार, दोनों की उपासना के लिए अवकाश था किन्तु उसने साकारोपासना के भविष्य के लिए ही कुछ अधिक आकर्षक धरातल निर्मित कर दिया था। वैष्णव पुराणों ने उसका अधिक उपयोग किया। परिणाम यह हुआ कि निर्गुण-निराकारोपासना सगुण-साकारोपासना की पृष्ठभूमि में चली गई। फिर भी इस तथ्य को कोई भी पुराण न दबा सका कि भक्ति की चरम परिणति निर्गुण एवं निराकार की उपासना में ही होती है।

इसमें सन्देह नहीं कि सगुण और साकार की उपासना के रूप में पुराणों ने उपासक को जो सीढ़ी दी थी वह वास्तव में प्रारम्भिक सीढ़ी थी। भक्ति-भावना को दृढ़ करने में उसका अपना महत्त्व था। अन्ध भक्तों के संबन्ध से उसने अपने महत्त्व को खो दिया और कबीर के समय के आसपास भक्ति समाज की प्रगति में बाधा बन गई। जो भक्ति भारतीय मानस के लिए वरदान बनकर अवतीर्ण हुई थी वही समाज के लिए अभिशाप बन गई। जिस प्रकार महामना कृष्ण ने अपने उपदेशों से वैदिक धर्म में प्रविष्ट हुए विकारों का बहिष्कार किया, उसी प्रकार एक महापुरुष की आवश्यकता भक्ति को विकारों से मुक्त करने के लिए थी और वह महापुरुष भारतीय जनता को रामानन्द के रूप में मिला। उनके मार्ग का और भी अधिक परिशोध महात्मा कबीर ने किया। महात्मा कबीर का महत्त्व रामानन्द से भी अधिक बढ़ जाता है। उन्होंने भक्ति के द्वार को प्रत्येक मत के अनुयायी के लिए खोल दिया। यों तो यह उदारता वैष्णव भक्ति की थी, पर उसके प्रचार और प्रसार का अधिक श्रेय कबीर ही को देना चाहिए।

वैष्णवों की साकार-चर्या में विधर्मियों की तो बात ही क्या, सधर्म शूद्र भी बहिष्कृत थे। उनके लिए भक्ति-द्वार बन्द था। श्री स्वामी रामानन्द जी ने इस द्वार को खोला अवश्य, पर चर्या-विधान में अभी भी भेदभाव था, जो समाज के अन्तस्तल में निविष्ट शल्य की सी मर्मान्तक वेदना दे रहा था। अन्दर ही अन्दर एक विगलन बढ़ाकर समाज को निष्प्राण बना रहा था। कबीर ने शल्य

को निकालने का पूरा प्रयत्न किया। उन्होंने भक्ति का वह रूप चुना जिसे किसी भी स्थान या समाज में स्वीकृत किया जा सकता था। उनकी भक्ति का रूप वैष्णव भक्ति का था, किन्तु उसको उन्होंने निर्गुण और निराकार से सम्बन्धित करके विशेष से निर्विशेष बना दिया। वह सर्वसाधारण की सम्पत्ति बनी। धर्म के पैरों में पड़ी रूढ़ियों की बेड़ियों को काट उसे सरल एवं सर्व-सुलभ कर दिया। समाज की संकुचित परिधि को विशाल एवं व्यापक बनाया।

कबीर एक सतत सतर्क एवं सप्रतिभ समाज-सुधारक थे। कबीर के राम में वाल्मीकि के राम से बहुत बड़ा अन्तर दिखाई देता है। कहना न होगा कि दोनों के राम में नाम के सिवा और कोई साम्य नहीं है। कबीर के राम में जिस प्रकार 'अल्लाह' का रूप भी दीख रहा है उसी प्रकार 'अल्लाह' में राम का रूप भी दीखता है। कबीर का राम या अल्लाह किसी स्थान या धर्म के बन्धन में नहीं है। वह सब में है और सब उसमें हैं। उसका 'जलवा' हर कहीं है, उसको वही देखता है जिसकी आँख खुली है। कबीर उसे अपने अन्तर में खोजने का उपदेश देते हैं। भीतर कोई और राम है और बाहर कोई और· ऐसा न कोई समझ ले, इस सम्बन्ध में सचेत करते हुए कबीर कहते हैं कि 'जो ब्रह्मांड में है वही पिंड में भी है'।

रामानन्द के शिष्य होने के नाते कबीर की भक्ति में वैष्णव तत्त्वों की प्रधानता अस्वाभाविक नहीं। उन सब तत्त्वों में प्रमुख था 'राम-नाम'। जिस प्रकार कबीर के लोचनों में राम की—अपने राम की तस्वीर थी उसी प्रकार 'राम-नाम के सम्बन्ध में भी उनका अपना आदर्श था। रामानन्द के राम 'दाशरथि राम' और 'परब्रह्म', दोनों के द्योतक हैं, किन्तु कबीर के राम ऐसे नहीं हैं। 'ना जसरथ घरि औतरि आवा' से इसी उक्ति की पुष्टि होती है।

इसमें सन्देह नहीं कि 'नाम' भक्ति-मार्ग का एक अमोघ अस्त्र है। रामानन्द ने राम-नाम को लेकर जो आन्दोलन चलाया था, वह अभूतपूर्व था किन्तु कबीर ने राम-नाम की महिमा को उनसे भी आगे बढ़ाया। अपने गुरु की भांति कबीर भी राम-नाम में अद्भुत शक्ति मानते हैं। इसका सम्बन्ध उन्होंने विशेष स्मरण और

ध्यान से जोड़ा है। कबीर का कहना है कि जिस प्रकार खांड कहने से मुंह मीठा नहीं होता उसी प्रकार राम कहने से उद्धार नहीं होता। तल्लीन होकर राम-नाम जपने या स्मरण करने पर ही कबीर ने बल दिया था जिस नाम-स्मरण में मनोयोग नहीं वह किसी काम का नहीं। इसीलिए वे कहते हैं:—

राम नाम कहु क्या करै, जे मन के ग्रौरै कांम।

राम-नाम को लोगों ने हँसी-खेल समझ रखा है। कबीर उसके निर्वाह को इतना सरल नहीं समझते ग्रौर कहते हैं:—

कबीर कठिनाई खरी, सुमिरतां हरिनाम।
सूली ऊपरि नट-विद्या, गिरूं त नाहीं ठाम॥

कबीर के नाम-स्मरण का ग्रादर्श है मन को राम से इस प्रकार जोड़ देना कि दोनों में ग्रभेद हो जाये। कबीर स्मरण की इस स्थिति का प्रचार करते हैं:—

मेरा मन सुमिरै रांम कूं, मेरा मन रामहि ग्राहि।
ग्रब मन रांमहि ह्वै रह्या, सीस नवावौं काहि॥

यह है—राम-नाम के स्मरण का ठीक प्रकार, जिसका कबीर उपदेश देते हैं। राम-नाम के इस महत्त्व को ग्रागे भी निभाया गया। तुलसीदास ने 'नाम' को निर्गुण ग्रौर सगुण, दोनों ब्रह्म-रूपों से बड़ा बतलाया है:—

ग्रगुन सगुन दुइ ब्रह्म सरूपा, ग्रकथ ग्रगाध ग्रनादि ग्रनूपा।
मोरें मत बड़ नाम दुहूँ तें, किए जेहि जुग निज बस निज बूतें॥

+ + +

एक दारुगत देखिग्र एकू, पावक सम जुग ब्रह्म-बिबेकू।
उभय ग्रगम जुग सुगम नाम तें, कहेउँ नाम बड़ ब्रह्म राम तें॥

तुलसीदास ने 'नाम' की महिमा को बढ़ाने में ग्रवश्य ही एक कदम ग्रागे रखा। उसके मूल्य को भाव ग्रौर कुभाव ग्रथवा किसी भी दशा में कम न होने दिया। इससे तुलसीदास पर एक परंपरा का प्रभाव स्पष्ट है। कबीर ने ऐसी बात कभी नहीं कही।

कबीर ने रामानन्द द्वारा परिपोषित 'बाह्य चर्या' को ग्रपनी भक्ति-पद्धति में बिल्कुल नहीं ग्रपनाया। उन्होंने न तो मंदिर ग्रौर मूर्ति को मान्यता दी, ग्रौर

न पूजा के विधि-विधान को ही स्वीकार किया। अवतारों को भी उन्होंने कोई मान्यता नहीं दी। उन्होंने उपासना की जिस विधि का प्रवर्तन किया वह उनके सम्पर्क से नये रूप में प्रकट हुई। इसलिए कबीर की निर्गुण भक्ति में मानसी उपासना का एक विशेष स्थान है। कबीर ने अर्चन-चर्चन से सम्बन्ध रखने वाली बँधी भक्ति-पद्धति को अपने पंथ में कोई स्थान नहीं दिया, जहाँ कहीं 'आरती' आदि का उल्लेख आया है, वहाँ भी उन्होंने उसका मानसी रूप ही समझाया है। इस प्रकार कबीर ने उस भक्ति को जो मूलतः एकभाव के रूप में प्रादुर्भूत हुई थी, बाह्य रूढ़ियों के दलदल से मुक्त करके सच्ची भाव-भक्ति के रूप में प्रतिष्ठित किया।

संक्षेप में यह कह देना अनुचित न होगा कि भारतीय भक्ति-शृंखला की कड़ी के रूप में कबीर की भक्ति एक अनुपम अनुदान है—ऐसा अनुदान जिसने भक्ति को न केवल विकार-मुक्त ही किया, अपितु उसके द्वारा उलझी हुई सामयिक परिस्थितियों के सुलझाने की दिशा में भी एक महत्त्वपूर्ण कदम बढ़ाया। सच तो यह है कि समाज को आत्म-शोधन के निमित्त एक अमोघ औषधि, 'राम रसायन' प्रदान की। ऐसा प्रतीत होता है कि कबीर भक्ति को मनुष्य के अनिष्ट-निवारण एवं रक्षार्थ ब्रह्मास्त्र मानते हैं। यदि मनुष्य की रक्षा का कोई अन्तिम साधन है तो वह भक्ति है। कबीर की भक्ति वैयक्तिक साधना की वस्तु होती हुई भी सामाजिक संस्कार का भी अद्भुत साधन है अर्थात् स्वान्तःसुखाय होती हुई भी सर्वान्तःसुखाय है।

कबीर की भक्ति का तात्त्विक स्वरूप—

इस विवेचन के आधार पर कबीर की भक्ति का तात्त्विक स्वरूप देखा जा सकता है। कबीर ईश्वर के सच्चे प्रेमी थे। वे प्रत्येक वस्तु और प्रत्येक स्थान में परमात्मा की सत्ता की महत्ता का साक्षात्कार करते थे।

परमात्मा का स्वरूप—

वही एक सत्ता सत्य है। आत्मा उस परमात्मा से भिन्न नहीं है। भ्रम के कारण हमें उसमें और इसमें अन्तर दीख पड़ता है। सिद्धान्ततः कबीर परमात्मा को अद्वैत मानते हैं। उससे आत्मा अभिन्न है—इस 'अभिन्नानुभूति' की सिद्धि के

लिए ही वास्तविकता के प्रति आकर्षण आवश्यक है। आकर्षण ही सायुज्य एवं अभेद का साधक है। भगवान् के प्रति भक्त का आकर्षण ही प्रेम या भक्ति है। यह विवेक से मिलती है। विवेक और वैराग्य अन्योन्याश्रित हैं। विवेक और वैराग्य से युक्त भक्ति ही सच्ची भक्ति होती है। विवेकी एवं विरक्त भक्तों को ही नाभादास ने भक्ति और भगवान् से अभिन्न बतलाया है :—

भक्ति भक्त भगवन्त गुरु, चतुर नाम वपु एक।

गुरु और परमात्मा—

गुरु को भगवान् का स्थान देने की परम्परा का विकास बहुत पहले ही हो चुका था। 'गुरुर्ब्रह्मा, 'गुरुर्विष्णु:' आदि वाक्यों में इसका प्रमाण मिलता है। कबीर ने इसको और आगे बढ़ाया और गुरु को 'गोविंद' से भी ऊँचा उठा दिया। तुलसीदास ने इसको और भी आगे बढ़ाया और गुरु का ही नहीं, उन्होंने तो ईश्वर के दासों का स्थान ईश्वर से भी ऊँचा कर दिया—

मोरे मन प्रभु अस विस्वासा। राम तें अधिक रामकर दासा ।।

नवधा भक्ति—

भक्ति के आचार्यों ने नवधा-भक्ति के क्रम पर विशेष जोर दिया है। नवधा-भक्ति के अन्तर्गत नौ प्रकार की भक्ति का वर्णन किया जाता है। भागवत-पुराण के सप्तम स्कन्ध में नवधा-भक्ति का निरूपण इस प्रकार किया गया है :-

श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पाद-सेवनम्।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम् ।।

भगवत्प्रेम के जगाने के लिए अनेक साधनों की आवश्यकता होती है। उनमें भगवत्कृपा का सर्वप्रमुख स्थान है।

अनुग्रह—

प्रभु अनुग्रह के विना यह संसार-सागर दुस्तर है, दुष्पार है। वह प्रभु अनुभूतिगम्य है, अनुपम है, परम कारुणिक है। इसी भाव को कबीर ने कितने सुन्दर एवं सरल शब्दों में कहा है—

रांम राइ तूं ऐसा अद्भुत अनुपम, तेरी अनभै थैं निस्तरिये।
जे तुम्ह कृपा करौ जगजीवन, तौ कतहूं भूलि न परिये ।।

निर्गुण और निराकार—

निर्गुणोपासक कबीर मूर्ति-पूजा के विरोधी थे क्योंकि मूर्ति-पूजा तत्कालीन सामाजिक एकता में बाधक थी। इसके अतिरिक्त, सगुण-साकार की उपासना से आत्मा के वास्तविक स्वरूप को जो निर्गुण और निराकार है, उनकी दृष्टि में, सिद्ध करना एक प्रकार से असम्भव है क्योंकि सेवक अपने सेव्य को प्राप्त होता है। इसलिए कबीर कहते हैं :—

जास का सेवक तास कौं पाइहै, इष्ट कों छाड़ि आगैं न जांहीं।
गुणमई मूरति सेइ सब भेष मिलि, निरगुण निज रूप बिश्राम नांहीं।।

भाव-भक्ति—

कबीर भक्ति के क्षेत्र में जप, तप, व्रत एवं तीर्थ-स्नान को कोई महत्त्व नहीं देते। संयम तक को उनकी भक्ति में कोई स्थान नहीं है। कबीर तो केवल भाव-भक्ति के ही समर्थक हैं। मूल्य हो सकता है तो भाव-भक्ति के साथ।

विश्वास—

संसार आवागमन के चक्र पर चढ़ा हुआ है। जन्म और मृत्यु की सीमाओं में उसे अनेक सुख-दुख का सामना करना पड़ता है। मनुष्य दुख और काल-पाश से बचना चाहता है। कबीर इनसे बचाने की शक्ति परमात्मा के सिवा और किसी में नहीं पाते। इसलिए वे भक्ति-मार्ग पर लाने के लिए उससे प्रार्थना करते हैं :—

बाबा करहु कृपा जन मारगि लावो, ज्यूं भव बंधन पूटैं।
जुरा मरन दुख फेरि करंन सुख, जीव जनम थैं छूटैं।।

कबीर को विश्वास है कि जिसने प्रेम में लीन होकर परमात्मा को भजा है, वही इस आवागमन से मुक्त हो गया है। उसकी कृपा से क्या नहीं हो सकता? उसकी कृपा को समक्ष लाने के लिए कबीर 'अधम भील' और 'अजाति गणिका' के उद्धार की कथा का स्मरण दिला देते हैं, ध्रुव की 'अटल पदवी' को सामने ले आते हैं। मृत्यु का भय, जीवन की निस्सारता और मुक्ति की कामना से कबीर भक्ति की प्रेरणा प्राप्त करते हैं।

जीवन और भक्ति—

मानव-जीवन को कबीर एक ईश्वर-प्रदत्त अवसर मानते हैं, क्योंकि इसमें वह भवबंधन से मुक्त होने का प्रयत्न कर सकता है। यदि मनुष्य सांसारिक विषयों में ही रत रहा तो उसने जीवन को—इस महान् अवसर को खो दिया। इसी कारण उन्होंने कहा है :—

> कबीर हरि की भक्ति करि, तजि विषया रस चोज।
> बार बार नहीं पाइए, मनिषा जन्म की मौज॥

इस मानव-जीवन का सदुपयोग कबीर सदाचरण में मानते हैं, और साधु-सेवा एवं भगवद्-गुण-गान से बढ़कर भला और क्या सदाचरण हो सकता है; अतएव कबीर इन्हीं का उपदेश देते हैं। उनकी दृष्टि में साधु-सेवा भी भक्ति का ही एक अंग है।

> कबीर यहु तन जात है, सकै तौ ठाहर लाइ।
> कै सेवा करि साध की, कै गुण गोविंद के गाइ॥

भक्ति की आवश्यकता—

कबीर को यह पूर्ण विश्वास है कि इस दुनिया में भगवान् के सिवा सगा कोई नहीं है। यहाँ तो सब स्वार्थ के ही सगे हैं। कोई किसी का साथ नहीं देता। पुत्र-कलत्र तक स्वार्थ में बँधे हुए हैं। इन सबके प्रेम में स्वार्थ भरा हुआ है, इसलिए इनके प्रेम को पवित्र प्रेम नहीं कह सकते। जो भक्त दिखाई पड़ते हैं वे भी स्वार्थ के दास हैं। फिर उनके प्रेम को भक्ति का नाम देना भक्ति को बदनाम करना है। जिस प्रेम का सम्बन्ध राम के सिवा और किसी वस्तु या व्यक्ति से नहीं है वही भक्ति है। ऐसे प्रेम में विभोर होकर भक्त शरीर तक की चिन्ता और आशा छोड़ देता है :—

> आप सवारथ मेदनीं, भगत सवारथ दास।
> कबीर रांम सवारथी, जिनि छाड़ी तन की आस॥

कबीर सच्ची भक्ति के क्षेत्र में लेशमात्र भी स्वार्थ नहीं चाहते। उनका विश्वास है कि भक्ति से दुःख का स्वतः विलय हो जाता है। सच्ची भक्ति अपने-

आप में मुक्ति है। मुक्ति भक्ति का फल है, उसका लक्ष्य नहीं है। इस फल को सामने लाने के लिए ही वे अनेक परिस्थितियों के चित्र प्रस्तुत करते हैं। वे भक्ति को साधन बनाकर उसमें कामना निहित करने की (चाहे वह मुक्ति की हो कामना क्यों न हो) प्रेरणा नहीं देते। कबीर की भक्ति अनासक्ति-भाव का प्रतिपादन करती है जिसका खण्डन भक्ति के फल या उसकी शक्ति का निरूपण करने से कदापि नहीं होता। प्रेमलक्षणा-भक्ति का एक आधा क्षण भी जीवन के लोहे को कांचन बना सकता है, किन्तु करोड़ों कल्पों तक भक्ति के विना जीवन जंजाल है :—

अरध पिन जीवन भला, भगवंत भगति सहेत।
कोटि कलप जीवन व्रिथा, नांहि न हरि सू हेत॥

निष्काम भक्ति—

कबीर ईश्वर-भक्ति में आशा या कामना को कभी स्थान नहीं देते। यह बात उनकी वाणी से पद-पद पर प्रकट होती है। वे कहते हैं कि भगवद्भक्त को स्वर्ग की एषणा और नरक का भय दोनों नहीं होते। आशा व्यर्थ है जो कुछ हो रहा है वह उसी की इच्छा से हो रहा है :—

सरग लोक न बांछिये, डरिये न नरक निवास।
हूंणां था सो ह्वै रह्या, मनहु न कीजै झूठी आस॥

सच्ची भक्ति जिस प्रकार आशा-निराशा को कोई स्थान नहीं देती वैसे ही सुख-दुख को भी कोई स्थान नहीं देती। सुख-दुख मन की कल्पनाएँ हैं। ये तब तक होती हैं जब तक मन ईश्वर-लीन नहीं होता। मन के तल्लीन हो जाने पर सुख और दुख दोनों की प्रतीति नहीं होती। भक्त के मन पर दुख और सुख की स्थिति का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। प्रायः लोग दुख में भगवान् का स्मरण करते हैं और सुख में भूल जाते हैं। इसी से उन्हें दुख भोगना पड़ता है। यदि वे दुख-सुख दोनों में विश्वासपूर्वक भगवान् में मन लगाये रहें तो, कबीर का विश्वास है, दुख कदापि न हो :—

दुख में सुमिरन सब करैं, सुख में करै न कोइ।
जो सुख में सुमिरन करै, तो दुख काहे को होइ॥

इतना ही नहीं वे तो भगवद्भक्त को अमर-निवास के लिए आश्वासन देते हैं :—

काम परे हरि सिमिरियै, ऐसा सिमरौ नित्त।
अमरापुर बासा करहु हरि गया वहोरै वित्त ।।

काम पड़ने पर भगवान् को याद करना तो लेन-देन या व्यवसाय की बात है। उसे भक्ति नहीं कह सकते। जहाँ भक्ति में स्वार्थ मिला हुआ है वहाँ भक्ति का निर्मल रूप प्रकट नहीं होता। निर्मल एवं निष्कलुष प्रेम तो वहाँ होता है जहाँ स्वार्थ का लेश भी नहीं होता। भक्ति का यही प्रमुख लक्षण है :—

स्वारथ को सबको सगा, जग सगलाही जांणि।
बिन स्वारथ आदर करै, सो हरि की प्रीति पिछांणि ।।

भक्ति की प्रेरणा

भक्ति-प्रेरणा के अनेक सूत्रों में से भगवत्कृपा प्रमुख है। जिस पर भगवान् का अनुग्रह होता है उसी को भक्ति का वरदान मिलता है और जिसको वरदान मिलता है वही भक्ति-मार्ग पर चल भी सकता है। वह अपने पथ को भूल नहीं सकता, कोई भी प्रलोभन या भय उसे भ्रान्त नहीं कर सकता :—

जिसहि चलावै पंथ तूं, तिसहि भुलावै कौंण।

हमारा कोई भी प्रयत्न सफल नहीं हो सकता, जब तक कि भगवान् का अनुग्रह न हो, अतएव भगवदनुग्रह न केवल प्रेरणा का काम करता है, अपितु साधन भी बन जाता है, नहीं तो भक्ति का निभाना कोई सरल काम नहीं है :—

एक खड़े ही लहैं, और खड़ा बिललाइ।
साईं मेरा सुलषनां, सूतां देइ जगाइ ।।

भक्ति-प्रेरणा का दूसरा सूत्र गुरु है। प्रेम के भाव को जगाकर शिष्य को भक्ति-मार्ग पर गुरु ही प्रेरित करता है। "सतिगुरु ते सुधि पाई" कह कर कबीर ने भक्ति-प्रेरणा के स्रोत की ओर संकेत किया है और 'गुरुदेव ग्यांनी भयो लगनियां सुमिरन दीन्हों हीरा' से तो कबीर ने बड़ी दृढ़ता से घोषित किया है कि गुरु भक्ति का प्रेरक होता है।

भक्ति की प्रेरणा एक तीसरे स्रोत से और मिलती है, वह है जगत् की अनित्यता और व्यर्थता का सम्यक् ज्ञान। इसी के साथ ही सत्य की खोज

भी प्रारम्भ हो जाती है और जब अन्तिम एवं एकमात्र सत्य परमात्मा में मिल जाता है तो मनुष्य, उसकी शक्ति और कृपा की ओर आकृष्ट होने लगता है। जगत् की व्यर्थता का ज्ञान वैराग्य पैदा करता है और परमात्मा की सत्ता और सामर्थ्य का ज्ञान परमात्मा की ओर आकर्षण पैदा करता है। विश्वास के साथ-साथ प्रेम के दृढ़ होने पर भक्ति अपने सच्चे रूप में प्रकट होती है। यही भक्त की मुक्ति है और यही आनन्द है। यहीं से आवागमन के बन्धन की शृंखला टूटने लगती है।

इनके अतिरिक्त भक्ति-रस का माधुर्य भी भक्ति-प्रेरक होता है। मनुष्य के सामने प्रत्यक्षतः दो रस हैं—एक तो विषय-रस और दूसरा भक्ति-रस। विषयों का परिणाम कटु होता है और भक्ति का मधुर, विषयों से अल्प सुख और अमित दुख उत्पन्न होता है, किन्तु भक्ति में दुख का नाम भी नहीं होता। वहाँ तो आनन्द ही आनन्द है। भक्ति की चरमावस्था में भक्ति, भक्त और भगवान् में अभेद हो जाता है। सब लोग प्रायः मधुर रस पसंद करते हैं किन्तु यहाँ एक विपरीत बात दिखाई पड़ती है। लोक परिणामकटु विषय-रस में लीन है। अपने सामने जाने वालों की दुर्दशा को देखते हुए भी लोग विषयों से विरत नहीं होते, कदाचित् इसलिए कि वे भक्ति के माधुर्य से अवगत नहीं हैं। इसलिए भक्ति की मधुरता का संकेत देते हुए कबीर कहते हैं :—

राम को नांव अधिक रस मीठौ, बारंबार पीवैं रे।

वे राम-रस के पीने का ढंग भी बतलाते हैं :—

रसना राम गुन रमि रस पीजै।

जो मनुष्य राम-रस के होते हुए भी विषय-लीन है उसको कबीर 'अभागा' कहते हैं और फटकारते हैं कि विप तजि राम न जपसि अभागे। कबीर नारदीय भक्ति में सम्पूर्ण शरीर को मग्न कर देने का उपदेश करते हुए कहते हैं—

भगति नारदी मगन सरीरा, इहि विधि भव तिरि कहै कबीरा।

इससे वे संदेह-मुक्त भी हो जाते हैं। यही जीवन-मुक्ति है। यही भक्ति का फल है और यही स्वयं भक्ति भी है। कहने का अभिप्राय यह है कि कबीर नारदीय भक्ति और भव-संतरण को सहचर मानते हैं, उनका लक्ष्य प्रेम-प्रीति-

पूर्वक भगवद्भजन है। अन्य सब लक्ष्य व्यर्थ हैं। जिसका मन राम में लीन हो जाता है, उसको स्वरूप-ज्ञान हो जाता है। स्वरूप-ज्ञान में ही भव-बन्धन से मुक्ति निहित है। इससे स्पष्ट है कि कबीर का लक्ष्य भक्ति है और साधन भी भक्ति है। यही भारतीय भक्ति का वास्तविक स्वरूप है। कभी-कभी कबीर के शब्दों से ऐसी प्रतीति होने लगती है कि वे भव-मुक्ति के निमित्त भक्ति को एक साधन मानते हैं। यदि भाव में प्रविष्ट होकर कबीर के अभिप्राय को खोजा जाये तो वस्तु-स्थिति सामने आ जाती है।

कबीर की भक्ति के सम्बन्ध में दो बातें बिल्कुल स्पष्ट हैं—एक तो यह है कि कबीर का वैराग्य भक्ति को प्रेरित करने के लिए है। वह पलायनवादियों का निराशावाद नहीं है। वे संसार को छोड़ भागने का उपदेश नहीं देते, प्रत्युत उसकी असारता को समझ कर उसके प्रति अनासक्ति-भाव से आचरण करने की बात कहते हैं। संसार के प्रति आसक्ति का अर्थ है—व्यर्थ एवं अनित्य वस्तु के प्रति आकर्षण, जो अविद्या-प्रसूत है। इस आकर्षण को कबीर अनित्य से नित्य की ओर मोड़ कर जीवन को सार्थक एवं सफल बनाने की बातें कहते हैं। दूसरी बात यह है कि भक्ति के सिवा कबीर की भक्ति का कोई अन्य लक्ष्य नहीं है। उनकी प्रेमलक्षणा-भक्ति स्वतः आनन्दमयी है। वह साधक को दुख से मुक्त कर देती है क्योंकि वह स्वरूप की परिचायिका है जिससे भ्रम का भूत भाग जाता है और दारुण दुःख-दावा दूर हो जाती है। इस बात का समर्थन हम तुलसीदास जी के इन शब्दों में भी पाते हैं :—

सोइ जानइ जेहि देहु जनाई। जानत तुम्हहि तुमहि होइ जाई ।।
तुम्हरिहि कृपा तुम्हहि रघुनन्दन। जानहिं भगत भगत-उर चन्दन ।।

इन चौपाइयों में दूसरी अर्द्धालि 'जानत......होइ जाई' ध्यानपूर्वक देखने योग्य है। इसमें भक्ति के साधन और साध्य, दोनों रूप निहित हैं। भक्ति साधन रूप में भगवान् के स्वरूप का ज्ञान कराती है और साध्य रूप में वह स्वयं भगवान् या भक्त से अभिन्न होती है। 'तिनि तो निज सरूप पहिचाना' कह कर कबीर इसी भाव की अभिव्यक्ति कर चुके थे।

भक्ति की भूमिकाएं

१. श्रद्धा और विश्वास—

भक्ति-ग्रन्थों में भक्ति की अनेक भूमिकाएँ बतलाई गई हैं। कबीर ने भी उनका अपने ढंग से निरूपण किया है, शास्त्रीय ढंग से नहीं। मैं समझता हूँ कि श्रद्धा और विश्वास का प्रांकुरण भक्ति की पहली भूमिका है। श्रद्धा भक्ति में आकर्षण निहित करती है और विश्वास दृढ़ता प्रदान करता है। यहीं से भक्ति का बीज प्रस्फुटित होता है। 'भाव-प्रेम की पूजा' में कबीर ने श्रद्धा और विश्वास दोनों का समावेश कर लिया है। विश्वास के बिना संशय का निवारण नहीं होता और जब तक संशय और भ्रम रहते हैं तब तक भक्ति-भाव का उदय सम्भव नहीं है। इसीलिए कबीर कहते हैं :—

पद गांये लैलीन ह्वै, कटे न संसै पास।
सबै पिछाड़े थोथरे, एक बिना बेसास॥

कबीर तो विश्वास में ही राम का निवास मानते हैं :—

गाया तिनि पाया नहीं, अण-गांयां थैं दूरि।
जिनि गाया विसवास सूं, तिन रांम रह्या भरपूरि॥

विश्वास के बिना भक्ति में अनन्यता नहीं आती। जिस प्रकार 'यहाँ जाऊँ, वहाँ जाऊँ, कहाँ जाऊँ' के चक्कर में पड़ा पथिक कहीं जाने का निर्णय न कर सकने के कारण कहीं-नहीं पहुँच पाता, इसी प्रकार विश्वासहीन मनुष्य की कोई स्थिति नहीं बन पाती। कबीर ने ठीक ही कहा है :—

वांर पार की खबरि न जांनीं, फिरचौ सकल बन ऐसैं।
यहु मन बोहिथ के कड़वा ज्यौं, रह्यौ ठग्यौ सौ बैसैं॥

सूरदास ने भी 'जैसे उड़ि जहाज को पंछी, पुनि जहाज पै आवै' कहकर भक्ति में विश्वास की आवश्यकता पर प्रकाश डाला है। अविश्वास अनिष्टकारी एवं दुखद होता है और विश्वास का फल मधुर होता है, इसलिए कबीर विश्वास पर ज़ोर देते हैं। भक्ति में जब तक दृढ़ता नहीं आती तब तक अनन्यता भी नहीं आती और दृढ़ता का मूल विश्वास है। इसलिए कबीर को कहना पड़ा है—

तजि बांवें दांहिणें विकार, हरिपद दिढ करि गहिये।

कबीर ने भाव-भक्ति पर जोर देने के साथ-साथ विश्वास पर भी बहुत जोर दिया है। सच तो यह है कि विश्वास भक्ति का अनिवार्य अंग है। इसके बिना भक्ति पंगुल है। यही बात कबीर ने इस पंक्ति में प्रकट की है :—

भाव भगति बिसवास बिन, कटै न संसै मूल।

विश्वासमय भक्ति का अभिप्राय है—अनन्य भक्ति। विश्वास का विभाजन प्रेम का विभाजन कर देता है। विभक्त दशा में प्रेम अपनी गंभीरता और दृढ़ता छोड़कर व्यभिचार बन जाता है। अतएव कबीर कहते हैं कि 'एक राम की ही उपासना करो', वही देवाधिदेव हैं क्योंकि 'एकहि साधे सब सधै, सब साधे सब जाहिं'।

२. साधु-सेवा—

भक्ति की दूसरी भूमिका साधु-सेवा है। साधु-संगति भक्ति को प्रेरणा ही नहीं देती, अपितु उसे दृढ़ भी करती है। साधु लोग अपने साथ में रहने वाले को अपने जैसा ही बना लेते हैं :—

आप सरीखे करि लिए, जे होते उन पास।

कबीर साधुओं से मिलने के लिए बड़े उत्सुक रहते हैं क्योंकि उनकी संगति के बिना इस लोक में कहीं चैन नहीं है :—

कबीर तास मिलाइ, जास हियाली तूं बसै।
नहिं तर बेगि उठाइ, नित का गंजन को सहै॥

कबीर राम और भक्तों में कोई भेद नहीं समझते। राम या राम-भक्त, किसी के भी मिल जाने से भक्ति सिद्ध हो जाती है :—

कबीर बन बन मैं फिरा, कारण अपणैं रांम।
रांम सरीखे जन मिले, तिन स.रे सब कांम॥

कबीर को जिस प्रकार यह विश्वास है कि राम-भक्ति में अमोघ शक्ति है उसी प्रकार उन्हें यह विश्वास भी है कि साधु-संगति और साधु-सेवा में भी अमोघ-शक्ति है। साधु-संगति कभी निष्फल नहीं जाती :—

कबीर संगति साध की, कदे न निरफल होइ।
चंदन होसी बांवना, नींव न कहसी कोइ ॥

जिस प्रकार भगवान् की कृपा से ही भगवान् की प्राप्ति होती है वैसे ही साधु-जनों की प्राप्ति भी भगवत्कृपा से ही होती है। साधु-संगति को ही कबीर वैकुण्ठ मानते हैं। उनके ये शब्द बड़े महत्त्वपूर्ण हैं :—

साध संगति वैकुंठै आहि।

वे साधु-संगति के महत्त्व को भली भाँति जानते हैं। उनके पावन प्रभाव से वे चिर-परिचित हैं। वे कहते हैं :—

संत की गैल न छांड़ियै, मारगि लागा जाउ।
पेखत ही पुन्नीत होइ, भेटत जपियै नाउ ॥

साधु की सेवा के बिना हरि-सेवा भी नहीं बन पड़ती। जिस घर में साधु की सेवा और हरि की सेवा नहीं होती वह श्मशान मे कम नहीं है :—

जा घर साध न सेवियहि, हरि की सेवा नांहि।
ते घर मरहट सारखे, भूत बसहि तिन मांहि ॥

यह तो अभी कहा गया है कि गुरु भी साधुओं में से एक है। जिस प्रकार साधु और राम में भेद नहीं है उसी प्रकार गुरु और भगवान् में भी भेद नहीं है। जिस प्रकार कबीर ने 'संत राम है एको' कहा है उसी प्रकार 'गुरु गोविंद तो एक है' भी कहा है। गुरु-सेवा भी भक्ति की ही एक भूमिका है।

३. नाम-स्मरण—

भक्ति की तीसरी भूमिका नाम-स्मरण है। कबीर उसको 'ततसार' कहते और 'तततिलक' बतलाकर उसके महत्त्व को प्रतिष्ठित करते हैं। यह 'राम' नाम दो अक्षरों से मिलकर बना है। कबीर इन दोनों में बावन अक्षरों का तत्त्व निहित मानते हैं। अलह, अलख, निरंजन, विष्णु, कृष्ण आदिक भगवान् के अनेक नाम हैं। इन सबको कबीर भगवद्गुणों का प्रतिनिधि बतलाते हैं। वह 'अपरंपार है और उसके अनन्त नाम हैं। उसका बोध किसी भी नाम से हो सकता है :—

अपरंपार का नांउ अनन्त, कहै कबीर सोई भगवन्त।

हरि का नाम त्रिलोक-तत्त्व का सार है। जो इसमें लीन हो जाता है उसका

उद्धार हो जाता है और जिसका मन इसमें लीन हो जाता है वही आत्म-स्वरूप से परिचित हो जाता है। राम-नाम के कहने से भक्ति दृढ़ होती है और सहज ही में राम-नाम में मन लीन हो जाता है। सच तो यह है कि भगवान् का नाम संसार-सागर से तरने के लिए उत्तम जलयान है। परमात्मा की बड़ी कृपा हुई जो उसने संसार के लोगों को यह जलयान दिया अन्यथा बड़ी दुर्दशा होती। जिन लोगों ने इस बेड़े को दृढ़ता से पकड़ा है वही भव-सागर से पार होकर आनन्द को प्राप्त हो गये हैं। जिनके मन की अस्थिरता के कारण यह हाथ से छूट गया है, वे बुरी तरह से डूबे हैं। यह बेड़ा सब से पहले संतों के हाथ लगता है जो इसे स्वयं दृढ़ता से पकड़ते हैं और दूसरों को इसका आश्रय प्रदान करते हैं।

कबीर को राम-नाम में पूर्ण विश्वास है। वे हरि-नाम-भजन को ही भक्ति बतलाते हैं और केवल उसी के जाप के लिए आदेश करते हैं। राम-नाम में लगी हुई लौ आवागमन से मुक्ति प्रदान कर देती है। वे राम-नाम को अत्युत्तम नसेनी मानते हैं। इसीसे वे परमात्म-तत्त्व की ऊँचाई पर पहुँचने की घोषणा करते हैं। यह उत्तम वस्तु कबीर को अपने गुरु से मिली है और उसे वे बहुत सँभाल कर रखते हैं। कहने की आवश्यकता नहीं कि राम-नाम कबीर का सर्वस्व है :—

सो धन मेरे हरि का नांउ, गांठि न बांधौं बेचि न खाउं ।।
नांउ मेरे खेती नांउ मेरे बारी, भगति करौं मैं सरनि-तुम्हारी ।।
नांउ मेरे सेवा नांउ मेरे पूजा, तुम्ह बिन और न जांनौं दूजा ।।
नांउ मेरे बंधव नांउ मेरे भाई, अंत की बिरियां नांउ सहाई ।।
नांउ मेरे निरधन ज्यूं निधि पाई, कहै कबीर जैसे रंक मिठाई ।।

कबीर राम-नाम को एक ऐसा हीरा मानते हैं जिसको हृदय में धारण करने से न केवल अज्ञान-तिमिर नष्ट हो जाता है प्रत्युत त्रिविध ताप भी विनष्ट हो जाते हैं। साथ ही तीनों लोकों में उससे शोभा भी बढ़ जाती है :—

रांम नांम हिरदै धरि, निरमोलिक हीरा।
सोभा तिहूं लोक तिमर जाय, त्रिविध पीरा ।।

राम-रस अति मधुर है। इसके समान मधुर और कोई वस्तु है ही नहीं।

इसी कारण वे इसी रस के पान करने का उपदेश देते हैं :—

इहि चिति चाखि सबै रस दीठा, रांम नांम सा और न मीठा।

कबीर राम-नाम की प्राप्ति को बड़े भाग्य की बात मानते हैं और उसे वे चिंतामणि की उपाधि देते हैं क्योंकि उसको प्राप्त करके शेष कुछ प्राप्तव्य नहीं रह जाता। इससे वे बार-बार राम-नाम जपने के लिए ही उपदेश देते हैं :—

रांम भणि रांम भणि रांम चिंतामणि, भाग बड़े पायौ छांड़ै जनि।

जिस प्रकार राम विश्व में व्याप्त है उसी प्रकार उनका नाम भी विश्व में व्याप्त है। उसे खोजने के लिए फिरने की आवश्यकता नहीं। इसके जपने के लिए एक विशेष ढंग की आवश्यकता है। राम का जाप इस प्रकार करना चाहिए, जिससे जीवन की परिणति का उद्धार हो। मन, वाणी और कर्म से 'राम' का स्मरण ही सार्थक होता है। सब चिंताओं को छोड़ कर भक्त तो एक हरि-नाम का ही चिंतन करता है। अभ्यास से नाम में अविरल प्रीति हो जाती है। इस अविरल प्रीति में विश्वास अनिवार्य है जो राम-नाम के स्मरण का स्वतः फल है।

प्रीतिपूर्वक मन लगा कर जपने से राम का नाम जपनेवाले को राम ही बना देता है। कबीर ने कहा भी है :—

तूं तूं करता तूं भया, मुझ मैं रही न हूं।

राम-नाम का स्मरण करने से राम से वियोग नहीं होता। राम-नाम के संबंध में कबीर दो बातें कहते हैं जो देखने में विरोधी लगती हैं—एक तो यह है कि राम का नाम लूट का माल है और जिसमें लूटने की शक्ति है वही लूट सकता है; दूसरी बात यह है कि राम-नाम के स्मरण में एक कठिनाई भी होती है और वह है बिल्कुल उस नट की कला के समान जो शूली के ऊपर चढ़ कर दिखाई जाती है। जिस प्रकार पतन की दशा में उसका बचना कठिन है उसी प्रकार जो राम-नाम से पतित हो जाता है उसकी भी रक्षा संभव नहीं है। वह भी विनाश को प्राप्त हो जाता है। ये दोनों बातें एक दूसरी की संगति में हैं। राम के नाम की प्राप्ति कठिन नहीं है, किन्तु उसके स्मरण का समुचित निर्वाह बहुत कठिन है। कबीर एक रूपक में 'नाम' को जहाज बतलाकर और

उसका केवट साधुओं को कह कर नाम-स्मरण एवं साधु-संगति के पारस्परिक संवंध पर प्रकाश डालते हैं।

यह तो अन्यत्र कहा ही जा चुका है कि नाम के प्रति कबीर का वड़ा आग्रह है अतएव वे लोगों को उपदेश देते हुए कहते हैं—"आप लोगों का कर्तव्य केवल अपने-आप 'राम-राम' कहना नहीं है"। कबीर को विश्वास है कि राम-नाम से मनुष्य का उद्धार होता है और जितने अधिक लोगों का उद्धार हो उतना ही अच्छा है। यह शरीर तो कच्चे घड़े के समान है, किसी ओर से भी चोट खाकर नष्ट हो सकता है। ऐसी चोटों का इस पर आघात न हो, इसके लिए कबीर एक ही उपाय समझते हैं और वह है राम-नाम। अशुभ कर्मों को नष्ट करने की और साधक के रक्षण की जितनी अमोघ शक्ति राम-नाम में है उतनी और किसी में नहीं है। अनेक पुण्य कर्म भी मनुष्य का उद्धार करने में समर्थ नहीं होते, परन्तु राम-नाम स्थिति को बिल्कुल बदल देता है। इसीलिए कबीर कहते हैं कि राम-नाम के बिना मुक्ति का कोई उपाय नहीं है, किन्तु स्मरण के साथ विवेक होना चाहिए। कबीर का यह कहना है कि 'कोटि क्रम पेलं पलक में, जे रंचक आवं नाउं' किन्तु वे यह भी कहते है कि 'उस कीर्तन का जिसमें विवेक नहीं है, कोई मूल्य नहीं है। वह तो केवल दिखावा है'। इस कारण वे राम-मंत्र के जप के साथ उसके ध्यान पर भी जोर देते हैं जिससे मन राम में रम जाये। भक्ति की यह भूमिका भी बड़ी मोहक है क्योंकि कबीर को नाम के सिवा और किसी उपाय में अस्तित्व ही दिखाई नहीं देता। नाम का मर्म परिचय के बिना ज्ञात नहीं होता। कहने के लिए तो कोई भी राम-नाम कह सकता है, किन्तु जो उसके मर्म को जानते हैं ऐसे व्यक्ति थोड़े ही हैं।

४. गुण-कीर्तन—

भक्ति की चौथी भूमिका हरि-गुण-कीर्तन है। कबीर के राम सिद्धान्ततः निर्गुण एवं निराकार हैं किन्तु भक्ति-क्षेत्र में संवंध-कल्पना करनी पड़ती है, अतः उस निर्गुण में वे गुणों का आरोप करते हैं। गुणों के इस आरोप से परमात्मा का निर्गुणत्व समाप्त नहीं कर दिया जाता। वह अपने आप में माया के तीनों गुणों से परे है। आरोपित गुणों से उसमें किसी विक्रिया के होने का प्रश्न ही नहीं

उठता। फिर भी आरोपित गुण भक्त को भगवान् के सान्निध्य में ले जाने में बड़े सहायक होते हैं। हम भगवान् के जैसे गुणों का भजन करते हैं, हमारे भीतर भी वैसे ही गुणों का विकास होता चला जाता है। एक समय ऐसा आता है जब कि हमारे भीतर विकसित सात्त्विक गुण भी विलीन हो जाते हैं और हम तद्रूप हो जाते हैं। इसी का परिचय कबीर ने यह कह कर दिया है—

गुण गायें गुण नाम कटै, रटै न रांम विवोग।

यह तो पहले ही कहा जा चुका है कि भक्ति एक भाव है जो हृदय की तरंग है। इसी तरंग से प्रेरित होकर कबीर 'राम' के रिझाने तक की बात कह जाते हैं। यही 'अलौकिक' में 'लौकिक' का आरोप है। जिस प्रकार हम अपने गुणों को किसी गायक से सुन कर उस पर रीझते हैं उसी प्रकार परमात्मा भी उपासक के मुख से गुण-वर्णन सुन कर रीझता है। हम अपनी प्रशंसा के कारण रीझते हैं जो दुर्बलता है किन्तु वह गायक पर इसलिए रीझता है कि वह उसमें मुक्ति की प्रवृत्ति देखता है। परमात्मा के गुणों में 'अमृतत्व' बतलाकर कबीर ने इस स्थिति को स्पष्ट कर दिया है। कबीर के निम्नलिखित शब्द इसी रहस्य को स्पष्ट करते दीख पड़ते हैं—

कबीर रांम रिझाइ लै मुखि अमृंत गुंण गाइ।

भाव की लहर में कबीर भाव ही की रक्षा के लिए 'निर्गुण' में गुणों का आरोप अवश्य करते हैं किन्तु वे आरोप संख्यातीत हो सकते हैं, क्योंकि परमात्मा अनन्त और असीम है। इसलिए उसमें अनन्त गुणों की कल्पना उसके अनुरूप ही है। भावना अपने किसी कोण से भगवान् में गुण देख सकती है और भावुक उसी गुण के सांचे में ढलता जाता है। इसी बात की पुष्टि कबीर की इस उक्ति में मिलती है—

जिहि हरी जैसा जांणियां तिनकूं तैसा लाभ।

कबीर की भावना परमात्मा की अनन्तता से अभिभूत है, इसीलिए उन्होंने उसमें अनन्त गुणों का वैभव देखकर विस्मय-भरे शब्दों में कहा है—

सात समंद की मसि करौं, लेखनि सब वनराई।
धरती सब कागद करौं, हरि गुंण लिख्या न जाई॥

भक्त परमात्मा के किन गुणों का गान करे— इस विषय में कबीर किसी प्रतिबंध को स्वीकार नहीं करते। जिसको जो गुण अच्छा लगे वह उसे अपना सकता है। मीठे की कोई परिभाषा नहीं है, जिस को जो मिठाई भाती है उसके लिए वही मिठाई है—

मींठो कहा जाहि जो भावं। दास कबीर रांम गुंन गावं॥

राम-गुण की मिठाई हर किसी को अच्छी नहीं लगती। कामी को तो राम बिल्कुल ही अच्छा नहीं लगता। वह तो विषय-विकारों में ही लीन रहता है। किन्तु "साधु उसके गुणों को कभी नहीं भुला सकता क्योंकि वह परमात्मा का बड़ा आभारी है जिसने उसे नेत्र, नासिका, दांत आदि अमूल्य वस्तुएं और भोजन-वस्त्र दिये हैं। वह तो उसके गुणों का स्मरण करना अपना कर्तव्य समझता है। ऐसे शब्दों से कबीर परमात्मा में 'कर्तृत्व' की भी कल्पना कर लेते हैं और यह कल्पना उनकी भक्ति-भावना की एक दृढ़ भूमिका को तैयार करती है। कबीर का विश्वास है कि जो हरि-भजन करने वाले हैं वे विकारों का परित्याग कर देते हैं क्योंकि उनमें भगवद्गुणों का उदय हो जाता है। ऐसे ही मनुष्य वास्तव में पवित्र होते हैं। कबीर उन लोगों को पवित्र नहीं मानते जो छुआछूत का विचार करते हैं।

कबीर उस एक को अनेक भावों में देखते हैं। बीज एक है, किन्तु उससे वृक्ष की अनेक शाखा-प्रशाखाएं प्रकट हुई हैं। वह मूल बीज सामान्य मनुष्यों की दृष्टि से परे है। उसे तो विवेकी ही समझ सकता है। इसके अतिरिक्त मनुष्य के अनेक भाव परमात्मा को हृदय में अनेक रूपों में प्रतिष्ठित कर लेते हैं। परमात्मा के गुणों के ध्यान में सेवा-भाव परमावश्यक है। जहां सेवा का भाव है वहीं मुरारि की सत्ता है। संत लोग सेवा-भाव से ओतप्रोत होते हैं, अतएव इसके प्रादुर्भाव के लिए सत्संग की उपेक्षा कदापि नहीं की जा सकती।

जो लोग भगवान् के गुणों को भूल गये हैं वे कबीर की दृष्टि में भगवान् के चोर हैं क्योंकि भगवान् की दी हुई विभूतियों का वे सदुपयोग न करके उनको निष्फल कर रहे हैं। ऐसे मनुष्यों की तुलना वे चमगादड़ों से करते हैं। कबीर तो उसी को गुणी और पंडित कहते हैं जो दूसरों के साथ मिल कर हरि-गुणगान करता है।

५. विनय-दैन्य-प्रकाशन—

यह है कबीर की भक्ति की पाँचवीं भूमिका। इस भूमिका पर स्थित भक्त अपनी दुर्बलताओं को भगवान् के सामने खोलकर गिड़गिड़ाता प्रतीत होता है। वह अपने को किसी भी हीनावस्था में प्रकट करने के लिए उद्यत रहता है। कबीर के शब्दों में उनकी एक ऐसी ही अवस्था का अवलोकन कीजिये :—

कबीर कूता रांम का, मुतिया मेरा नांउं।
गलै रांम की जेवड़ी, जित खैंचैं तित जांउ॥

इस साखी से यह स्पष्ट है कि जो कबीर साधारणतया रूखे-सूखे से प्रतीत होते हैं वही विनय की चरम सीमा पर जा पहुँचे हैं। ऐसा विनय-प्रकाशन कबीर हर किसी के सामने नहीं करते। किसी भी राजा को वे कोरी-कोरी सुना देते हैं, किसी भी अभिमानी के अभिमान पर वे वाणी का कुठाराघात कर देते हैं, किन्तु भगवान् और भगवद्भक्तों के सम्बन्ध में वे बड़े नम्र हो जाते हैं। जिसके मुख से राम का नाम निकल पड़ता है उसको वे बहुत उच्च मानते हैं और अपने शरीर के चर्म को उसके पैरों की जूती बना देने तक के लिए तैयार हो जाते हैं।

कबीर आवागमन के नाच से खिन्न हैं। वे जानते हैं कि नृत्य वाद्य के अनुरूप होता है। परमात्मा के वादन (इच्छा) के अनुरूप नाचते-नाचते कबीर बहुत दुखी हो चुके हैं। अतएव वे उससे अधिक न नचाने की प्रार्थना करते हैं और कहते हैं—'हे राम ! मेरी इतनी सी विनय है कि अब नचाना बन्द करके मुझे अपने चरणों का दर्शन देने की कृपा कीजिये। विषय-वासनाएँ मेरा पीछा नहीं छोड़ रही हैं। मैं उनको छोड़ना चाहता हूँ, किन्तु छोड़ नहीं पा रहा हूँ, चाहे घर छोड़ दूँ, वनखंड में जा रहूँ और कंदमूल पर निर्वाह करता रहूँ, फिर भी मन मैल से मुक्त नहीं हो रहा है। मैं जितना सुलझाने के लिए प्रयत्न करता हूँ उतना ही उलझता जाता हूँ। हे केशव ! आप तो घट-घट-वासी हैं और सब कुछ जानते हैं। मैं पापी हूँ, इसमें कोई सन्देह नहीं है, किन्तु आप जैसा कोई दाता भी तो नहीं है। अब तो आपको ही मेरी रक्षा करनी होगी।

कबीर कहते हैं—"हे दामोदर ! मैं नहीं जानता कि मैंने इस संसार में किस

कारण से जन्म लिया है और मैं यह भी नहीं जानता कि पंदा होकर मैंने कोई सुख भी पाया है, किन्तु मुझे अपना अपराध अवश्य ज्ञात है। मैंने प्रेमपूर्वक आपकी भक्ति नहीं की। आप तो बड़े कृपालु हैं, और भवहारी भक्तवत्सल हैं। अब आप कृपा करके मेरी बुद्धि को प्रेरणा दीजिये और उसे दृढ़ता प्रदान कीजिये"। गायत्री-मंत्र में वैदिक ऋषि की भी इसी प्रकार की प्रार्थना है।

कबीर सांसारिक पीड़ाओं से बड़े आर्त हो रहे हैं। वे साफ़-साफ़ स्वीकार कर लेते हैं कि उनका मन राम की ओर इसलिए मुड़ा है कि लोक में उन्हें दुख ही दुख दिखाई दिया है। उससे वे बड़े भयभीत हैं। जननी के जठर में जन्म से पहले ही दुख भोगना पड़ा। वह भय अब तक उनके ऊपर सवार है। काया दिन-दिन क्षीण हो रही है, जरा प्रकट हो रही है और काल केश पकड़ कर अपना मृदंग बजा रहा है। इस विपत्ति से वे अपनी मुक्ति उस समय तक संभव नहीं समझते जब तक कि भगवान् की कृपा न हो। इसलिए वे यह प्रार्थना करते हैं—हे करुणामय ! इतनी कृपा कीजिये कि मैं आपको भूल न जाऊँ।

कातर कबीर माधव से बड़े परिचित स्वर में पूछते हैं - हे माधव ! मेरे ऊपर आपकी दया कब होगी और कब मैं काम, क्रोध, अहंकार आदि से मुक्त होकर माया-पाश से छूटूंगा ? इस दुख को किससे कहूँ, कोई समझ नहीं सकता। आप से तो यही प्रार्थना है कि मेरे विकारों को दूर करके मुझे दर्शन दीजिये।

कबीर के विनय में निकटता की भावना है। ऐसा प्रतीत होता है कि राम से कबीर का परिचय बढ़ गया है। वे उसके सामने अधिक स्पष्ट हो गये हैं। "यदि लोग मुझे नहीं समझते तो मुझे चिन्ता नहीं है। वे मेरे सम्बन्ध में चाहे कुछ भी कहें। वे मुझे पागल कहते हैं तो कहते रहें। यदि मैं पागल हूँ तो भी आपका हूँ।"

कबीर की स्पष्टवादिता राम के साथ भी प्रखरता धारण कर लेती है और वे यहां तक कह डालते हैं—'हमंहि कुसेवग क्या तुमहि अजांनां'। विनय की लहरों में उछलते-डूबते कबीर इन शब्दों के साथ राम की शरण में जा पड़ते हैं :—

> रांम राइ मेरा कह्या सुनीजै, पहले बकसि अब लेखा लीजै।
> कहै कबीर बाप रांम राया, अजहूं सरनि तुम्हारी आया॥

६. शरणागति एवं आत्म-समर्पण—

यह कबीर की भक्ति की अन्तिम भूमिका है। इस पर कबीर अपनी समग्र दुर्बलताओं को स्वीकार करते हुए अपनी समग्र शक्ति और सामर्थ्य को भगवदर्पण कर देते हैं। इस भूमिका के हमें पाँच पक्ष दिखाई देते हैं। प्रथम पक्ष में कबीर अपनी विवशता का अनुभव करते हैं और अपनी सम्पूर्ण विवशता के साथ वे भगवान् की शरण में जा पड़ते है :—

कहै कबीर नहीं बस मेरा, सुनिये देव मुरारी।
इत भैभीत डरौं जम दूतनि, आये सरनि तुम्हारी॥

इस भूमिका के दूसरे पक्ष में कबीर राम में अनन्याश्रय की भावना करते हैं। इस पर उन्हें परमात्मा के सिवा अपना और कुछ नहीं दिखाई पड़ता और वे कह भी देते हैं :—

तारण तिरण तिखा तू तारण, और न दूजा जांनौं।
कहै कबीर सरनांई आयौं, आंन देव नहीं मांनौं॥

शरणागति के तीसरे पक्ष में कबीर का मोह-माया से छुटकारा हो जाता है क्योंकि उसका झूठा रूप उनके सामने आ जाता है। माया में मिथ्यात्व की भावना उन्हें परमात्मा की शरण में आने के लिए प्रेरित करती है। वे भगवान् की शरण में आकर अपनी प्रभुत्व-भावना का विसर्जन करके अपना सर्वस्व उसी को समर्पित करते हुए कहते हैं :—

मेरा मुझ में कुछ नहीं, जो कुछ है सो तेरा।
तेरा तुझ को सौंपतां, क्या लागत है मेरा॥

इस तल पर कबीर को सर्वस्व (शरीर तक) के प्रति अनासक्ति हो जाती है और उसे भगवान् को सौंपने में उन्हें कोई हिचक नहीं होती।

इस भूमिका के चौथे पक्ष में कबीर अपने ऊपर परमात्मा का पूर्ण अधिकार स्वीकार करके अपना सब कुछ उसकी इच्छा को सौंप देते हैं—

मैं गुलांम मोहि वेचि गुसांई। तन मन धन मेरा रांम जी कै तांई॥
आनि कबीरा हाटि उतारा। सोई गाहक सोई वेचनहारा॥

भूमिका के अन्तिम पक्ष में कबीर विस्मयाविष्ट हो जाते हैं। वे परमात्मा के संबंध में बहुत कुछ जानते हुए भी न जानने का अनुभव करते हैं और यह कहते हुए मौनाश्रय लेते प्रतीत होते हैं—

तेरी गति तूंही जांनं, कबीरा तो सरनां।

इस प्रकार कबीर की भक्ति की छं भूमिकाएं दृष्टिगोचर होती हैं। कहने की आवश्यकता नहीं कि वैराग्य न केवल भक्ति को प्रेरित करता है अपितु स्वयं भक्ति का काम करता है। वैराग्य के साथ ही श्रद्धा और विश्वास की स्थिति आती है अतएव इसको भी उसी भूमिका का अंग मान सकते हैं।

कबीर ने 'दशधा' की बात कह कर भक्ति के आचार्यों के लिए एक समस्या प्रस्तुत कर दी है, किन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं कि 'नवधा-भक्ति' के घिसे-पिटे रूप को कबीर ने स्वीकार नहीं किया, क्योंकि उसमें अंधविश्वास के जमने के लिए अधिक अवकाश था। कबीर की दशधा-भक्ति 'भावभक्ति' है जिसमें किसी कामना को स्थान नहीं है। विश्वास सहित 'भावभक्ति' ही उनकी भक्ति का वास्तविक स्वरूप प्रस्तुत करती है। हमारे सामने कबीर अपने ही शब्दों में भाव-भक्ति का रूप इस प्रकार प्रस्तुत करते हैं:—

नैंन निहारौं तुझकौं, स्रवन सुनहुँ तुव नांउ।
बैन उचारहुं तुव नाम जी, चरन कमल रिद ठाँउ॥

कबीर के कहने का तात्पर्य यह है कि यदि विश्व के कण-कण में भगवज्ज्योति दिखाई पड़े, प्रत्येक ध्वनि में भगवन्नाम सुनाई पड़े, वाणी पर उसका नाम आरूढ़ हो जाये और हृदय में उसकी स्थिति हो जाये तो समझिए कि भक्ति सिद्ध हो गई। 'नैंन निहारौं तुझकौं' का अभिप्राय यह नहीं है कि कबीर ने साकारोपासना को मान्यता दी है, अपितु इसका अर्थ 'उसकी व्याप्ति की अनुभूति' है। इसी प्रकार 'चरण-कमल' का अर्थ भी हृदय में भगवान् की स्थिति की अनुभूति ही है।

७. भक्ति-भाव—

कबीर की भक्ति में अनेक भावों की स्पष्टता दिखाई पड़ती है जिनमें से ये

भाव तो बहुत ही स्पष्ट हैं:—(१) शिष्य-भाव, (२) वत्स-भाव, (३) दास-भाव, तथा (४) कान्ता-भाव।

कबीर ने गुरु और गोविन्द में न केवल अभेद माना है, अपितु गोविन्द में गुरु का दर्शन भी किया है। आस्तिकों ने परमात्मा को परम गुरु माना है। कबीर भी गोविंद को जगद्गुरु कहते हैं।

अपने दूसरे भाव के अन्तर्गत कबीर परमात्मा को माता-पिता के रूप में देखते हैं। परमात्मा को माता मानते हुए कबीर विनयपूर्वक कहते हैं—"हे हरि रूपी माता, मैं तेरा बालक हूँ। फिर तू मेरे अवगुणों को क्यों नहीं क्षमा करती? लौकिक माता के सामने पुत्र न जाने कितने अपराध करता है, किन्तु माता उन में से किसी पर ध्यान नहीं देती। बालक का अपराध कभी-कभी तो इस सीमा तक पहुँच जाता है कि माँ के केश पकड़ कर वह उस पर आघात तक कर देता है, फिर भी उसके प्रति माता का प्रेम कम नहीं होता। इतना ही नहीं, बालक को दुखी देख कर माता को भी दुख होता है।

जिस प्रकार माँ के सामने कबीर अपने अपराधों को स्वीकार कर लेते हैं उसी प्रकार पिता (परमात्मा) के सामने भी वे अपने अपराध स्वीकार कर लेते हैं। पिता के प्रेम को अपनी ओर खींचने के लिए कबीर उसी प्रकार का उपाय करते हैं जिस प्रकार का कि वे माँ के प्रेम को खींचने के लिए करते हैं। भूल से उन्होंने कुछ काम ऐसे कर दिये हैं जिनके कारण उनका हृदय भय से काँपता है, फिर भी वे राम-पिता से कुछ कहने का अवसर प्राप्त करते हैं और अपराधों का विवरण माँगने से पूर्व क्षमा कर देने के लिए प्रार्थना करते हैं। यह कबीर की घरेलू युक्ति है। क्षमा कर देने पर पिता का लेखा लेना कुछ अर्थ नहीं रखता। राम के प्रति कबीर द्वारा यह एक निकट संबंध की स्थापना है।

तीसरे भाव से कबीर भगवान् को स्वामी या प्रभु के रूप में देखते हैं। इस भाव के अन्तर्गत कबीर राम को राजा भी मान लेते हैं और स्वामी भी। राजा राम ही कबीर की 'नव-निधि' है। वे अपने ठाकुर (स्वामी) की प्रकृति का संकेत देते हुए कहते हैं—

दास कबीर को ठाकुर ऐसो, भगति करै हरि ताको रे॥

चौथा भाव पति-भाव है। कबीर की भक्ति में यह भाव अधिक प्रबल दिखाई पड़ता है। इसमें माधुर्य की बड़ी सरस लहरें उमड़ती दीख पड़ती हैं। इसका विवेचन अन्यत्र किया जा चुका है।

भक्ति के अन्तराय—

जिस प्रकार सत्संग, वैराग्य आदि भक्ति के साधन हैं उसी प्रकार कुसंगति, विषय-रति, संशय, राग-द्वेष, आशा, स्वार्थ आदि से भक्ति में बाधा पड़ती है। भक्ति का सबसे बड़ा शत्रु कुसंग है। नारद ने भक्ति-सूत्र में कुसंग को सर्वथा त्याज्य कहा है। कबीर भी कुसंगति को विनाशक बतलाते हैं। उनका कहना है—"कुसंगति में पड़कर मनुष्य अपना मूल-नाश कर लेता है, वैसे ही जैसे कि भूमि के विकारों से मिल कर आकाश की बूंद अपनी निर्मलता खो बैठती है"। विषय-रति और हरि-प्रेम में विरोध है। जब तक मन में विषय रहते हैं तब तक उसमें हरि का निवास नहीं होता और जब उसमें हरि का निवास हो जाता है तब विषय निकल भागते हैं—

जद विषै पियारी प्रीति सूं, तब अंतरि हरि नांहिं।
जब अन्तर हरि जी बसै, तब विषिया सूं चित नांहि॥

जिस हृदय में संशय रहता है उस हृदय में भी हरि-प्रेम नहीं रह सकता क्योंकि संशय विश्वास को नहीं ठहरने देता। संशय के कारण उपासक उपास्य का सान्निध्य प्राप्त नहीं कर सकता और जहाँ राम का प्रेम होता है वहाँ उपासक और उपास्य में अन्तर रह ही नहीं सकता—

जिहि घट मैं संसौ बसै, तिहिं घटि राम न जोइ।
रांम सनेही दास विचि, तिणां न संचर होइ॥

राग आसक्ति और भय को जन्म देता है और जब तक मनुष्य के हृदय में इनका आसन रहता है तब तक वह भगवत्प्रेम का आसन नहीं बन सकता। इनका आसन तभी उखड़ता है जब परमात्मा में विश्वास जमता है, उसके प्रति प्रेम होता है। राम का स्मरण ही भय को भगा सकता है, उसमें दृढ़ता चाहिए। जब तक स्मरण दृढ़ नहीं होता तब तक भय का अड्डा नहीं उखड़ता और भय के

साथ क्रोधादि भी जमे रहते हैं। अतएव यह आवश्यक है कि राग-द्वेष को हृदय से निकालने का प्रबल प्रयत्न किया जाये।

भक्ति-मार्ग में आशा भी एक प्रबल विघ्न प्रस्तुत करती है। कबीर लोक से कोई आशा करना व्यर्थ समझते हैं। लौकिक आशाएं उपासक को राम के समीप नहीं जाने देतीं और राम में विश्वास नहीं जमने देतीं और न वे अनन्य भाव की प्रतिष्ठा होने देती हैं। राम के उपासक को किसी से आशा नहीं करनी चाहिए क्योंकि उसको आवश्यकता ही नहीं रहती। जो पानी में रहता है वह भी प्यासा मरे तो बड़े आश्चर्य की बात है। हरि-भक्त को तो शरीर की भी आशा नहीं करनी चाहिए क्योंकि जब तक शरीर के प्रति आसक्ति रहती है तब तक भक्ति-भाव नहीं आता। कबीर का विश्वास है कि आशा मनुष्य-विश्वास को जमने नहीं देती और मन को चंचल बनाती है। आशा चिन्ता को भी बढ़ाती है, इसलिए कबीर कहते हैं :—

सरग लोक न वांछिये, डरिये न नरक निवास।
हूंणां था सो ह्वै रहया, मनहु न कीजै झूठी आस॥

जब हृदय से आशा निकल जाती है तब हरि स्वयं भक्त की सेवा करता है कि कहीं भक्त को दुःख न हो।

स्वार्थ भी भक्ति-पथ में आने वाला एक भीषण अन्तराय है। आशा का जनक ही वास्तव में स्वार्थ है। स्वार्थ मनुष्य को अंधा करके उसके विवेक को छीन लेता है। स्वार्थ ही प्रेम की पावनता को कलुषित करता है। स्वार्थ से तो सभी लोग प्रभु से प्रेम करते दिखाई पड़ते हैं, किन्तु वह भक्ति नहीं है। जहाँ निःस्वार्थ प्रेम है वहीं भक्ति होती है।

भक्त का लक्षण—

सेवक वही है जो सेवा करता है और उसी को श्रेयस्कर मानता है, जो पंथ-कुपंथ जानने का प्रयत्न न करता हुआ सेवा में ही अपने को भुला देता है। सेवक अपने सेव्य को किसी भी दशा में नहीं छोड़ता। आदि, मध्य और अन्त में, घर या बाहर, कहीं भी उसके साथ अटूट साहचर्य बनाये रखता है। भक्त भगवान् को बड़े धैर्य और विश्वास से भजता है और सब चिन्ताओं का परित्याग कर देता है।

जो सत्य और संतोष को धारण किये रहता है और काम, क्रोध, तृष्णा आदि को पास भी नहीं फटकने देता, जिसे निन्दा और असत्य के प्रति अरुचि होती है और जो काल-कल्पना को मिटाकर, भगवच्चरणों में दत्तचित्त होकर समदृष्टि धारण करके आनंदपूर्वक गोविंद के गुणों का गान करता है वही सच्चा भगवद्भक्त है। कबीर का आदर्श-भक्त सब दोषों से ऊपर रहता है। वह ऐसा हज़ारी कपड़ा है जिसमें किसी मत के लिए अवकाश ही नहीं है। कबीर इस संसार को काजल की कोठरी कहते हैं। इसमें रहने वाला निष्कलंक नहीं रह सकता। भक्त वह है जो राम की आड़ में रह कर सांसारिक कालिमा से विलग रहता है। भक्त का एक विशेष गुण यह है कि वह सबका हितैषी होता है और उसकी चेष्टा यही रहती है कि वह सबको अपने-जैसा बना ले। वह अपने संपर्क से दूसरों के मल को भी दूर कर देता है।

एक ही साखी में कबीर ने संक्षेप में भक्तों या सन्तों के ये लक्षण बतलाये हैं—

निरबैरी निहकांमता, सांई सेती नेह।
विषिया सूं न्यारा रहै, संतनि का अंग एह॥

कबीर ने कुछ आदर्श-भक्तों के नाम गिनाये हैं। वे ये हैं—शुकदेव, उद्धव, अक्रूर, हनुमान्, शंकर, नामदेव और जयदेव। ये ऐसे भक्तों के नाम हैं जो इस चोरों से भरी संसार-निशा में सजग रहे।

रहस्य-साधना

'रहस्यवाद' शब्द अंग्रेजी के 'मिस्टिसिज्म' का हिन्दी अनुवाद है। अंग्रेजी में मिस्ट शब्द का प्रयोग उस धार्मिक अभिप्राय से होता है जो सामान्य पाठक की समझ में नहीं आता। यह अर्थ उन्हीं लोगों को बोधगम्य है जिनकी आध्यात्मिक अन्तर्ज्योति प्रदीप्त है। सबसे पहले बंगला ने मिस्टिसिज्म शब्द के अर्थ

को अनुवाद-रूप में ग्रहण किया। बहुत दिनों तक वह अर्थ अपने मूल रूप में प्रचलित रहा। बाद में जब हिन्दी ने भी इसे अपनाया तो दो नामों के अन्तर्गत, एक रहस्यवाद और दूसरा छायावाद हिन्दी में छायावाद को भिन्न अर्थ दे दिया गया जो किसी अंश में 'रोमांटिसिज्म' के अर्थ को धारण करता है। इस प्रकार हिन्दी में ये दो शब्द दो काव्य-धाराओं के प्रवर्तक हो गये।

आलोचना के क्षेत्र में कुछ दिन तक तो इन दोनों शब्दों की बड़ी छीछा-लेदर हुई। इनको भिन्न-भिन्न अर्थ देने के लिए अनेक आलोचकों की सर्वतो-मुखी अटकलबाजियां अर्थ का अनर्थ करने की सीमा का भी अतिक्रमण कर गई। अस्पष्टार्थ कविता ही रहस्यवादी कविता कही गई। इस संबंध में और कुछ न कह कर केवल इतना ही कह देना पर्याप्त है कि यह आलोचना का अतिवाद था। धीरे-धीरे रहस्यवाद की प्रकृति को समझा गया और पंडित रामचन्द्र शुक्ल आदि ने अपने-अपने मत देकर विचार-परम्परा को प्रोत्साहित करने के साथ दृढ़ भी किया। रहस्यवाद की अनेक परिभाषाएँ सामने आई, अपने-अपने ढंग से वे सभी ठीक-सी भी लगती हैं, पर अपूर्ण। किसी भी परि-भाषा में पूर्णता की आशा करना तो संभव है पर पूर्णता की खोज व्यर्थ है। अन्यथा 'मुण्डे-मुण्डे मतिर्भिन्ना' का कोई अर्थ ही नहीं रहता।

रहस्यवाद क्या है—इस प्रश्न का उत्तर साहित्यालोचकों ने अपने-अपने शब्दों में इस प्रकार दिया है :—

"ज्ञान के क्षेत्र में जिसे अद्वैतवाद कहते हैं भावना के क्षेत्र में वही रहस्य-वाद कहलाता है"।

—रामचन्द्र शुक्ल

"रहस्यवाद जीवात्मा की उस अन्तर्हित प्रवृत्ति का प्रकाशन है जिसमें वह दिव्य और अलौकिक शक्ति से अपना शान्त और निश्छल सम्बन्ध जोड़ना चाहता है, और यह सम्बन्ध यहाँ तक बढ़ जाता है कि दोनों में कुछ भी अन्तर नहीं रह जाता। जीवात्मा की सारी शक्तियाँ इसी शक्ति के अनन्त वैभव और प्रभाव से ओतप्रोत हो जाती हैं। जीवन में केवल उसी दिव्य शक्ति का अनन्त तेज अन्तर्हित हो जाता है और जीवात्मा अपने अस्तित्व को एक प्रकार से भूल-सा जाती है। एक भावना, एक वासना हृदय में प्रभुत्व प्राप्त कर लेती है और

वह भावना सदैव जीवन के अङ्ग-प्रत्यङ्गों में प्रकाशित होती रहती है। यही दिव्य संयोग है। आत्मा उस दिव्य शक्ति से इस प्रकार मिल जाती है कि आत्मा में परमात्मा के गुणों का प्रदर्शन होने लगता है और परमात्मा में आत्मा के गुणों का प्रदर्शन"।
—डा० रामकुमार वर्मा

"रहस्यवाद ब्रह्म के आध्यात्मिक स्वरूप से आत्मा की भावात्मक ऐक्यानुभूति के इतिहास का प्रकाशन है। ....जब साधक भावना के सहारे आध्यात्मिक सत्ता की रहस्यमयी अनुभूतियों को वाणी के द्वारा शब्दमय चित्रों में सजाकर रखने लगता है, तभी साहित्य में रहस्यवाद की सृष्टि होती है"।
—डा० गोविन्द त्रिगुणायत

"रहस्यवाद शब्द काव्य की एक धारा-विशेष को सूचित करता है। वह प्रधानतः उसमें लक्षित होने वाली उस अभिव्यक्ति की ओर संकेत करता है जो विश्वात्मक सत्ता की प्रत्यक्ष, गंभीर एवं तीव्र अनुभूति के साथ सम्बन्ध रखती है। इस अनुभूति का वास्तविक आधार अन्तर्हृदय हुआ करता है जो वैयक्तिक चेतना का मूल स्रोत है और जिसमें 'अहम्' एवं 'इदम्' की भावना का क्रमशः लोप हो जाता है"।
—परशुराम चतुर्वेदी

"काव्य में आत्मा की संकल्पात्मक मूल अनुभूति की मुख्य धारा रहस्यवाद है। वास्तव में भारतीय दर्शन और साहित्य, दोनों का समन्वय रस में हुआ था और यह साहित्यिक रस दार्शनिक रहस्यवाद से अनुप्राणित था। रहस्यवाद सच्चा भी हो सकता है और मिथ्या भी"।
—प्रसाद

इस प्रकार साहित्य-मनीषियों ने रहस्यवाद की अनेक परिभाषाएँ दी हैं जो घूम-फिर कर एक ही मूल-बिन्दु पर पहुँचती हैं। प्रायः सभी ने आत्मानुभूति की एक विशेष स्थिति को रहस्यवाद कहा है, किन्तु प्रश्न तो यह है कि 'रहस्यवाद' दर्शन के क्षेत्र की वस्तु है या साहित्य के क्षेत्र की ? कुछ आलोचकों ने प्राचीन और आधुनिक नाम से रहस्यवाद के दो भेद करके उनका सम्बन्ध क्रमशः दर्शन और साहित्य से जोड़ा है। यह सम्बन्ध अयुक्त दीख पड़ता है। रहस्यवादी काव्यधारा के रूप और उसकी प्रकृति को देखकर प्राचीन और आधुनिक नाम से भेद दिखलाने में तो कोई त्रुटि नहीं दीख पड़ती, किन्तु

रहस्यवाद को दार्शनिक और साहित्यिक, दो भेदों से भिन्न-भिन्न बतलाना उचित प्रतीत नहीं होता। दर्शन का ही एक विशेष रूप अनुभूति में उतर कर तथा विशेष अभिव्यक्ति पाकर 'रहस्यवाद' कहा जाता है। इससे उसका संबंध एक ओर तो चिन्तन की विशेष धारा से है और दूसरी ओर अभिव्यक्ति की उस धारा या परम्परा से जिसका सम्बन्ध अनिवार्य रूप से साहित्य के साथ है। जिसको बहुत से लोगों ने साहित्यिक रहस्यवाद कहा है उसके पीछे भी कोई दर्शन अवश्य है, इसलिए रहस्यवाद को दर्शन से पृथक् नहीं कर सकते, जैसे जल में विलीन नमक जल से पृथक् नहीं किया जा सकता। जलगत नमक वही है जो मिलने से पूर्व अपनी सत्ता जल से पृथक् रखता था। इसी प्रकार विशेष अनुभूतिमयी अभिव्यक्ति में आने से पूर्व दर्शन अपनी पृथक्ता रखता है। जैसे ही उसे वह अभिव्यक्ति प्राप्त हो जाती है वह रहस्यवाद बन जाता है। अभिव्यक्ति दर्शन से अलग अपना रूप नहीं सँवार सकती। जैसे जल के बिना नमक सूखा रहता है उसी प्रकार साहित्य के बिना दर्शन भी सूखा रह जाता है। दार्शनिक सत्य-अनुभूति में उतर कर साहित्यिक सरसता प्राप्त कर लेता है। वह रसमय हो जाता है। दर्शन की परिणति ब्रह्मानन्द में होती है किन्तु साहित्य की परिणति रस में होती है जो ब्रह्मानन्द-सहोदर होता है। सहोदर शब्द साहित्यानन्द और दर्शनानन्द के भेद को स्पष्ट कर देता है किन्तु उससे दोनों की समन्वयशीलता भी प्रकट होती है। इसीलिए भारतीय मनीषियों ने दर्शन और साहित्य का समन्वय रस में देखा।

जिसको ऊपर 'रहस्यवाद' कहा गया है वह रहस्य और वाद से अपने सम्बन्ध के स्पष्टीकरण की अपेक्षा रखता है। अनुभवियों की जानकारी है कि जिस प्रकार इस सृष्टि के अन्तर में अनेक रहस्य निहित हैं उसी प्रकार इस मानव-अन्तर में भी। जिन तथ्यों के सम्बन्ध में मनुष्य का ज्ञान नहीं है वे सब उसके रहस्य हैं। कभी-कभी ऐसी बातें, जिनकी हम आशा नहीं करते, किसी विशेष युक्ति से अथवा सहसा प्रकाश में आकर हमें विस्मित कर देती हैं और हमें रहस्योद्घाटन के रूप में उपलब्ध होती हैं। जिस साधना का सम्बन्ध इन रहस्यों से होता है, वह रहस्य साधना कहलाती है। जब तथ्यों का उद्घाटन

भौतिक रूप में होता है तब वे विज्ञान से सम्बन्धित कहे जाते हैं और जिस चिन्तन-परंपरा से जड़ और चेतन तत्त्व की एकता की गवेषणा की जाती है वह दर्शन कहलाती है किन्तु ऐसे भी तथ्य हैं जिनका सम्बन्ध साधना या भावना से होता है।

विज्ञान अपने प्रयोगों से जिस परिणाम पर पहुँचता है उस में भौतिक तथ्यों का उद्घाटन निहित है। उसकी सिद्धि उसे क्षणिक भौतिक सुख प्रदान करती है। कभी-कभी वह भ्रष्ट योगी की भांति अपनी साधना का शिकार भी बन जाता है। दर्शन दृश्य से परे अदृश्य की भी मीमांसा करता है। जिस प्रकार भौतिक तथ्यों की शोध की प्रक्रिया में अनेकता एकता के परिवेश में आती जा रही है उसी प्रकार चिन्तन भी अनेकता को एकता के रूप में देखने की चेष्टा करता रहा है। इसी चेष्टा के परिणामस्वरूप चिन्तकों को जो सिद्धि प्राप्त हुई है उसको अद्वैतसिद्धि कहा गया है और दर्शन को अद्वैतदर्शन नाम दिया गया है।

दार्शनिक व्यक्त और अव्यक्त, अनेक और एक के सम्बन्ध को देख कर एकता की सिद्धि प्राप्त करके आनन्द-विभोर हो जाता है। आनन्द की इस प्रक्रिया का यथातथ्य निरूपण भारत की पारिभाषिक शब्दावली में 'अद्वैत-दर्शन' कहलाता है किन्तु जब अद्वैत-दृष्टि भावना या साधना के पथ से अनुभूति पर खुलती है तब वह रहस्य-साधना कहलाती है। काव्य जब इस अनुभूति को प्रकट करने की चेष्टा करता है तब उसे एक विशेष शैली अपनानी पड़ती है। जब तक पाठक या श्रोता उस प्रकार की अनुभूति और शैली से परिचित नहीं होता तब तक उसके समक्ष प्रस्तुत अभिव्यक्ति एक रहस्य का रूप धारण किये रहती है। साहित्य या काव्य की यह धारा या शैली ही रहस्यवाद कहलाती है। अतएव संक्षेप में यह कह सकते हैं कि रहस्यवाद आत्मा और परमात्मा (जिसमें समग्र सृष्टि समाहित है) की अभेदानुभूति की अभिव्यक्ति है। अनुभूति-विशेष होने पर भी जब तक वह एक विशेष रूप में काव्य में नहीं उतरती तब तक उसे रहस्यवाद की संज्ञा नहीं मिल सकती। यह कहना कुछ विशेष समीचीन नहीं दीख पड़ता कि जो ज्ञान के क्षेत्र में 'अद्वैत-

वाद' कहलाता है वही भावना के क्षेत्र में 'रहस्यवाद' कहलाता है क्योंकि भावना के अतिरिक्त रहस्यवाद का सम्बन्ध अभिव्यक्ति के एक विशेष रूप से भी तो है जिसमें शब्द का अपना अर्थ और अपना संकेत होता है।

रहस्यवाद ज्ञान और भक्ति दोनों से भिन्न है। ज्ञान और भक्ति का संबंध अभिव्यक्ति की पद्धति से नहीं है। कोई भी विचार या भाव साहित्य में समावेश प्राप्त कर सकता है। किन्तु एक विशेष शैली में अवतरित होकर उसको विशेषता मिल जाती है। आध्यात्मिक एवं अलौकिक अनुभूति लौकिक शब्दावली में उसी प्रकार व्यक्त नहीं हो सकती जिस प्रकार कोई लौकिक अनुभूति, क्योंकि लौकिक अनुभूति को व्यक्त करने में लौकिक शब्द समर्थ होते हैं और अलौकिक अनुभूति को प्रकट करने में वाणी को अपनी विवशता स्वीकार करनी होती है। फिर भी प्रतीकों और संकेतों का आश्रय लेकर वह अपना काम चलाती है और एक प्रकार से अनुभूति का भार ढोती है जो अभिव्यक्ति से स्पष्ट होता है। विशेष अनुभूति की प्रतीकाश्रित अभिव्यक्ति साहित्य में 'रहस्यवाद' नाम पाती है। रहस्यवाद कोई दार्शनिकवाद न होकर वस्तुतः साहित्यिक 'वाद' है जिसका लक्षण है—प्रेमाश्रयी अद्वैतानुभूति एवं प्रतीकाश्रयी सांकेतिक अभिव्यक्ति। अतएव रहस्यवाद की सृष्टि के सम्बन्ध में ये शब्द ठीक ही दीख पड़ते हैं कि जब साधक भावना के सहारे आध्यात्मिक सत्ता की रहस्यमयी अनुभूतियों को वाणी के द्वारा शब्दमय चित्रों में सजा कर रखने लगता है, तभी साहित्य में रहस्यवाद की सृष्टि होती है।

इससे स्पष्ट है कि रहस्यवाद का संबंध वैयक्तिक अनुभूति एवं प्रतिष्ठित अभिव्यंजन-शैली से है। इसलिए वह ज्ञान और भक्ति से भिन्न दिखाई पड़ता है। वैयक्तिक अनुभूति तो भक्ति में भी हो सकती है किन्तु रहस्यवाद विशेष अनुभूति के कलेवर में विशेष अभिव्यक्ति से प्राणवान् होता है। वह अनुभूति और वह शैली ही तो रहस्यवाद की साहित्यिक पहचान है।

भावना और साधना के दो क्षेत्रों में आकर अनुभूति भी द्विधा हो जाती है। इन दोनों क्षेत्रों में अभिव्यक्त होने वाली अनुभूति रहस्यवाद के दो रूप प्रस्तुत करती है—एक भावात्मक रहस्यवाद और दूसरा साधनात्मक रहस्यवाद। अद्वैत-

तत्त्व की अनुभूति जब प्रेम के क्षेत्र में होती है तो उसकी साहित्यिक अभिव्यंजना में भावात्मक रहस्यवाद अपने रूप को सँवारता है और जब साहित्यिक अनुभूति विशेष साधना के क्षेत्र में होकर काव्य में अभिव्यक्त होती है तब भी उसकी शैली में विशेषता आ जाती है और उस दशा में साधनात्मक रहस्यवाद प्रस्तुत होता है। रहस्यवाद के इन दोनों रूपों में दो प्रकार की पद्धतियाँ दिखाई पड़ती हैं—प्रेममार्गी सूफ़ियों की एवं सिद्ध-नाथों की।

यह तो पहले कहा जा चुका है कि रहस्यवाद की भूमिका में अद्वैतवाद निहित है और उसके भी दो पक्ष हैं—आत्मा और परमात्मा की एकता तथा ब्रह्म और जगत् की एकता। दोनों मिलकर सर्ववाद की प्रतिष्ठा करते हैं—सर्व खल्विदं ब्रह्म। यद्यपि साधना के क्षेत्र में सूफ़ियों और पुराने ईसाई-भक्तों की दृष्टि प्रथम पक्ष पर ही दिखाई देती है पर भावक्षेत्र में जाकर सूफ़ी प्रकृति की नाना विभूतियों में भी उसकी छवि का अनुभव करते आये हैं।

उन्नीसवीं शताब्दी की योरुपीय कविता के क्षेत्र में भी 'सर्ववाद' का पुनरुत्थान हुआ जिसमें ब्रह्म और जगत् की एकता का भी आभास मिलता है। शैले और यीट्स की वाणियों में इस प्रकार के सर्ववाद की झलक देखी जा सकती है। रवीन्द्र-बाबू के काव्य में भी वह स्वर सुनाई पड़ता है। पश्चिमी आलोचकों की मान्यता है कि वहां के काव्यगत सर्ववाद का सम्बन्ध लोकसत्तात्मक भावों के साथ है। पश्चिम के कुछ लोगों का यह मत भी है कि रहस्यवाद न अनुभव है, न प्रवचन, न मन की कोई क्रिया और न कोई कर्मकांड। हमारी कोई भी इन्द्रिय, कोई भी शक्ति इस रहस्यवाद की प्राप्ति में हमारी सहायता नहीं कर सकती। जब मन में एकान्ततः निवृ ंत्ति हो जाती है तो उसे एक परम ज्योति का साक्षात्कार होता है। उस समय उसको जो अनुभूति होती है वह उन अनुभूतियों से भिन्न होती है जो सामान्यतः मनोगम्य हैं। प्लाटिनस की मान्यता भी कुछ इसी प्रकार की है। उसका कहना है कि अपने भीतर रहस्यवादी को एक दिव्य पूर्णता की अनुभूति होती है, जिसमें वह आनन्द-मग्न हो जाता है। उस अवस्था में आनन्द के सिवा अन्य सभी लौकिक अनुभूतियों का लोप हो जाता है। वह अवस्था उसके लिए अनिर्वचनीय

होती है। जब तक उसमें वह रहता है उसके सम्बन्ध में वह कुछ कह नहीं सकता। जब वह अपनी सामान्य अवस्था को प्राप्त होता है तब भी वह अपनी दिव्य अनुभूति को लोक-भाषा में व्यक्त नहीं कर पाता और जो कुछ वह कहता है उसकी अंशाभिव्यक्ति मात्र होती है। सामान्य बोध-शक्ति उसको ग्रहण करने में अपने-आपको असमर्थ पाती है।

रहस्यवाद के सम्बन्ध में योरुप और भारत के दार्शनिकों ने अपने-अपने ढंग से जो कुछ कहा है, उसमें बहुत भिन्नता नहीं है और इसमें भी कोई मत-भेद नहीं है कि पश्चिम और पूर्व के रहस्यवादियों की भाषा जो हो सो हो, उनकी उक्तियों की प्रकृति में कोई अन्तर नहीं है। इसका कारण है एक ही विश्व-सत्ता की प्रेममय अनुभूति की अभिव्यक्ति। इसे पश्चिम के विद्वान् भी मानने लगे हैं कि रहस्यवाद का जन्म भारत में ही हुआ था। अतएव बॉगन का यह निष्कर्ष न तो अनुचित है और न अविचारपूर्ण कि विश्व को रहस्यवाद की सबसे पहली झाँकी भारत ने दी। डा० राधाकृष्णन का कहना है कि वेद रहस्यवादी कविता के अनेक सुन्दर उदाहरण प्रस्तुत करते हैं, फिर भी रहस्यवादी सिद्धान्तों की परम्परा का आरम्भ उपनिषदों से माना जाता है। अनेक लब्ध-ख्याति विद्वान् रहस्यवाद के जन्म का सम्बन्ध कृष्ण के उदय से जोड़ते हैं क्योंकि भक्ति के सिद्धान्तों का प्रतिपादन सबसे पहले भगवद्गीता में ही मिलता है किन्तु यह अनुमान प्रामाणिक नहीं माना जा सकता क्योंकि गीता का समय निश्चित रूप से उपनिषदों से बाद का है। सच तो यह दीख पड़ता है कि भक्ति-मार्ग कृष्ण से पूर्व भी मान्यता प्राप्त कर चुका था क्योंकि छान्दोग्य-उपनिषद् के अनुसार स्वयं कृष्ण ने रहस्यवादी सिद्धान्तों की व्याख्या के लिए ऋषि आंगिरस की सहायता ली थी। इसमें कोई सन्देह नहीं कि कृष्ण के ग्रन्थों में भक्ति-मार्ग को वड़ी प्रेरणा मिली। गीता को उपनिषदों का सार वतलाया जाता है, अत: उसके मूल में उपनिषद् निहित हैं।

इस प्रकार भारतीय साहित्य में रहस्यवाद की तीन धाराएँ दृष्टिगोचर होती हैं—(१) औपनिषदिक रहस्यवाद, (२) मध्यकालीन रहस्यवाद और (३) आधुनिक रहस्यवाद। इन तीनों धाराओं में थोड़ा-थोड़ा भेद अवश्य

दिखाई पड़ता है। उपनिषदों का रहस्यवाद उन मनुष्यों का रहस्यवाद था जो आश्रमों में रहते थे किन्तु मध्यकालीन रहस्यवाद वह रहस्यवाद था जिसने अपने को मानवता के उत्थान में व्यावहारिक रूप से लगाया। यह अन्तर सर्वांशतः ठीक नहीं दीख पड़ता। यहां यह और कहा जा सकता है कि मध्यकालीन रहस्यवाद में भी गम्भीरता का अभाव नहीं मिलता। फिर भी मध्यकालीन रहस्यवाद कें दो रूप दीखते हैं—सूफ़ी-रहस्यवाद तथा सन्त-रहस्यवाद। मध्यकालीन सूफ़ियों की चेष्टाएँ प्रायः आत्मा को परमात्मा में विलीन करने की ओर रहीं और सन्तों ने जिस प्रकार समुद्र में बूंद को समाते देखा उसी प्रकार बूंद में समुद्र को समाते हुए भी देखा।

आधुनिक आलोचकों में से वहुत से रहस्यवाद का मूल उद्गम सेमेटिक धर्म-भावना को मानते हैं और कहते हैं कि वह भारत से बाहर की वस्तु है। प्रसाद ने अपने 'रहस्यवाद' नामक निबंध में यह स्पष्ट कर दिया है कि सूफ़ियों का अनलहक़वाद सेमेटिक धर्म-भावना के अनुकूल नहीं है। वे कहते हैं—"रहस्यवाद (अनलहक़वाद) सेमेटिक धर्म-भावना के विरुद्ध है एवं ईसा, मंसूर और सरमद आर्य-अद्वैत-भावना से प्रभावित थे"। उपनिषदों के ऋषियों से आरम्भ होकर सिद्धों और सन्तों तक आनन्द-रस की साधना की एक धारा चलती रही। सगुण-भक्त सूर और तुलसी भी इस धारा के प्रभाव से अछूते न रह सके, किन्तु इनमें आनन्द मिश्रित रूप में ही प्रकट हुआ। सन्तों ने राम की वहुरिया बनकर तथा चंडीदास एवं विद्यापति आदि ने भागवत से संकेत लेकर तथा महारास (आत्मा-परमात्मा का मिलन) की वीथी के लिए विरह-वेदना प्रशस्त करके जो गीत गाये उनमें शुद्ध आनन्दवाद का स्वर क्षीण हो गया। फिर भी तुकनगिरि एवं रसालगिरि आदि की रहस्यवादी लावनियों में सिद्ध-परम्परा वाली अद्वैतानंद की धारा वहती रही।

अन्यत्र कहा जा चुका है कि भारत में दो प्रकार का रहस्यवाद चलता रहा—एक तो भावात्मक रहस्यवाद और दूसरा साधनात्मक रहस्यवाद। भारतीय योगमार्ग किसी भी अपने विकास-क्रम में जटिल अभ्यासों और अलौकिक सिद्धियों को अपनाये रहने के कारण साधनात्मक रहस्यवाद को ही प्रेरित

करता रहा। तांत्रिक श्रौर रासायनिक प्रक्रियाश्रों तथा सिद्धियों की श्रभिव्यक्ति भी साधनात्मक रहस्यवाद के श्रन्तर्गत ही रही। स्थूल श्रौर सूक्ष्म के भेद से भावात्मक रहस्यवाद को भी दो प्रमुख श्रेणियों में रख सकते हैं। पं० रामचन्द्र शुक्ल भूत-प्रेत की सत्ता मानकर चलनेवाली भावना, तथा परमपिता के रूप में एक ईश्वर की सत्ता मानकर चलनेवाली भावना को स्थूल रहस्यवाद के श्रन्तर्गत रखते हैं श्रौर श्रद्वैतवाद या ब्रह्मवाद को लेकर चलने वाली भावना से वे सूक्ष्म श्रौर उच्चकोटि के रहस्यवाद की प्रतिष्ठा होती मानते हैं। रहस्य-भावना किसी विश्वास के श्राधार पर चलती है, विश्वास करने के लिए कोई नया तथ्य या सिद्धान्त नहीं उपस्थित कर सकती। किसी नवीन ज्ञान का उदय उसके द्वारा नहीं हो सकता। जिस कोटि का ज्ञान या विश्वास होगा उसी कोटि की उससे उद्भूत रहस्य-भावना होगी।

पीछे यह भी कहा जा चुका है कि रहस्यवाद भक्ति से भिन्न है। भक्ति से हमारा तात्पर्य है—वैष्णवों की सगुणोपासना। समष्टिरूप में उक्त सगुणोपासना रहस्यवाद के श्रन्तर्गत नहीं कही जा सकती, किन्तु श्रीमद्भागवत के उपरान्त कृष्ण-भक्ति को जो रूप मिला उसमें कृष्ण प्रेममूर्ति बन गये श्रौर भक्त लोगों ने उनको जगत् के सम्बन्ध से देखने की श्रपेक्षा, श्रपने ही सम्बन्ध से देखना श्रारम्भ कर दिया। उनका प्रेम एकान्तभाव श्रौर रूप-माधुर्य पर श्राश्रित हो गया। भगवान् की भावना प्रियतम के रूप में की जाने लगी। वैष्णव भक्ति-मार्ग में इसको 'माधुर्य-भाव' कहते हैं। भारतीय भक्ति सामान्यतः 'परम-प्रेम-रूपा' होने के कारण माधुर्य-भाव का प्रचार यहाँ श्रधिक न हो पाया। मध्यकाल में सूफ़ियों की देखा-देखी कुछ कृष्ण-भक्त इस भाव की श्रोर प्रवृत्त हुए जिनमें मीराबाई प्रमुख हैं। बाद में तो चैतन्य महाप्रभु, नागरीदास, नज़ीर श्रादि श्रनेक कृष्ण-भक्तों ने प्रियतम कृष्ण की रूप-माधुरी का छक कर पान किया श्रौर रहस्यवादी काव्यधारा को श्रागे बढ़ाया।

श्राधुनिक हिन्दी-साहित्य में भी रहस्यवादी धारा बहती जा रही है। वह श्रद्वैत-रहस्यवाद की सौन्दर्यमयी व्यंजना के लिए प्रशस्त है। वर्तमान हिन्दी का श्रद्वैत-रहस्यवाद श्रपने स्वाभाविक विकास का सूचक है। उसमें श्रपरोक्ष श्रनु-

भूति, समरसता तथा प्राकृतिक सौन्दर्य के द्वारा अहम् का इदम् से सम्बन्ध करने का सुन्दर प्रयत्न है। हां, विरह भी युग की वेदना के अनुकूल मिलन का साधन बन कर इसमें सम्मिलित है। वर्तमान रहस्यवाद की धारा भारत की निजी सम्पत्ति है, इसमें सन्देह नहीं।

पीछे हम प्राचीन और आधुनिक नाम से रहस्यवाद के दो भेदों की ओर संकेत कर चुके हैं। प्राचीन के अन्तर्गत हम औपनिषदिक रहस्यवाद तथा मध्य-कालीन रहस्यवाद का समावेश कर सकते हैं। वास्तव में औपनिषदिक रहस्यवाद एक दर्शन के भीतर ही अंकुरित मिलता है परन्तु रहस्यवाद के रागात्मक रूप के लिए उसमें समुचित स्थान नहीं है। वेदान्त सम्बन्धी अनेक दार्शनिक धाराएँ आत्मा की लौकिक और पारलौकिक सत्ता के विषय में जो मत प्रस्तुत करती हैं उनका सम्बन्ध मस्तिष्क से ही अधिक है, हृदय से नहीं। योग का लक्ष्य इन्द्रियों और मन के वशीकरण द्वारा शुद्ध चेतन के साथ एकाकार होना है, अतएव योग से सम्बन्धित रहस्यवाद में भी वह प्रेम नहीं मिलता जो सूफ़ीमत के रहस्यवाद में है। उसमें प्रेम, प्रेमजनित आत्मानुभूति और चिरन्तन प्रियतम का विरह समाविष्ट है, परन्तु साधनाओं और अभ्यासों में वह भी योग के समकक्ष रखा जा सकता है। हां, कबीर आदि कुछ सन्तों की प्रेमाभिव्यञ्जना में योग-क्रियाओं से मुक्त रहने की चेष्टा अवश्य व्यक्त होती है। फिर भी उनके रहस्यवाद ने योग से एकदम सम्बन्ध नहीं तोड़ा। कबीर के प्रणय-निवेदन में वैष्णव-भक्ति के अधिकांश तत्त्व निहित हैं किन्तु आज के गीत में हम जिन्हें नये रहस्यवाद के रूप में ग्रहण कर रहे हैं वह इन सब की विशेषताओं से युक्त होने पर भी, उन सबसे भिन्न है। उसने परा विद्या की अपार्थिवता ली, वेदान्त के अद्वैत की छाया ग्रहण की, लौकिक प्रेम से तीव्रता उधार ली और इन सब को कबीर के सांकेतिक दाम्पत्य-भाव-सूत्र में बांध कर एक निराले स्नेह-सम्बन्ध की सृष्टि कर डाली, जो मनुष्य के हृदय को आलम्बन दे सकी, उसे पार्थिव प्रेम से ऊपर उठा सकी तथा मस्तिष्क को हृदयमय और हृदय को मस्तिष्कमय बना सकी।

उपनिषदों ने माधुर्यभाव की व्यञ्जना के लिए कोई क़दम नहीं उठाया था। हां, उपमानों में कुछ संकेत अवश्य दिये थे, किन्तु मध्यकालीन रहस्यवाद

ने माधुर्यभाव को जिस रूप में अपनाया वह सूक्ष्म भावात्मक रहस्यवाद की परम्परा में एक अनूठा योग है, चाहे वह सूफ़ीमत से आया हो और चाहे कृष्ण-भक्ति की विकास-परम्परा में ही उसका कोई क्रम रहा हो। मध्यकालीन रहस्य-वाद ने अपने स्थूल एवं साधनात्मक रूप में माधुर्यभाव की उपेक्षा भी कर दी थी।

यह कहने की आवश्यकता नहीं कि हृदय के अनेक रागात्मक सम्बन्धों में माधुर्य-भाव-मूलक प्रेम ही उस सामंजस्य तक पहुँच सकता है, जो सब रेखाओं में रंग भर सके, सब रूपों में सजीवता ला सके और आत्मनिवेदक को इष्ट के साथ समता के धरातल पर खड़ा कर सके। भक्त और उसके इष्ट के बीच में वरदान की स्थिति सम्भव है जो इष्ट नहीं, इष्ट का अनुग्रह-दान कहा जा सकता है। माधुर्यभाव-मूलक प्रेम में आधार और आधेय का तादात्म्य अपेक्षित है। यह तादात्म्य उपासक-उपास्य का नहीं होता। इसी से तन्मय रहस्योपासक के लिए आदान संभव नहीं, पर प्रदान या आतमदान उसका स्वभावगत धर्म है।

आधुनिक रहस्यवादी काव्य में अखंड और व्यापक चेतन के प्रति कवि के आत्म-समर्पण की भावना तो व्यक्त होती है, किन्तु इस अभिव्यक्ति के पीछे अनुभूति का कितना बल है, आधुनिक रहस्यवाद की यह एक समस्या है। यह ठीक है कि आधुनिक रहस्यवादी ने भी अपने अन्तर्जगत् में एक व्यापक, अखंड एवं संवेदनात्मक धरातल खोज रखा है, जिस पर सारी विविधताएँ मिलकर एक हो जाती हैं और यह भी ठीक है कि आधुनिक रहस्यवाद में आत्म-समर्पण की भावना भी दिखाई देती है, जो एक ओर सूक्ष्म व्यापकता से सम्बन्ध रखती है और दूसरी ओर सौन्दर्य की प्रत्यक्ष विविधता से। आधुनिक रहस्यवाद में जो आत्म-समर्पण दृष्टि-गोचर होता है वह बुद्धि-परक सूक्ष्म-व्यापकता तथा हृदय परक सौन्दर्य-विविधता के सामंजस्य का दावा करता है। महादेवी की उक्ति में इस दावे को इस प्रकार देख सकते हैं—"रहस्योपासक का आत्म-समर्पण हृदय की ऐसी आवश्यकता है जिसमें हृदय की सीमा एक असीमता में अपनी ही अभिव्यक्ति चाहती है"।

कुछ आलोचकों ने यह ठीक ही कहा है कि प्राचीन और आधुनिक रहस्य-

वाद की कविताओं में बहुत अन्तर है। प्राचीन रहस्यवाद से मेरा अभिप्राय यहाँ कबीर आदि के उस रहस्यवाद से है, जिसमें एक धार्मिक पृष्ठभूमि—उस के मूल में धार्मिक अनुभूति एवं साधना थी। आधुनिक रहस्यवाद में वह नहीं है। प्राचीन रहस्यवादी मूलतः साधक था और उसके लिए काव्य का मूल्य बस इतना ही था कि वह अपनी अनुभूति को उसके द्वारा प्रकाश में लाने का प्रयत्न करता था। उसके अपने प्रतीक और संकेत थे, किन्तु वे किसी-न-किसी रूप में लोक-परिचित थे। फलतः उसकी उक्तियां लोक-बोध की सीमाओं का उल्लंघन नहीं करती थीं। आध्यात्मिक गहराई तक न पहुँचने पर भी सामान्य पाठक उसके सामान्य अर्थ को तो समझ ही लेता था, किन्तु आधुनिक रहस्यवाद पाठक की बुद्धि की कठिन परीक्षा लेता है।

आधुनिक रहस्यवादी काव्य की मुख्य आधार-शिला कल्पना है। जहाँ प्राचीन रहस्यवादी धर्म की प्रेरणा से प्रेम-मग्न होता था वहाँ आधुनिक रहस्य-वादी कल्पना के पर लगाकर प्रेम-गगन में अठखेलियाँ करता है, उछालें भरता है। आधुनिक रहस्यवादी काव्य के पीछे धार्मिक अनुभूति का बल नहीं है और जहाँ थोड़ा बहुत बल है भी, वहाँ अनुभूति में गहराई नहीं है। साधनात्मक अनुभूति के अभाव में आज की रहस्यवादी कविता शैली-मात्र कही जा सकती है। उसके नये प्रतीकों में नई उद्भावनाएँ हैं जिनसे पाठक का परिचय बहुत कम या बिल्कुल नहीं है। इसी कारण आधुनिक रहस्यवादी काव्य को पाठक नहीं मिल पाये।

आधुनिक रहस्यवादी कविताओं ने शैली-भेद भी प्रकट किया है और उसका कारण है कवियों की प्रवृत्ति की भिन्नता तथा शैली के प्रति उनका विशेष आग्रह, जो प्राचीन कवियों में नहीं मिलता। इसीलिए प्राचीन कवियों की शैली में भेद नहीं दिखाई देता। प्रत्येक सम्प्रदाय की अपनी-अपनी परिभाषाएं और अपने-अपने प्रतीक होते हुए भी उनके मूल दृष्टिकोण में कोई भेद नहीं है। प्रत्येक सम्प्रदाय के साहित्य की अनेक प्रवृत्तियों में रहस्यवाद की प्रवृत्ति प्रधानरूप से प्रतिष्ठित है। अतएव यह कहना अनुचित नहीं कि प्राचीन रहस्यवादी कविता

में अध्यात्म-दृष्टि की प्रधानता और आधुनिक रहस्यवादी कविता में कवित्व की प्रधानता है।

प्रसाद, निराला, पंत और महादेवी आधुनिक रहस्यवाद के गढ़पति हैं, किन्तु सन्त या भक्त नहीं हैं। इनसे आधुनिक साहित्य को एक नई प्रवृत्ति और नई शैली अवश्य मिली है, किन्तु इनकी वाणी में वह साधना-शक्ति या वह प्रणय-विकलता नहीं है जो सन्तों या भक्तों की वाणी में थी। इनकी कविताओं में उपनिषदों से लेकर रवीन्द्र तक के स्वरों की प्रतिध्वनि मिल सकती है किन्तु साधना या अनुभूति के स्तर पर नहीं, मूलतः कल्पना के वातावरण में।

आधुनिक रहस्यवाद बाह्य प्रभावों से अछूता रहा है और इस दृष्टि से उसने रहस्यवाद की मूल-परम्परा का अनुपालन किया है। विषय और शैली के विकास में ही उसकी आधुनिकता है। अंग्रेजी के रोमांटिसिज्म के प्रभाव से उसने अपने अन्तर में करुणा को प्रतिष्ठित किया है। इसी कारण आज उसमें संयोग, वियोग, प्रतीक्षा एवं सान्त और अनन्त की सम्वन्ध-कल्पना के साथ-साथ वेदना और करुणा के प्रति मोहमय आकर्षण भी दृष्टिगोचर होता है। आधुनिक रहस्यवाद की एक विशेषता यह भी है कि उसे भिन्न-भिन्न कवियों की प्रवृत्तियों का योग तो मिला किन्तु उनकी सहानुभूति न मिल सकी।

रहस्यवाद की भूमिका चार प्रमुख तत्वों से निर्मित होती है—आस्तिकता, प्रेम-भावना, गुरु और मार्ग। इनमें से आस्तिकता का स्थान पहला है। जिस प्रकार ऊसर भूमि में बोया हुआ कोई बीज नहीं जमता उसी प्रकार नास्तिक के हृदय और मन में ईश्वर-सम्बन्धी कोई भाव या विचार जम नहीं सकता। आस्तिक्य की कसौटी श्रद्धा है। 'श्रद्धावान् लभते माम्' श्रुति-वाक्य से भी इसी बात का समर्थन होता है। आस्तिक्य प्रेम की उर्वरा भूमि है। वहीं गुरु के उपदेश के बीज अंकुरित होते हैं। आस्तिक एक व्यापक सार्वभौम सत्ता को स्वीकार करके उसे अपने भीतर, बाहर और चारों ओर देखता है। उसके हृदय में ग्रहण-शक्ति होती है। मोम के समान वह ब्रह्मविषयक किसी भी प्रभाव को स्वीकार कर लेता है।

कबीर के आस्तिक्य में तो सन्देह के लिए कोई अवकाश ही नहीं है। वे

पक्के आस्तिक थे। वे इस दृश्य के पीछे अदृश्य व्यापक सत्ता को देखने की प्रेरणा, इसी आस्तिकता के कारण देते हैं—

जिनि यहु चित्र बनाइया, सो साचा सुतधार।
कहै कबीर ते जन भले, जे चित्रवत लेहिं विचार॥

इतना ही नहीं, उनकी आस्तिकता की कुछ गहरी झलक नीचे देखिए—

ज्ञान अमरपद बाहिरा, नेड़ा ही तैं दूरि।
जिनि जान्यां तिनि निकटि है, रांम रह्या सकल भरपूरि॥

कभी-कभी कबीर का तीखापन कुछ अन्यथा-भाव पैदा कर देता है किन्तु उनकी उक्ति-तीक्ष्णता प्रायः नास्तिकता के विरोध में ही व्यक्त हुई है। उनकी वाणी का विस्फोट धर्म-विश्रृङ्खलता या नास्तिकता की प्रतिक्रिया के रूप में ही हुआ था। आस्तिक की एक पहचान यह है कि वह धर्म-भीरु और विनयशील होता है। उसका आचरण सरल और स्पष्ट होता है और हृदय के साथ उसका सामंजस्य होता है। इसी कारण वह दम्भ और कपट का विसर्जन कर देता है। कबीर को भी निर्दम्भ आचरण प्रिय था। इसी से उनको दम्भ के विरोध में कहना पड़ा है—

कबीर तष्टा टोकणीं, लीये फिरै सुभाइ।
राम नांव चीन्हैं नहीं, पीतलि ही कै चाइ॥

वे मानव-धर्म के पुजारी थे जिसमें सर्वत्र ईश्वर की प्रतिष्ठा थी। उनका विवेक प्रकाशित था, इसीलिए वे परमात्मा को किसी मन्दिर या मस्जिद का बंदी नहीं बना देते। वे कहते हैं—

और खुदाइ मसीति बसत हैं, और मुलिक किस केरा।
तीरथ मूरति रांम निवासा, दुहु मैं किनहूं न हेरा॥

कबीर ने ईश्वर को सदैव अखण्ड एवं व्यापक रूप में ही देखा था।

कभी-कभी कबीर का 'सुन्न' शब्द भ्रम में डाल सकता है। इसका प्रयोग कबीर-वाणी में कई अर्थों में हुआ है। कुछ लोग इसके अर्थ-विशेष से कबीर की आस्तिकता के विषय में चौंक पड़ते हैं, किन्तु वास्तव में चौंकने की कोई बात है नहीं। यह शब्द चौंका तो तभी सकता है जबकि उसको बौद्धों के

'शून्यवाद' से सम्बन्धित कर लिया जाय। 'शून्यवाद' का विकास गौतम के अनात्मवाद से हुआ था जिसमें अहङ्कारमूलक आत्मवाद का खण्डन होते हुए भी विश्वात्मवाद का उन्मूलन नहीं है। शून्यवाद का आधार गौतम का जो अनात्मवाद था वह भी उपनिषदों के नेति-नेति से पूर्ण था। उसकी मान्यता थी कि व्यक्तिरूप में आत्मा के सदृश कुछ नहीं है। धीरे-धीरे इसी अनात्मवाद ने शून्यवाद का रूप लेकर अपने अर्थ को भी बदलने का उपक्रम किया। जो अनात्मवाद एकता के परिवेश में 'सब-कुछ' होने का दावा लेकर चला था, वही शून्यवाद के रूप में 'न-कुछ' में बदल गया। इस प्रकार वैदिक 'नेति-नेति-वाद' का पर्यवसान बौद्धों के नास्तिवाद में हुआ। जिन लोगों को कबीर के 'सुन्न' शब्द में 'नास्तिवाद' का भ्रम हो जाता है वही चौंकने लगते हैं। यों तो 'सुन्न' शब्द का प्रयोग नानार्थों में हुआ है, किन्तु जहाँ-कहीं परमात्मा या आत्मा के सन्दर्भ में प्रयुक्त हुआ है वहाँ भी 'नास्तिवाद' का संकेतक नहीं है। इसमें अस्तिवाद के सब गुण विद्यमान हैं। एक उदाहरण देखिये—

उदक समंद सलल की साख्या, नदी तरंग समावहिंगे।
सुन्नहि सुन्न मिल्या समदर्सी, पवनरूप होइ जावहिंगे॥

यहाँ 'सुन्नहि सुन्न मिल्या' वाक्य विशेषतः ध्यान देने योग्य है। मठाकाश और महाकाश की भाँति ये दोनों अपनी एकरूपता के सूचक हैं और दोनों का मिलन जीवात्मा और परमात्मा के मिलन का सूचक है। इस अर्थ में बौद्धों के 'शून्य' के लिए कोई अवकाश नहीं है किन्तु 'खं ब्रह्म' का अभिप्राय स्पष्ट है, और नाथ-पंथियों का प्रभाव भी। नाथों का शून्य 'अलख निरञ्जन' का पर्यायवाची था। कबीर ने अपने राम को निरञ्जन कहा है—

अंजन आवै अंजन जाइ, निरंजन सब घटि रह्यो समाइ।
जोग ध्यांन तप सबै विकार, कहै कबीर मेरे रांम अधार॥

निरञ्जन की और भी अधिक स्पष्ट व्याख्या इन शब्दों में हुई है—

गोव्यदे तूं निरंजन तूं निरंजन राया।
तेरे रूप नांहीं रेख नांहीं, मुद्रा नहीं माया॥

\+ \+ \+

तेरी गति तूंही जांनें, कबीरा तो सरनां ।

इस पद में यह तो स्पष्ट है कि कबीर का गोविन्द या राम निरञ्जन-स्वरूप है किन्तु यह भी स्पष्ट है कि उससे बौद्धों के शून्यवाद की प्रतिपत्ति किसी भी प्रकार नहीं होती। उपनिषदों के 'नेति-नेतिवाद' के स्वर में कबीर ने भी लौकिक रूपादि की सीमाओं में अपने राम का निषेध कर दिया है किन्तु इससे वह असत् सिद्ध नहीं होता, प्रत्युत उसकी अनादिता, अनन्तता, व्यापकता और शक्तिमत्ता ही सिद्ध होती है और इन सब का समाहार कबीर को विस्मित एवं मुग्ध करके उस (परमात्मा) की शरण में जाने की प्रेरणा देता है।

जीवन के जिस लक्ष्य की सिद्धि की कामना आस्तिक्य को दृढ़ करती है वह है—आत्मा परमात्मा का मिलन। परमास्तिक के लिए अथवा ऐसे आस्तिक के लिए जिसकी साधना रहस्यमयी है वह मिलन या ऐक्य मानव-चेतना की सर्वोच्च अधिगति है। युवा एवं वृद्ध, धनी एवं निर्धन—सब इसी ओर प्रेरित हैं। उस प्रेरणा के मूल में एक विशेष आवश्यकता निहित है, वह यह कि धन, शक्ति, वंश—किसी से शान्ति नहीं मिल सकती। शान्ति उक्त ऐक्य में है। रहस्य-साधक का दृष्टिकोण उस भौतिकतावादी का-सा नहीं जो सत्कर्म को मिथ्या और भोग को वास्तविक समझता है और जिसकी दृष्टि में जीवन ही जीवन का लक्ष्य है; इसलिए वह मनोवेगों और मनोवृत्तियों के संयमन की कोई आवश्यकता नहीं समझता क्योंकि इनको वह मनुष्य के लिए प्रकृति का सहज वरदान मानता है। जीवन के सम्बन्ध में यह पाशविक दृष्टिकोण है। अपने व्यक्तित्व को पहचानने और उसकी पूजा करने में कोई हानि नहीं है, किन्तु यदि मैं अपने-आपको नहीं जान सकता हूँ तो मैं उसका निषेध भी नहीं कर सकता और न अंध-भाग्य को विश्वनियंता ही मान सकता हूँ। अनुभव से मुझ को यह विश्वास होना चाहिए कि मेरा निर्णय सही है। इसी से खोज की आवश्यकता है। आत्मा-परमात्मा के स्वभाव को जानने की एक तृषा, एक लगन मनुष्य में होनी चाहिए। हमारे जन्म से ही हममें एक दिव्य अतृप्ति की भावना ने घर कर लिया है और वह हमें उस समय तक न छोड़ेगी जब तक कि हम जीवन की समस्या को हल न कर लें।

मनुष्य चिन्तनशील है और लक्ष्य पर पहुँच कर उसके चिन्तन को विराम मिल जाता है। रहस्य-साधक उसी विराम के लिए व्यग्र रहता है। इसी एक शब्द 'विराम' या 'विश्राम' में सारी इच्छाओं का सार निहित है। मार्क्स ऑरीलियस का यह कहना कुछ अर्थ रखता है कि परिवर्तन की लहरें उमड़ती चली जाती हैं। जो उन पर विचार करता है वह सब नश्वर एवं सान्त वस्तुओं को घृणा की दृष्टि से देखता है। हमें केवल अनन्तता ही, शान्ति के (सान्तता नहीं) प्रदेश में ले जा सकती है। यह आवश्यकता हमारी आस्तिकता को और भी दृढ़ करती है। इस भव-तृषा के उपशम के लिए 'राम-रस' की आवश्यकता को कबीर इस प्रकार पुष्ट करते हैं :—

राम उदक जिह जन पिया तिह बहुरि न भई पियास।

कबीर की यह आस्तिकता उनके प्रेम के लिए भूमि प्रस्तुत करती है। जिस पाठक ने उनकी वाणी में केवल उनके क्षुब्ध स्वरूप को ही देखा है वह उनके मुग्ध स्वरूप की कल्पना कदापि नहीं कर सकता। जिन्होंने कबीर को पूर्णरूप में नहीं देखा वे ही उनको अन्तर में राम को खोजता हुआ देखते हैं और वे इस संदर्भ को भुला देते हैं कि कबीर ऐसा कब करते हैं। वे लोग उनके 'लाल की लाली' को सर्वत्र छाया हुआ नहीं देखते। यह ठीक है कि कबीर की वाणी में सर्वत्र एक भावुक का स्वर सुनाई नहीं पड़ता, किन्तु भावुकता उनमें है ही नहीं, यह कहना कबीर के साथ अन्याय होगा। कबीर की वाणी में रूखापन भी है और सरसता भी, क्षोभ भी है और मस्ती भी, विरक्ति भी है और प्रेम भी। सामाजिक कुत्साओं और कुंठाओं के प्रति उनकी वाणी में तिक्तता मिलती है किन्तु समता, दया, प्रेम आदि की खोज उसकी पृष्ठभूमि में की जा सकती है। मनोवैज्ञानिकों का कहना है कि सच्चे और स्पष्टवादी व्यक्ति की वाणी में तीखेपन का होना कोई अनहोनी बात नहीं है किन्तु उसके पीछे सरस भूमि अवश्य होती है और तीखापन वहीं से प्रेरणा लेता है। मानव-कल्याण से ओत-प्रोत कबीर का हृदय मानव-प्रेम से सरसित था, इसमें आश्चर्य की क्या बात है? कबीर के इस प्रेम की चरम परिणति विश्व-प्रेम में होती है। इसी कारण कबीर का राम व्यष्टि में भी है और समष्टि की अभिव्यक्ति में भी—

दिल ही खोजि दिलै दिल भीतरि, इहां रांम रहिमांनां।
× × × ×
जेती औरति मरदां कहिये, सब मैं रूप तुम्हारा॥

एक अन्य पद में कबीर ने अद्वैत की प्रतिष्ठा करके उसको आनन्दमूल कहा है और इस प्रकार अपने आकर्षण को व्यक्त किया है :—

आकास गगन पाताल गगन, दसौं दिसा गगन रहाई ले।
आंनंदमूल सदा परसोतम, घट बिनसै गगन न जाई ले॥
हरि मैं तन है तन मैं हरि है, ...।

'हरि मैं तन है तन मैं हरि है' कह कर कबीर ने मानो गीताकार की वाणी को ही दुहराया है।

कहने की आवश्यकता नहीं कि कबीर की आस्तिकता ने प्रेम को मनोहर भूमि प्रदान की है। उसी प्रेम-भूमि पर कबीर की रहस्य-साधना का भव्य भवन बना है जिसका योगपरक रूप प्रेम-विहीन नहीं है। बहुत ही कम ऐसे स्थल हैं जहाँ कबीर का साधनात्मक रहस्यवाद प्रेम को प्रश्रय नहीं देता। कबीर ने अपने ही शब्दों में अपने योग का सारा भेद खोल दिया है :—

सब जोगत्तण रांम नाम है, जिसका पिंड पराना।
कहु कबीर जे किरपा धारै, देइ सचा नीसाना॥

कबीर योगी किसको कहते हैं, यह कहने की आवश्यकता नहीं; किन्तु उनकी योग-साधना में परमात्मा की सत्ता का प्रमुख स्थान है। जिस योगी की प्रशंसा गीता में की गई है ऐसे ही योगी की सराहना कबीर करते हैं। कबीर की दृष्टि में योग की सारी चर्या का लक्ष्य परमात्मा की प्राप्ति है और उसी से योगी का उद्धार होता है :—

पवन पति उनमनि रहनु खरा। नहीं मिसु न जनमु जरा।
उलटी ले सकति संहारं। फैसी ले गगन मंझारं॥
× × × ×
जब कुंभकु भरिपुरि जीना। जब बाजे अनहद बीना।
बकतै बकि सबद सुनाया। सुनतै सुनि माल बसाया॥
करि करता उतरसि पारं। कहै कबीरा सारं॥

यह ठीक है कि कबीर ब्रह्म-द्रष्टा थे, किन्तु उन्होंने ब्रह्म को रसरूप में ही देखा था। वह ज्योतिर्मय भी है और मोहक भी। वह निर्गुण है, पर साथ ही अनुग्रही भी। उनका राम अवतार नहीं है, वह अरूप भी प्रिय है। वह भक्त-वत्सल और भक्ति-वश्य है। इसलिए उन्होंने कहा—'जो लोग तर्क से तत्त्व की द्वैतता सिद्ध करना चाहते हैं उनकी बुद्धि मोटी है। यहाँ यह भ्रम न हो जाना चाहिए कि कबीर की साधना में बुद्धि को कोई स्थान नहीं है। यह अन्यत्र कहा जा चुका है कि कबीर प्रौढ़ बुद्धिवादी थे किन्तु लोक-क्षेत्र में; समाज, धर्म आदि के सम्बन्ध में, अपने प्रिय से मिलने में नहीं। वे तो अपने प्रिय (राम) को प्रेमवश्य मानते हैं क्योंकि वह प्रेम से ही प्राप्य है। उस प्रिय के लिए वे बड़े तड़पते हैं। 'कब देखूं मेरे राम सनेही, जा बिनु दुख पावै मेरी देही'—कह कर कबीर ने न केवल अपनी विरह-व्याकुलता का ही परिचय दिया, प्रत्युत राम की स्नेहशीलता की ओर भी संकेत किया है।

कबीर को यह विश्वास था कि राम के बिना वे असहाय हैं और यह जानकर उनका साहस उद्बुद्ध होता था कि वह प्रेमवश्य हैं। इसीलिए उन्होंने हरि-प्रेम को इतना महत्त्व दिया है—

कबीरा प्रेम की कूल ढरै। हमारै रांम बिना न सरै॥

इससे स्पष्ट है कि कबीर राम-प्रेम की ओर इसलिए प्रवृत्त होते हैं कि राम प्रेम से वश में हो सकता है—वह राम जिसके बिना कबीर का निर्वाह कदापि नहीं हो सकता। उस राम-रस को पीकर उनको जो उपलब्धि हुई उसे वे अन्य मनुष्यों के लिए भी अर्हणीय समझते हैं, किन्तु उन लोगों के प्रयत्नों का अभाव कबीर को खलता है:—

दास कबीर प्रेम-रस पाया, पीवणहार न पाऊं।
बिधना बचन पिछांणत नाहीं, कहु क्या काढ़ि दिखाऊं॥

प्रेम या भावना कबीर की आध्यात्मिक साधना का दूसरा महत्त्वपूर्ण गुण है। गीता में तो भगवत्प्राप्ति का मूलमंत्र ही प्रेम है। उपनिषदों ने भी प्रेम के महत्त्व का ही प्रतिपादन किया है। गीता ने भगवत्प्राप्ति के प्रमुख साधनों में भक्ति को अवश्य समाविष्ट किया है, अन्य सब साधन प्रेम-गर्भित हैं। कृष्ण की

इस उक्ति से यह स्पष्ट है—

मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः सङ्ग-वर्जितः।
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव ॥

कबीर को भी यह विश्वास हो गया था कि उनका राम प्रेम या भाव से ही प्राप्तव्य है। इसी कारण उनकी वाणी में स्थान-स्थान पर भाव या प्रेम की गरिमा का गान हुआ है। 'चतुराई रीझै नहीं, रीझै मन कै भाइ' कह कर कबीर ने भाव या प्रेम के गौरव को अभिव्यक्त कर दिया है। राम के प्रति कबीर का प्रेम-भाव ही उन्हें यह कहने के लिए प्रेरित करता है—

पुर पाटण सूवस वसै, आनंद ठांयें ठांइ।
रांम सनेही बाहिरा, ऊजँड मेरे भाइ ॥

इसीलिए कबीर की दृष्टि में उस रानी का कोई मूल्य नहीं जो लौकिक भोग-विलास में लीन है। उसकी अपेक्षा राम-भक्त पनिहारी कहीं अच्छी है :—

क्यूं नृप नारी नींदिये, क्यूं पनिहारी कौं मान।
वा मांग संवारै पीव कौं, वा नित उठि सुमिरै रांम ॥

जिसको वास्तव में हम भक्त कह सकते हैं, वह अनन्य प्रेम के महत्त्व का ही प्रतिपादन करता है। नारद ने 'सा तु परम-प्रेमरूपा' कह कर इसी 'अनन्यता' को प्रतिष्ठित किया है और महात्मा तुलसीदास के शब्दों में भी अनन्य प्रेम की याचना की गई है। वे कहते हैं :—

कामिय नारि पियारि जिमि, लोभिय प्रिय जिमि दाम।
तिमि रघुनाथ निरंतर, प्रिय लागहु मोहि राम ॥

कामी और लोभी का आकर्षण अटूट होता है। इसी अटूट प्रेम की याचना तुलसीदास के शब्दों में प्रकट हुई है। कबीर को भी इसी प्रकार का अटूट प्रेम रुचिकर था। इसीलिए नारी के प्रति कामी के सम्बन्ध की गहनता को वे राम के प्रति अपने सम्बन्ध में प्रतिष्ठित करने की बात पर जोर देते हुए कहते हैं—

काम मिलावै राम सूं, जो कोई जानै राखि।
कबीरा विचारा क्या करै, जाकी सुखदेव बोलें साखि ॥

यह माना जा सकता है कि कबीर दाम्पत्य-प्रेम पर विशेष जोर देते हैं किन्तु

यह नहीं कहा जा सकता कि वे इस प्रेम की स्थिति प्रत्येक मानव-हृदय में स्वीकार करते हैं। राम-प्रेम के लिए सात्त्विक हृदय की आवश्यकता है और यह सात्त्विक शुद्धता केवल प्रयत्नाश्रित नहीं है अपितु इसमें प्रारब्ध और क्रियमाण कर्मों का योग भी होता है। इसी विश्वास को व्यक्त करते हुए कबीर कहते हैं—

कुछ करनी कुछ करमगति, कुछ पुरबला लेख।
देखौ भाग कबीर का, दोसत किया अलेख॥

कबीर की साधना में कर्म का एक विशेष स्थान दीख पड़ता है। अन्डरहिल ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'मिस्टिसिज्म' में 'रहस्य-साधना' के अन्तर्गत कर्म का विशेष विवेचन किया है। सभी रहस्य-साधक कर्म को महत्त्व देते हैं किन्तु वे 'फलासक्ति' का निषेध करते हैं। कर्म में फलासक्ति आते ही वह सुख-दुःख का कारण बन जाता है जो भगवत्प्रेम की अनन्यता को बाधित करता है। इसीलिए कर्म पर जोर देते हुए भी कबीर की अनासक्ति स्पष्ट है—

नां कुछ किया न करि सक्या, नां करणें जोग सरीर।
जे कुछ किया सु हरि किया, तार्थं भया कबीर कबीर॥

इससे कबीर का दुहरा भाव स्पष्ट होता है—एक तो अनासक्ति भाव, और दूसरा ईश्वर की शक्ति, जिसमें उसकी कृपा का भी समावेश होता है। ईश्वर की शक्ति की अभिव्यक्ति कबीर-वाणी में एक अन्य स्थान पर और देखिए—

सांई सूं सब होत है, बंदे थैं कुछ नांहि।
राई थैं परवत करै, परवत राई मांहि॥

कर्मों में अपनी शक्ति होते हुए भी भगवदिच्छा के सामने वे घुटने टेक देते हैं। इसीलिए अनासक्ति-भाव की आवश्यकता प्रकट की गई है। जिस प्रेमोदय की चर्चा की जा रही है, उसमें भगवत्कृपा का अमोघ महत्त्व है। फिर भी प्रिय के मार्ग का जानना आवश्यक है, और उससे भी पहले प्रेम की ज्वाला को उद्दीप्त करना आवश्यक है। इस काम को गुरु ही सम्पन्न करता है। रहस्य-साधना में गुरु का विशेष स्थान है। भारतीय भक्ति-पद्धति में तो गुरु का और भी ऊँचा स्थान है। संत-मत ने गुरु को विशेष रूप से पुरस्कृत किया है। कबीर इस जीवन में प्रेम को एक अनिवार्य क्रीड़ा मानते हैं। इसके बिना उद्धार नहीं

है और प्रेम की बाजी में सफल होना सरल काम नहीं है। केवल वे ही लोग सफल होते हैं जो गुरु के बताये हुए दाव को अच्छी तरह समझ कर चाल चलते हैं। यह दाव वह मार्ग है जिसे भुलाकर रहस्य-साधक बाजी नहीं जीत सकता। इसीलिए कबीर बड़ी मुस्तैदी से कहते हैं :—

पासा पकड़्या प्रेम का, सारी किया सरीर।
सतगुरु दाव बताइया, खेलै दास कबीर॥

प्रेम-सृजन, प्रिय-सन्देश, तथा प्रेम-मार्ग-दर्शन—ये तीन प्रमुख कार्य कबीर ने गुरु से सम्बन्धित किये हैं। शिष्य में प्रेम को अंकुरित करने वाला गुरु ही है। 'अनन्त' का साक्षात्कार करनेवाले 'अनन्त लोचन' को गुरु ही खोलता है—

सतगुर की महिमा अनंत, अनंत किया उपगार।
लोचन अनंत उघाड़िया, अनंत दिखावणहार॥

'प्रेम का अंक' पढ़ा कर गुरु अपने शिष्य को तैयार कर देता है। प्रियतम के सन्देश को जानने के लिए आतुरता का उदय हो जाता है और फिर यह दशा हो जाती है—

विरहनि ऊभी पंथसिरि, पंथी बूझै धाइ।
एक सबद कहि पीव का, कबर मिलैंगे आइ॥

इसी अवसर पर गुरु प्रियतम का सन्देश-वाहक बन जाता है और परिणाम में प्रेमोद्बुद्धि होती है, विरहाग्नि प्रबल होती चली जाती है, तब स्पष्ट शब्दों में इस सन्देश को भेजने के लिए विवश होना पड़ता है—

अंदेसड़ा न भाजिसी, संदेसी कहियां
कै हरि आयां भाजिसी, कै हरि ही पासि गयां।

जब मिलन की ये दोनों युक्तियां असफल दीख पड़ती हैं तब एक निराशा की वाणी फूट पड़ती है—

आइ न सकौं तुझ पैं, सकूं न तुझे बुलाइ।
जियरा यौंही लेहुगे, विरह तपाइ तपाइ॥

'कामना' और 'मिलन' की एकता की कुंजी गुरु के पास है। गुरु ही तो शिष्य को अलौकिक सौन्दर्य की भावना से भर देता है और वही उसकी झांकी

दिखाता है और देख कर वह कहता है—

कबीर देख्या एक अंग, महिमा कही न जाइ।
तेज पुंज पारस धणीं, नैनूं रह्या समाइ॥

उसके प्रभाव का कबीर इन शब्दों में वर्णन करते हैं—

हरि संगति सीतल भया, मिटी मोह की ताप।
निस बासुरि सुख निध्य लह्या, जब अंतरि प्रगट्या आप॥

इस स्थिति में गुरु के आभार को स्वीकार करते हुए कबीर कहते हैं—

थिति पाई मन थिर भया, सतगुर करी सहाइ।
अनिन कथा तनि आचरी, हिरदै त्रिभुवन राइ॥

राम के सम्बन्ध में जो सन्देश शिष्य को गुरु से प्राप्त होता है उससे एक ही साथ दो काम होते हैं—एक तो, मल का निवारण होकर अन्तर ज्योतिर्मय होता है और दूसरे, विरह-व्यग्रता तीव्र होती है। कबीर इन दोनों को महत्त्व प्रदान करते हैं। सन्देश का मूल्यांकन करते हुए वे कहते हैं—

जानी जानी रे राजा राम की कहानीं।
अन्तर ज्योति रांम परकासा, गुरमुख बिरलै जानी॥

और विरह की प्रशंसा में वे कहते हैं—

बिरहा कहै कबीर सों, तूं जिनि छांड़ै मोहि।
पार ब्रह्म के तेज में, तहां लै राखौं तोहि॥

कबीर की रहस्य-साधना का चौथा तत्त्व 'मार्ग' है। कबीर ने इसको 'सहज मार्ग' कहा है। कबीर का 'सहज मार्ग' उस साधना का विरोध करता है जिसमें अनेक अप्राकृतिक उपायों से इन्द्रियों का दमन करने की चेष्टा की जाती है। कबीर की साधना 'दमन' को स्वीकार नहीं करती, 'शमन' चाहती है। इसी लिए वे कहते हैं—

सहज-सहज सबको कहै, सहज न चीन्है कोइ।
पांचूं राखै परसती, सहज कहीजै सोइ॥

'सहज' हरि-प्राप्ति का सरलतम मार्ग—

सहज-सहज सबको कहै, सहज न चीन्है कोइ।
जिन्ह सहजैं हरिजी मिलै, सहज कहीजै सोइ॥

कबीर का यह 'सहज मार्ग' अध्यात्म-मार्ग है। यह मार्ग अगम है। जहाँ मुनिजन नहीं चल सके और जहाँ पवन एवं मन तक नहीं चल सकते, वह कबीर का मार्ग है। इस मार्ग में गिरने का खतरा है—

जन कबीर का सिपर घर, बाट सलैली सैल।
पाव न टिकै पिपीलका, लोगनि लादे बैल॥

उस मार्ग पर चलना कोई सहज काम नहीं है किन्तु अनन्य प्रेमियों के लिए यह कठिन भी नहीं है। जो गम्य को जानते हैं और जिनके पास प्रेम का सम्बल है वे ऐहिक अन्तरायों से घबराते नहीं हैं और न वे किसी पगडंडी का सहारा लेने का प्रयत्न करते हैं क्योंकि वहां कोई पगडंडी नहीं पहुँचती। जो लोग पगडंडियाँ खोजते हैं वे भ्रान्त हैं। वे अपने लक्ष्य को नहीं जानते। कबीर ने अपने मार्ग को मध्यमार्ग भी कहा है। वे यह अच्छी तरह समझते हैं कि दो घोड़ों पर एकसाथ सवार होना सम्भव नहीं है। जो लोग लोक-मार्ग और आत्म-मार्ग, दोनों पर आरूढ़ रहना चाहते हैं, वे लक्ष्य पर नहीं पहुँच पाते; इसी संसार में डूब जाते हैं—

दुहु दहु अंग सूं लागि करि, डूबत है संसार।

किस मार्ग को अपनाना चाहिए और क्यों? इसकी व्याख्या कबीर इन शब्दों में प्रस्तुत करते हैं—

कबीर दुविधा दूरि करि, एक अंग ह्वै लागि।
यहु सीतल वहु तपति है, दोऊ कहिये आगि॥

दुर्बल मनुष्य इस पर नहीं चल सकता। इसीलिए उपनिषद् ने उसे चेतावनी दी है। इसी स्वर में कबीर ने आत्म-सम्बोधन करते हुए कहा है—

कबीर हसणां दूरि करि, करि रोवण सौं चित्त।
बिन रोयां क्यूं पाइये, प्रेम पियारा मित्त॥

प्रिय-मिलन का मार्ग हँसी-खेल नहीं है। प्रिय हँसने से नहीं मिलता। यदि वह किसी को मिला है तो रोनेवाले को—

हँसि-हँसि कंत न पाइए, जिनि पाया तिनि रोइ।
जे हांसें ही हरि मिलै, तौ नहीं दुहागनि कोइ ॥

जिन बाह्य मार्गों (उपायों) से मनुष्य उस प्रिय को खोजता है उनसे वह नहीं मिलता। कबीर का 'सहज मार्ग' अन्तर का मार्ग है जो दमन का मार्ग नहीं है, शमन का मार्ग है। जब तक मन की भौतिक सत्ता रहती है तब तक 'सूक्ष्म मार्ग' का निर्माण नहीं हो सकता। इन्द्रिय-विषयों के सम्बन्ध से यह मन पल-भर में करोड़ों कर्म करने की शक्ति रखता है। जो मन अपनी चंचलता की दशा में मनुष्य का नाशक होता है वही अपनी शान्तावस्था में परमात्म-स्वरूप हो जाता है—

मन गोरख मन गोविंदो, मन ही औघड़ होइ।
जे मन राखै जतन करि, तौं आपैं करता सोइ ॥

इस मन का शमन कबीर का मुख्य मार्ग है और यह शमन 'प्रेम' से बहुत सरल होता है। योग और ज्ञान को भी लोगों ने मन को शान्त करने का साधन माना है और कबीर भी उन साधनों का निषेध नहीं करते, किन्तु वे उन में प्रेम का समावेश आवश्यक मानते हैं; अतएव यह कहना ही अधिक समीचीन होगा कि कबीर मन को प्रेम में डुबा कर अपना करने की बात करते हैं। कबीर का विश्वास है कि दिये बिना मन मिलता नहीं है—

मन दीयां मन पाइए, मन बिन मन नहीं होइ।
मन उनमन उस अंड ज्यूं, अनल अकासां जोइ ॥

मन बड़ी लम्बी-चौड़ी छलांगें भर कर साधक के वश से बाहर निकल जाता है। कबीर उसे प्रेम में विभोर करके वशवर्ती कर लेते हैं—

पाणीं हीं तैं पातला, धूंवा हीं तैं झीण।
पवनां बेगि उतावला, सो दोसत कबीरैं कीन्ह ॥

दोस्त होने पर अति चंचल वह मन विषयों का आधार छोड़कर, निर्वृत्ति होकर निराधार अवस्था में स्थिर हो जाता है और वहीं साधन, साधक और साध्य एकरूप हो जाते हैं—

मनवां तौ अधर वस्या, वहुतक झीणां होइ।
आलोकत सचु पाइया, कवहूं न न्यारा सोइ॥

यदि स्वार्थ ईश्वरार्थ में परिणत हो जाये तो समझना चाहिए कि मन का शमन हो गया या मन ईश्वर-विभोर हो गया। जव तक वह 'स्वार्थ' में लगा हुआ है तब तक उसकी वृत्तियों का नाश नहीं होता। कबीर 'मम' की परिणति 'तव' में चाहते हैं और उसी परिणति में उनका लक्ष्य निहित है। इसीलिए वे कहते हैं—

ज्यूं मन मेरा तुझ सौं, यौं जे तेरा होइ।
ताता लोहा यौं मिलै, संधि न लखई कोइ॥

कबीर के साधन-पथ में परमात्मा के साथ मन को इस प्रकार मिलाने की बात कही गई है जिस प्रकार गर्म लोहे की संधि से संधि मिला दी जाती है, कोई अन्तर नहीं रहता। इस स्थिति को वे प्रेम-विहीन नहीं मानते। जब मन की यह स्थिति होती है तब वह 'राम-रस' से छका होता है और उसे रामेतर कोई भी वस्तु नहीं भाती।

मन मतिवाला पीवै रांम रस, दूजा कछू न सुहाई।
× × ×
दास कवीरा इहि रसि माता, कबहूं उछकि न जाई॥

कबीर के 'सहज मार्ग' में 'जाप' का भी स्थान है किन्तु उस जाप का नहीं जिसे सब 'जाप' कहते हैं। कबीर का जाप तो 'अजपा जाप' है जिसमें न माला होती है, न जीभ हिलती है, किन्तु प्रत्येक 'श्वास-प्रश्वास' में 'अजपा' की लहर उठती है। अजपा में सुरति का योग रहता है।

मन के दो मार्ग हैं—अधोगमन और ऊर्ध्व-गमन। अधोगति की दशा में वह वासनाओं में दौड़ता-फिरता है और ऊर्ध्व-गमन की दशा में वह वासनाओं को छोड़ देता है क्योंकि उसके गले में प्रेम की रस्सी बंध जाती है। जो उसे ईश्वराभिमुख खींचती रहती है। चरमोन्नत दशा में मन ईश्वर रूप हो जाता है और उस समय वह प्रेमी, प्रिय और प्रेम से अभिन्न हो जाता है।

रहस्य-साधना की प्रेरणा में सुख-दुःख का भी बहुत वड़ा हाथ है। आत्म-प्रकाश की स्थिति में दुःखों के आगमन में मुक्ति दिखाई पड़ती है। दुःखागम को

साधक बाधा नहीं मानता, अपितु परमात्मा का वरदान मानकर अपने प्रेम को अधिकाधिक दृढ़ करता है। साधक दुःख में अपनी परीक्षा के रूप को देखता है और बड़ी दृढ़ता से उसका सामना करता है। वह दुःख-सुख से निर्लिप्त होकर आनन्दमय रहता है—

दुखिया मूवा दुख कों, सुखिया सुख कौं झूरि।
सदा अनंदी रांम के, जिनि सुख दुख मेल्हे दूरि॥

कोई भी हलचल, कोई भारी क्षति अथवा कोई भी अप्रत्याशित हर्ष साधक को प्रेरणा तथा प्रकाश देते हैं। इन्हीं विषम क्षणों में परमेश्वर की झलक दिखाई देती है और भक्त अपने-आपको कृतकृत्य मानता है। बेनेट का कहना ठीक ही है कि "जिसको हम जीवन में दुःख कहते हैं वह हमारा दृष्टिकोण है, वस्तुतः दुःख नाम की कोई वस्तु है ही नहीं।" मैडम गुयन निर्धनता को वरदान मानती थीं। उनका कहना था कि "निर्धनता और क्षति आनन्द-स्वरूप हैं। बुराई ही भलाई को खोज कर ले आती है। मधुर और कटु दोनों झरनों का एक ही स्रोत है। देव और दानव दोनों का निवास परमात्मा में ही है, फिर एक से प्रेम और दूसरे से घृणा क्यों" ?

वास्तव में समझना तो यह चाहिए कि द्वन्द्वों की सृष्टि समझौते के लिए होती है। जो लोग समझौता करने के बजाय सुख में प्रसन्न और दुख में विषण्ण होकर बीच की खाई को चौड़ा कर देते हैं, वे भ्रान्त हैं। इसीलिए कबीर 'समता' या 'समरसता' का उपदेश देते हैं—

सीतलता तब जांणियें, समिता रहै समाइ।
पष छांड़ै निरपष रहै, सबद न दूष्या जाइ॥

उस क्षमता की दशा में कबीर पर सुख-दुःख, शब्द-कुशब्द आदि द्वन्द्वों का प्रभाव नहीं पड़ता। वे निर्लिप्त रहते हैं—

कबीर सीतलता भई, पाया ब्रह्म गियान।
जिहि बैसंदर जग जल्या, सो मेरे उदिक समांन॥

कबीर मुक्ति की व्यवस्था आत्मा-परमात्मा के मिलन में करते हैं। उनकी दृष्टि में जीवन अविरल मरण है जब तक कि हम ईश्वर के सामने न आजायें।

इसी से रहस्य-साधक का प्रेम कष्ट के क्षणों में अधिक गम्भीर और प्रबल हो जाता है।

कबीर की वाणी में भावात्मक और साधनात्मक, दोनों स्वर झंकृत होते हैं। कबीर की भावात्मक स्वर-लहरियां बड़ी तीव्र और गम्भीर हैं और उन्हीं में वस्तुतः सुन्दर कवि-वाणी का स्फुरण हुआ है। उनकी वाणी का साधनापक्ष भी अपनी विशेषता रखता है। उनकी योग-चर्या परम्परागत नहीं है, उसमें अनुभव-कृत संशोधन है और वह प्रेम की धरा पर प्रतिष्ठित है।

भावात्मक साधना के सूक्ष्म और स्थूल, दो रूप हैं। पं० रामचन्द्र शुक्ल ने 'माधुर्यभाव' का सम्बन्ध' सूक्ष्म रूप से जोड़ा है जो उपयुक्त भी है। उन्होंने पिता, स्वामी आदि की सम्बन्ध-भावना को स्थूल रूप के अन्तर्गत समाविष्ट किया है। भारतीय भक्ति-परम्परा की साधना उभय-मार्गी है। उपनिषदों ने निर्गुण की ओर संकेत किया किन्तु वैष्णवों की सगुणोपासना समष्टिगत रही। भागवत-धर्म की भक्ति-पद्धति सगुणपरक होती हुई भी रहस्य-भावना की प्रेरक सिद्ध हुई। इसलिए भागवत-धर्म से प्रेरणा लेकर यहां के कुछ भक्तों ने कृष्ण के लोक-संग्रही रूप के स्थान पर उन्हें प्रेम की मूर्ति बना लिया और उनकी भावना ऐकान्तिक हो गई। इस पद्धति में गोपी-प्रेम का अनुकरण था जिसमें ऐकान्तिकता और रूप-माधुर्य का पुरस्करण था। प्रियतम के रूप में भगवान् की भावना भक्त के व्यक्तिगत सम्बन्ध पर आश्रित होकर रहस्यात्मक रूप में प्रवृत्त हो गई। फ़ारस में प्रेमाश्रयी सम्बन्ध-साधना का अति प्रचलन था। सूफ़ियों ने इस पद्धति को पूर्ण प्रोत्साहन दिया किन्तु उनकी साधना 'माधुर्य-भाव' की साधना से कुछ भिन्न रही। 'माधुर्य-भाव' की साधना में साधक 'विरहिणी' के रूप में अपनी व्यंजना करता है किन्तु सूफ़ी-साधना में वह 'विरही' के रूप में ही प्रकट होता है। सूफ़ी-साधना को वास्तव में विरह-साधना कह सकते हैं। इसकी विशेषता है विरह की तीव्रता। कबीर ने अपने में 'विरहिणी' का आरोप करके उसमें सूफ़ियों की विरह-तीव्रता की प्रतिष्ठा कर दी। कबीर-द्वारा प्रेरित 'माधुर्य-भाव' की उपासना भारतीय भक्ति-परम्परा में भी समाविष्ट हो गई। चैतन्य महाप्रभु में सूफ़ियों की प्रवृत्तियाँ स्पष्टतः दृष्टिगोचर होती हैं। उनकी भक्त-मंडली

ने जिस मूर्च्छा को अपनाया वह रहस्य-साधक सूफ़ियों की रूढ़ि है।

कबीर की भावात्मक साधना में भारतीय भक्ति का भी पुट है और सूफ़ी प्रेम-तत्त्व का भी। इनकी भक्ति की विशेषता यह है कि उसमें ईश्वर के सगुण रूप को मान्यता नहीं मिली। इससे इनकी भाव-साधना में भारतीय भक्ति-तत्त्व और सूफ़ी प्रेम-तत्त्व, दोनों का अभेद मिलन हुआ है। ऊपर यह तो बताया ही जा चुका है कि उन्होंने सूफ़ी प्रेम-तत्त्व को अंश-रूप में ही ग्रहण किया, सर्वांशतः या पूर्णतः नहीं। यही कबीर की उपासना-पद्धति या भाव-साधना की विशेषता है। यहाँ यह कह देना अयुक्त न होगा कि "भक्ति-भाव की अलौकिक भाव-भूमि पर खड़े होने पर निर्गुण सन्त और सगुण भक्त एक ही-सी बात कहने लगते हैं, अतः यह नहीं कहा जा सकता कि सन्तों का रहस्यवादी अनुभव कोई अद्भुत रहस्यानुभव है या कोई 'गुह्य' वस्तु है, अथवा भक्तों को अपनी रागात्मिका भक्ति में उसी प्रकार के अनुभव नहीं होते। भेद केवल रूप का है। भक्तों का आलंबन सरूप है, सन्तों का अरूप। इस भेद के अनुसार उनके अनुभवों और उनके प्रकाशन की भाषा में भी भेद हो जाता है। जहाँ साधना की अन्तिम अवस्था को पहुँच कर सगुण भक्त राम-कृष्ण के अलौकिक सौन्दर्य का वर्णन करता है, वहाँ सन्त को इस प्रकार का अनुभव नहीं होता"। कबीर इस अनुभव को इस प्रकार व्यक्त करते हैं—

अब मैं जांणियौ रे, केवल राइ की कहांणीं।
मंझा जोति राम प्रकासै, गुर गमि वांणी॥
तरवर एक अनन्त मूरति, सुरता लेहु पिछांणी।
साखा पेड़ फूल फल नांही, ताकी अमृत वांणीं॥
पुहप वास भँवरा एक राता, बारा ले उर धरिया।
सोलह मंझै पवन झकोरै, आकासे फल फलिया॥
सहज समाधि बिरप यहु सींच्या, धरती जलहर सोष्या।
कहै कबीर तास मैं चेला, जिनि यहु तरवर पेष्या॥

सूक्ष्म और स्थूल दोनों रूपों में भावना रहती है किन्तु जैसी भाव-तीव्रता और गंभीरता दाम्पत्य में अनुभव की जा सकती है वैसी पुत्र-पिता या सेवक-

सेव्य-भाव में नहीं की जा सकती। दाम्पत्य-भाव में विरह-पक्ष अधिक तीव्र और गंभीर होता है। इसके अतिरिक्त रति-भाव जितनी व्यापकता होती है उतनी अन्य किसी भाव में नहीं होती। रति-भाव प्रत्येक चेतन-प्राणी में सहज है। रति चेतनजगत् की आदिम वासना है। यह एक प्रधान भाव है। शेष सारे स्थायी भाव इसी के परिस्थितिजन्य रूपान्तर हैं। इसीलिए रति के परिपक्वरूप शृंगार को रसराज माना गया है। भिन्न आलंबनों के सम्बन्ध से आश्रयगत भाव का रूप भी परिवर्तित हो जाता है। प्रिय के प्रति मिलन की जो आकांक्षा होती है वैसी पिता के प्रति नहीं होती। यद्यपि मिलन दोनों में लक्षित है किन्तु एक में आलिंगन की आकांक्षा की तीव्रता और दूसरे में श्रद्धा की गंभीरता निहित होती है। संचारियों के अपने-अपने स्वभाव दोनों के अन्तर को और भी स्पष्ट कर देते हैं। दाम्पत्य-भाव में आत्मपरकता को अधिक अवकाश होता है जबकि सेवक-सेव्य-भाव या जन्य-जनक-भाव का आभिमुख्य वस्तु-परकता की ओर होता है।

स्थूल भावात्मक रहस्य-साधना में ईश्वर को प्रायः स्वामी और पिता के रूप में देखा गया है किन्तु कबीर अपने हरि को जननी रूप में भी देखते हैं—

हरि जननीं मैं बालक तेरा, काहे न औगुंण बकसहु मेरा।
सुत अपराध करै दिन केते, जननी कै चित रहैं न तेते॥
कर गहि केस करै जो घाता, तऊ न हेत उतारै माता।
कही कबीर एक बुधि विचारी, बालक दुखी दुखी महतारी॥

इसी प्रकार पुत्र-पिता-भाव को देखिए—

को काहू का मरम न जांनै, मैं सरनागति तेरी।
कहै कबीर बाप रांम राया, हुरमति राखहु मेरी॥

और एक उदाहरण सेव्य-सेवक-भाव का द्योतक भी देखिए—

जाकै रांम सरीखा साहिब भाई।
सो क्यूं अनत पुकारन जाई॥
जा सिरि तीन लोक कौ भारा।
सो क्यूं न करै जन की प्रतिपारा॥

उपर्युक्त सभी उदाहरणों में साधक का ममत्व है जिसमें प्रभु के प्रति श्रद्धा

श्रोर विश्वास निहित है। साथ ही उसकी शक्तिमयी ममता श्रौर रक्षकता की भावना को भी श्रान्दोलित करने का प्रयत्न स्पष्ट है किन्तु भावात्मक सान्निध्य यहाँ भी दिखाई पड़ता है। विस्मरण की बात तो यहाँ भी नहीं उठती—

कहै कवीर मैं तन मन जारचा।
साहिब श्रपनां छिन न विसारचा॥

श्रपनी तीव्र श्राध्यात्मिक श्रनुभति को व्यक्त करने के लिए कबीर ने स्त्री-पुरुष के श्रलौकिक सम्बन्ध का उपयोग किया है। यद्यपि लौकिक प्रेम को प्रतीक रूप में ही ग्रहण किया गया है, किन्तु प्रतीक ने रूपक की सीमाश्रों से निकल कर सब-कुछ होने की चेष्टा की है—

करवतु भला न करवट तेरी। लागु गले सुन बिनती मेरी॥
हौं वारी मुख फेरि पियारे। करवट दे मोकौ काहे की मारे॥
जौ तन चीरहि श्रंग न मोरौं। पिंड परै तो प्रीति न तोरौं॥
हम तुम वीच भयो नहि कोई। तुमहि सुकन्त नारि हम सोई॥

कवीर की रहस्य-भावना में 'निर्गुण' का बहुत बड़ा योग है। इसी के कारण कबीर ने 'भक्ति' श्रौर 'दाम्पत्य-प्रेम' को मिला कर एक नये साँचे में ढाला है। जब वे श्रपने को 'राम की बहुरिया' कहते हैं तब सन्त-साधना के सारे रहस्य का उद्घाटन कर देते हैं। निर्गुण ब्रह्म के प्रति रति-भावना ने ही कबीर की वाणी को रहस्यवादी रूप दिया है जिसमें गंभीरतम श्रासक्ति प्रकट हुई है। इसके श्रतिरिक्त इसमें श्रौर किसी प्रकार की खोज करना व्यर्थ होगा। जिस प्रकार ऊपर के पद में कबीर की श्रासक्ति की तीव्रता प्रकट हो रही है उसी प्रकार श्रधोलिखित उदाहरण में भी देखिए—

हरि मेरा पीव मैं हरि की बहुरिया।
रांम बड़े मैं छुटक लहुरिया॥
किया स्यंगार मिलन कै तांई।
काहे न मिलौ राजा रांम गुसांई॥

एक-दो स्थल ऐसे भी दृष्टिगोचर हुए हैं जहां कबीर ने विरहासक्ति तो प्रकट की है किन्तु दाम्पत्य-सम्बन्ध नहीं निखारा है, वहां माधुर्य-भाव दब-सा

गया है। इसे कबीर की असावधानी कहना उचित होगा या तन्मयता—ऐसी तन्मयता जिसमें नियम या सिद्धान्त टूट जाते हैं क्योंकि भावातिरेक से बुद्धि अभिभूत हो जाती है। कबीर की वाणी सब-कुछ होते हुए भी प्रेमाभिव्यञ्जना में उनके हृदय की भाषा है, जहां बुद्धि अनुभूति की केवल भारवाहिका होकर रह गई है। जो कबीर एक स्थान पर विरहिणी के वेश में प्रकट होते हैं वही दूसरे स्थान पर 'हो बलियां कब देखोंगा तोहि' कह कर आलोचक को विस्मित कर देते हैं। फिर भी आसक्ति में कोई न्यूनता नहीं दिखाई पड़ती। विरह में वही गम्भीरता, वही व्याकुलता और वही तीव्र मिलन-कामना है—

बहुत दिनन के बिछुरे माधौ, मन नहीं बांधै धीर।
देह छतां तुम्ह मिलहु कृपा करि, आरतिवंत कबीर ॥

यह है कबीर के विरह-निवेदन की एक बड़ी विशेषता जिसमें सम्बन्ध भी डूब जाता है। विरह-निवेदन कबीर का लक्ष्य नहीं है, लक्षणमात्र है। विरह के आगे ही तो मिलन है और वही कबीर का लक्ष्य है। विरह का सम्पूर्ण उत्स उसी मिलन-सागर की ओर उन्मुख है। वियोग ने कबीर को एक बड़ी भारी वस्तु प्रदान की है और वह है, देह। यह देह प्रिय से मिलने के लिए मिली है अतएव देह मिलन का सर्वोत्कृष्ट साधन है जिसको सगुण भक्तों ने भी स्वीकार किया है। कबीर की मिलन-कामना में परिपूर्ण ऐक्य का संकेत है और उनका विरह-निवेदन संयोग-कामना से प्रेरित है। कबीर का विरह आसक्ति से और प्रिय कृपाशक्ति से लक्षित है—

वै दिन कब आवैंगे माइ।
जा कारनि हम देह धरी है, मिलिबौ अंग लगाइ।
हौं जांनूं जे हिलमिल खेलूं, तन मन प्रांन समाइ ॥
या कामना करौ परिपूरन, समरथ हो रांम राइ ॥

कबीर के आध्यात्मिक मिलन की कामना में लौकिक अनुभूति का समग्र संभार प्रस्तुत है। गोपनीय अनुभूति कबीर के कण्ठ में पावन पद पर प्रतिष्ठित हुई है—

सब को कहै तुम्हारी नारी, मोकों इहै अंदेह रे।
एकमेक ह्वै सेज न सोवै, तब लग कैसा नेह रे ॥

कबीर की भावाभिव्यञ्जना में दाम्पत्य भाव का जो स्वरूप मिलता है उसमें संयोग और वियोग, दोनों पक्ष बड़े सुन्दर बन पड़े हैं, चाहे संयोग-पक्ष में वियोग-पक्ष की-सी गहराई और तीव्रता नहीं है। यों तो भावातिरेक में साधक उपास्य के साथ किसी भी सम्बन्ध को देखने लगता है किन्तु इन सब में कान्ता-भाव की मधुरता बड़ी मोहक होती है। कबीर ने सभी सम्बन्धों को अपनाते हुए कान्ताभाव के प्रति ही अधिक आकर्षण व्यक्त किया है। वियोग के चित्र जितने मार्मिक ढङ्ग से प्रस्तुत हुए हैं, उनकी वाणी में मिलन के चित्र भी उतने ही सजीव हैं। मिलन के पूर्व की भावनाओं के चित्र जायसी के चित्रों की-सी मौलिकता लेकर प्रकट हुए हैं। ऐसा ही एक चित्र देखिये—

थरहर कपै बाला जीउ, ना जानउ किया करसी पीव।
रैंनि गई मति दिन भी जाय, भंवर गये बग बैठे आय॥

इस पूर्व रंग में बड़ी मधुर प्रतीक्षा प्रस्तुत की गई है जिसको आशंका के पुट ने एक विलक्षण रूप दे दिया है। जायसी और कबीर की तुलना करनेवाले पाठक को कबीर की उक्त वाणी में विशेष ध्वनि, विशेष संकेत और विशेष आध्यात्मिक वातावरण मिलेगा।

उत्कण्ठा और आशंका के पश्चात् 'मिलन' का पदार्पण होता है, संयोगानन्द की अनुभूति होती है। इस अवस्था को व्यक्त करने के लिए साधकों ने अनेक रूपक बाँधे हैं और सम्बन्ध को अधिक स्पष्ट करने के लिए रूपक-योजना आवश्यक भी है। इस रूपक-योजना में कबीर की कला और भावुकता, दोनों का समन्वय है। कबीर के हर्षोन्माद का एक रंगीन चित्र देखिये—

दुलहनीं गावहु मंगलचार,
हम घरि आये हो राजा रांम भरतार।
तन रत करि मैं मन रत करिहूँ, पंच तत बराती।
रांमदेव मोरै पाहुनैं आये, मैं जोबन मैं माती।
सरीर सरोवर बेदी करिहूं ब्रह्मा वेद उचार।
रांम देव संग भांवरि लैहूं, धंनि धंनि भाग हमार।

सुर तेतीसूं कौतिग आये, मुनियर सहस अठ्यासी ।
कहै कबीर हंम व्याहि चले हैं, पुरिष एक अविनासी ।।

मिलन की दशा में हर्षातिरेक का होना स्वाभाविक है किन्तु कृतज्ञता-ज्ञापन भी उस दशा की एक सहज स्फूर्ति होती है जिसमें भाग्य की सराहना के साथ-साथ प्रिय के अनुग्रह का भी द्योतन होता है :—

वहुत दिनन थैं प्रीतम पाये, भाग वड़े घरि वैठें आये ।
+ + +
मैं रनि रासी जे निधि ताई, हमहि कहा यहु तुमहि वड़ाई ।
कहै कवीर मैं कछू न कीन्हां, सखी सुहाग रांम मोहि दीन्हा ।।

कबीर की साधनात्मक अनुभूति में सुहाग-रात का भी बड़ा मनोहर स्थान है। सुहागरात के बिना दाम्पत्य जीवन कैसा ! प्रिय को अंक-पाश में डाल कर मिलना सौभाग्य की चरम स्थिति है। कबीर इस दशा के निमित्त अपने भाग्य की बड़ी सराहना करते हैं। कबीर का मन मधुर-मिलन में डूब जाता है। आनन्द की यह सहजावस्था है जो प्रियतम की परम कृपा का चरम परिणाम है। इसे भारतीय भक्ति-परम्परा में 'भगवदनुग्रह' नाम से अभिहित किया गया है। इस दशा को नायिका स्थायीरूप में चाहती है। किसी भी प्रकार वह प्रियतम को छोड़ना पसन्द नहीं करती। अनुनय-विनय से, अपनी अनेक मनुहारों से वह प्रिय के मन पर जादू डालती है। देखिये—

अव तोहि जान न दैहूं राम पियारे, ज्यूं भावै त्यूं होउ हमारे ।
वहुत दिनन के बिछुरे हरि पाये, भाग वड़े घर वैठे आये ।
चरननि लागि करौं वरियायी, प्रेम प्रीति राखौं उरझाई ।
इत मन मंदिर रहौ नित चोखै, कहै कवीर परहु मत धोखै ।

मिलन दाम्पत्य-भावना की अंतिम सीढ़ी है किन्तु यहाँ भी दो प्रकार की दशाओं की अनुभूतियां होती हैं—एक में साधक प्रिय के साथ सम्पर्क की अनुभूति करता है और दूसरी में तादात्म्य की। यह स्थिति वाणी और मन की पहुँच से बाहर की वस्तु है। इस स्थिति को किसी कवि ने 'आपको पाते वही जो आप को पाते नहीं' कह कर व्यक्त किया है। निकल्सन सूफ़ी साधक के सम्बन्ध

में लिखता हुआ कहता है—जो ईश्वर को जानता है वह मौन हो जाता है। गीता ने भी मौनी को ही सच्चा मुनि बतलाया है। कबीर भी अपनी इसी दशा की ओर संकेत करते हुए कहते हैं—

अविगत अकल अनूपम देख्या, कहतां कह्या न जाई।
सैन करै मनहीं मन रहसैं, गूंगै जांनि मिठाई॥

कबीर के ये शब्द हमें उनकी आनन्दावस्था की झाँकी कराते हैं किन्तु यह चरमावस्था नहीं है। यह वह अवस्था है जिसे कबीर 'सुरति' नाम से अभिहित करते हैं। यह मिलन-जन्य भाव-मग्नता की दशा है। भारतीय साधक तो इससे आगे भी एक अवस्था प्राप्त करता है जो कबीर ने भी प्राप्त की है। उसमें जाकर साधक और साध्य जल में जल के समान मिलकर 'अद्वैत' हो जाते हैं। और कबीर इस अवस्था का वर्णन इस प्रकार करते हैं—

जग मैं देखौं जग न देखै मोहि, इहि कबीर कछु पाई हो।

और वे यह अनुभव करते हैं—

मैं सबनि मैं औरनि मैं हूँ सब।

वास्तव में यह स्थिति बुद्धि के परे की वस्तु है। यहाँ साधक और साध्य में ऐसी एकता आ जाती है कि भेद साधक के सामने ही नहीं आता और वह पूर्ण विश्वास से कह उठता है—

हरि मरिहैं तो हमहूं मरिहैं, हरि न मरे तो हम काहे कू मरिहैं।

इसमें सन्देह नहीं कि सन्त-काव्य की पीठिका रहस्यवाद है किन्तु कबीर का बढ़ाया हुआ पाठ ही उत्तरवर्ती सन्तों ने दुहराया है। भाव के माध्यम से अद्वैत-स्थिति का प्रकाशन ही सन्तों के रहस्यवाद की सब से प्रमुख विशेषता है जो कबीर की वाणी में अपने ढंग से व्यक्त हुई है। लगता तो ऐसा है कि कबीर का ज्ञान सर्वत्र छलक रहा है किन्तु वस्तु-स्थिति यह है कि ज्ञान कबीर की अनुभूति में इतना घुल-मिल गया है कि कहीं-कहीं उसको भावना से अलग करके देखना दुष्कर हो जाता है। कुछ आलोचक कबीर को केवल ज्ञानी कह कर उनकी वाणी के भाव-पक्ष की उपेक्षा कर देते हैं जो ठीक नहीं है। यह ठीक है कि उन्होंने उपास्य से पृथक् अपनी सत्ता की घोषणा नहीं की है किन्तु

अद्वैत की स्थिति ऐक्य की अनुभूति से उदित होती है, ऐसा स्थान-स्थान पर प्रकट होता है। यह कहना अयुक्त नहीं कि अद्वैतभाव को दृढ़ बनाने वाली वस्तु कबीर की विप्रलम्भ-भावना ही है। कबीर की भावना उनके अद्वैतवाद पर इतनी आरूढ़ हो जाती है कि वे सम्बंध में आविष्ट होकर किसी सैद्धान्तिक निर्णय को खो बैठते हैं। भावना का यही अतिरेक उन्हें राम को न एक कहने देता है और न दो—

एक कहौं तो है नहीं, दोय कहौं तो गारि।
है जैसा तैसा रहै, कहै कबीर विचारि॥

इस साखी की दूसरी पंक्ति द्वैत और अद्वैत, दोनों का विरोध करके अनिर्वचनीयतावाद की प्रतिष्ठा करती है। इसमें सिद्धान्त-पक्ष भावना में डूब गया है, इसी कारण कबीर के राम-सम्बन्ध में कोई भी पारिभाषिक शब्द दुर्बल ही नहीं, अयुक्त सिद्ध होते हैं। सम्भवतः इसी कारण स्वर्गीय रामचन्द्र शुक्ल ने कबीर को दार्शनिक, भक्त आदि सभी कोटियों से निकाल दिया है। कबीर-सम्बन्धी ज्ञान और भक्ति को समझने के लिए उनकी साधना को सामने रखना परमावश्यक है। कबीर बड़े भावुक हैं और उनकी भावुकता ही उनकी साधना की सर्वोच्च वृत्ति है।

कबीर की रहस्य-साधना का दूसरा स्वरूप योगपरक है। साधना पर सिद्धों और नाथों का भी कुछ प्रभाव प्रकट होता है। कहने की आवश्यकता नहीं कि सिद्धों और नाथों ने योग के कायिक पक्ष को ही विशेष महत्त्व दिया किन्तु कबीर ने योग के मानसिक पक्ष को प्रधानता देकर उसको आध्यात्मिक पक्ष से समुपेत किया। यों तो नाथों की योग-पद्धति में भी कुछ आध्यत्मिकता आ गई थी और उन्होंने अपनी योग-साधना को ईश्वरनिष्ठ बना दिया था किन्तु कबीर ने योग के कायिक पक्ष में ऐसा संशोधन किया कि उसमें नाथ-पद्धति का बहुत कुछ अंश होते हुए भी उसके मौलिक स्वरूप को अस्वीकार नहीं किया जा सकता और उसमें मौलिकता आई, उसे भावना और ज्ञान से समन्वित करने के कारण। फिर भी उसमें भावना का वह रंग नहीं है जो दाम्पत्य-प्रेम-साधना में दीख पड़ता है। उनको शिव-पार्वती-संयोग, अपना और हरि का संग—ये

सब अनुभूतियाँ होती हैं जिनमें ज्ञान और प्रेम का भी पुट मिलता है। उनकी योगपरक रहस्य-साधना की एक झाँकी इस पद में देखिये—

पारब्रह्म देख्या हो तत बाड़ी फूली, फल लागा वडहूली।
सदा सदाफल दाख विजौरा कौतिकहारी भूली ॥
द्वादस कूंवा एक वनमाली, उलटा नीर चलावै।
सहजि सुषमनां कूल भरावै, दह दिसि वाड़ी पावै ॥
ल्यौ की लेज पवन का ढींकू, मन मटका जु वनाया।
सत की पाटि सुरति का चाठा, सहज नीर मुकलाया।
त्रिकुटी चढ्यौ पावडो ढारै, अरध उरध कीं क्यारी।
चंद सूर दोऊ पांणति करिहैं, गुर मुषि वीज विचारी।
भरी छावड़ी मन वैकुंठा, सांई सूर हिया रंगा।
कहै कबीर सुनहु रे संतौ, हरि हम एकै संगा ॥

इस प्रकार कबीर पिंड में भी ब्रह्माण्ड के सारे खेल देखते हैं जो वास्तव में बड़े रहस्यात्मक हैं। इन रहस्यों का दर्शन साधक को उलटी चाल से होता है। इसी को रूडोल्फ़ अन्तर्दृष्टि की एकता की प्रक्रिया कहते हैं। उपनिषद्कारों ने भी ऐसे रहस्यों का उल्लेख किया है। श्वेताश्वतर-उपनिषद् में बतलाये हुए योगी के रमण के स्थान कुछ कम रहस्यपूर्ण नहीं हैं। इसी प्रकार बृहदारण्यक में आत्मान्वेषी की अनेक झाँकियों का विशद उल्लेख किया गया है कि 'उसे केसरिया रंग के वस्त्र, रक्तिम तितलियाँ, अग्नि-शिखाएँ, विकच कमल और कौंधती हुई बिजलियाँ दिखाई पड़ती हैं। कबीर-वाणी में रहस्यपूर्ण दृश्यों और ध्वनियों का अभाव नहीं है। भक्ति और ज्ञान के पुट से कबीर की योगपरक वाणी रहस्यात्मक कुतूहल से परिपूर्ण है। उसमें कायिक संकेत होते हुए भी माधुर्य छलकता हुआ मिलता है। इसका कारण उनकी भावना का वह पुट है जो उनकी साधना का सार ही नहीं, आधार भी है। कबीर की साधना का कायिक पक्ष भी सूक्ष्म के परिचय के निमित्त है। वे स्थूल पदार्थों में रमने वाले इस चंचल मन को स्थिर एवं सूक्ष्म बनाने के लिए लौटाने की चेष्टा करते हैं। स्थूल सांसारिक पदार्थों से निकाल कर उसे परमात्मा में लगा कर उसको तद्वत् कर

देना ही उनके योग का लक्ष्य है और इस लक्ष्य को पूर्ण करने के लिए कबीर अपने मन को प्रेम की रस्सी में बांध कर अपने माधौ के पास खींच ले जाते हैं। कबीर का 'माधौ' भी एक रहस्यात्मक सत्ता है और उसके आवास को भी उन्होंने रहस्यमय ढंग से प्रकट किया है :—

चमकै बिजुरी तार अनंत, तहां प्रभू बैठे कवलाकंत।
अखंड मंडिल मंडित मंड, त्रि-स्नान करै त्रीखंड।
अगम अगोचर अभि-अंतरा, ताकौ पार न पावै धरणींधरा।

\+ \+ \+ \+

टारयौ टरै न आवै जाइ, सहज सुंनि मैं रह्यौ समाइ।

\+ \+ \+ \+

कदली पुहुप दीप परकास, रिदा पंकज मैं लिया निवास।
द्वादस दल अभि-अंतरि म्यंत, तहां प्रभू पाइसि करिलै च्यंत।

\+ \+ \+ \+

तहाँ न ऊगै सूर न चंद, आदि निरंजन करै अनंद।

\+ \+ \+ \+

जोति मांहि जे मन थिर करै, कहै कबीर सो प्रांणीं तिरै॥

इस पद में कबीर की मनःसाधना का रूप स्पष्ट है। 'सहज सुंनि', 'रिदा पंकज', और 'जोति' योग-सम्बन्धी प्रतीक शब्द हैं जिनसे साधना-पद्धति का परिचय मिलता है। 'धरणीधर' आदि शब्दों के प्रयोगों से यह भी स्पष्ट है कि कबीर ने अपनी वाणी में पौराणिकता का भी पुट दिया है, किन्तु उनके पौराणिक प्रयोग सांकेतिक हैं। इस योगपरक साधना के मूल में कबीर की मनः-साधना का आधार मिलता है और उसे प्रेम से सरसित करके वे अपनी अभिव्यक्ति को मधुर बनाते हैं। फिर भी ऐसी अनेक उक्तियाँ हैं जिनमें रहस्यवाद के तत्त्वों का समावेश पूर्णरूप में नहीं है।

रहस्यवाद का सम्बन्ध अभिव्यक्ति से जोड़ कर कुछ विद्वानों ने उसे अभिव्यक्तिमूलक रहस्यवाद के अन्तर्गत समाविष्ट किया है। ऐसी वाणी में कबीर ने निश्चित प्रतीकों का प्रयोग किया है। चौंसठ दीया, चौदह चंदा, सोलह पवन आदि

शब्दों में नियत अर्थ निहित है और संख्या शीघ्र ही हमें अर्थ तक ले पहुँचती है। कबीर के समय में संख्यावाचक प्रतीकों का अधिक प्रचलन था, किन्तु कबीर ने इनके अतिरिक्त अन्य प्रतीकों का भी प्रयोग किया है जो छोटे-मोटे रूपक प्रतीत होते हैं। ब्रह्म-नालि, भँवर-गुफा आदि शब्द कबीर की वाणी में नियत अर्थ प्रकट करते हैं। अर्थद्योतन की यह प्रणाली सिद्धों की वाणी में अधिक प्रचलित हो चुकी थी। नाथ-पंथी भी इस प्रयोग-परम्परा का सर्वथा परित्याग न कर सके। यदि सामान्य दृष्टि से देखें तो कबीर ने अपनी उलटबाँसियों में सिद्धों और नाथों की परंपरा की ही रक्षा की है, किन्तु यह न समझ लेना चाहिए कि कबीर की उलटबाँसियाँ केवल कूट हैं। हम उनका समुचित मूल्यांकन उस समय तक नहीं कर सकते जब तक कि उनको साधना की पृष्ठभूमि में रखकर न देखें। वास्तव में वे कबीर की साधना का अन्यतम परिणाम हैं। इनमें सिद्धों की वाणी की भाँति कुछ छिपाने का प्रयत्न नहीं है क्योंकि उसमें न तो किसी सामाजिक कुत्सा का समावेश है और न किसी हेय साधना-पद्धति की दुर्बलता का। सिद्धों की दुर्बलता उन्हें उसे छिपाने के लिए विवश करती थी और वे नहीं चाहते थे कि उनकी साधना किसी ऐसे व्यक्ति के हाथों में पड़े जो उसे पूर्ण श्रद्धा प्रदान न कर सके। इसके विरुद्ध कबीर के सब ताश खुले हैं। उनकी साधना के सब पहलू पूर्ण प्रकाश में हैं। अतएव जब वे—

चींटी परवत ऊपण्यां, ले राख्यौ चौड़े।
मुर्गा मिनकी सूं लड़ै, बछा दूध उतारै॥
ऐसा नवल गुणीं भया, सारदूलहि मारै॥

आदि वाक्यों का प्रयोग करते हैं तो कुछ छिपाने के लिए नहीं वरन् अपनी अनुभूति को सामान्य शब्दों में सरलतम ढंग से प्रकट करने के लिए कहते हैं। इसका सम्बन्ध साधना से होने के कारण असाधक को ये उक्तियां उलटी लग सकती हैं, उसे ये रहस्यमय दीख सकती हैं, किन्तु वास्तव में इनके पीछे एक साधनात्मक अनुभूति है। इनमें केवल साधक का रहस्यानुभव है जो पाठक को चाहे कूट प्रतीत हो किन्तु कबीर के लिए प्रकाशमय था। यह ठीक है कि बहुत से नीरस रहस्यपूर्ण वर्णनों से कबीर की वाणी भरी पड़ी है जिनसे वह निम्न

कोटि की हो गई है और उसमें रहस्यवाद की मधुरता नहीं आई।

इस प्रकार हम देखते हैं कि कबीर की वाणी में भावात्मक, साधनात्मक एवं अभिव्यक्तिमूलक, तीनों प्रकार के रहस्यवाद के उदाहरण मिल सकते हैं। इन सब पर कबीर की विचार-प्रधानता का प्रभाव है किन्तु 'दाम्पत्य भाव' से सम्बन्धित उदाहरणों में भाव-लहरियाँ भी स्पष्ट हैं। भावात्मक रहस्यवाद के उदाहरण कबीर-वाणी में थोड़े ही हैं किन्तु जो हैं उनमें अनुभूति बड़ी गहन और मार्मिक है। अधिकांश रहस्यवादी उक्तियाँ यौगिक पारिभाषिक शब्दों, विविध संख्याओं एवं यौगिक प्रक्रियाओं से प्रभावित हैं। इससे यह निष्कर्ष निकालना अनुचित न होगा कि जहाँ कबीर की रहस्योक्तियां योग और अद्वैत-दर्शन से मुक्त हैं वहाँ उनमें सुन्दरतम रहस्यवाद दिखाई दे सकता है।

संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि कबीर की रहस्योक्तियाँ रहस्यवाद की किसी एक कोटि में नहीं रखी जा सकतीं क्योंकि उन्होंने सत्य को हर पहलू से देखने और पकड़ने का उपक्रम किया है। इसी चेष्टा ने उनकी वाणी में रहस्य-वाद की अनेक कोटियां प्रस्तुत कर दी हैं। साथ ही कबीर की रहस्योक्तियों में प्रवृत्यात्मकता की प्रतीति होती है, उसमें ऐकान्तिकता नहीं दिखाई पड़ती। कबीर केवल दार्शनिक या भक्त ही नहीं थे, अपितु विचारक, सुधारक, उप-देशक होने के साथ-साथ गृहस्थ भी थे। इसीलिए वे 'प्रवृत्ति' का परित्याग नहीं करते। वे संसार, शरीर, धन, धाम आदि के प्रति अनासक्ति की भावना अवश्य उत्पन्न करना चाहते हैं परन्तु घरबार छोड़कर वनवास लेने का उपदेश कहीं नहीं देते। कबीर का रहस्यवाद चाहे किसी कोटि का हो किन्तु उसमें प्रेम की रंगीनी सर्वत्र मिलेगी। उनकी वाणी ने जहाँ यौगिक या पारिभाषिक शब्दावली को अपनाया है वहाँ भी प्रेम-तत्त्व का अभाव नहीं मिलता। इसी प्रेम-तत्त्व ने कबीर के रहस्यवाद में सर्वत्र एक अलौकिक आनन्द-तत्त्व उत्पन्न कर दिया है और यह आनन्द-तत्त्व अद्वैत-भावना पर आधारित है, जिसकी मादक अनुभूति में कबीर कह उठते हैं :—

हम सब माँहि सकल हम मांहीं। हमतैं और कोउ दूसर नाहीं॥

यह अद्वैत-तत्त्व कबीर को कर्मवाद से मुक्त नहीं करता। कर्मवाद को स्वी-

कार करके उन्होंने पुनर्जन्मवाद को भी मान्यता प्रदान की है जिसमें विकास की भावना निहित है। कबीर का सम्पूर्ण जीवन-क्षेत्र आध्यात्मिकता से ओत-प्रोत है जिसकी विशेषता है—उसकी सक्रियता, जिसकी छाप उनकी रहस्यानुभूतियों में स्थान-स्थान पर लगी दिखाई पड़ती है।

भाषा-शैली

बहुधा यह सुना जाता है कि कबीर कवि नहीं थे, उनकी कोई भाषा नहीं थी और उनकी अभिव्यक्ति अटपटी थी। ऐसी बातें रसज्ञता के राज्य में यदि अंधेर नहीं, अन्याय नहीं तो क्या है ? कबीर की वाणी में अनेक पद रसभरी पिचकारियां हैं जो छूटते ही अंग-अंग पर एक विचित्र ढंग का अमिट रंग चढ़ा देती हैं, ऐसे ही पदों में कबीर की काव्यधारा और सहज वाणी के प्रवाह का संगम हुआ है जिसमें पाठक रसविभोर हो जाता है। जहाँ मस्ती है, जहाँ मादकता है वहीं उनके सहज उद्गार हैं, जिनमें अनुभव की गहरी चोट और कल्पना का पर्याप्त पुट है।

कबीर की वाणी में उनका व्यक्तित्व इतना प्रखर है कि उसको भुलाकर उनकी रचनाओं का मूल्यांकन नहीं किया जा सकता। सरलता, स्पष्टता निर्भीकता और अनुभूति से संपुटित संत कबीर कभी आत्मरत और कभी लोकहित-चिन्तक दीख पड़ते हैं। लोक की विद्रूपताओं को देख कर जब कभी वे क्षुब्ध हो उठते हैं तभी उनकी वाणी भी पाषाण-वर्षिणी हो जाती है, वे आलोचक बन जाते हैं। अनुभूतियों के सहज उद्गारों में वे रसिक हैं, कवि हैं। उनकी कविता का गुण सरलता और मस्ती है। फिर भी कबीर को वही पा सकता है जो उनकी अनुभूतियों में प्रवेश करने की शक्ति रखता है अन्यथा 'रहस्य' की भूलभुलैयों में पाठक अपने को खो सकता है।

भाषा—

आलोचकों का कहना है कि कबीर की भाषा अटपटी है और वह इसलिए कि वे पढ़े-लिखे नहीं थे; उनकी भाषा परिष्कृत नहीं हो सकी थी। इसी से कुछ लोग कबीर की भाषा को काव्य की भाषा नहीं मानते। जो कबीर को एक महान् सार-संग्रही के रूप में देखते हैं वे 'संसकिरत जैसे कूपजल, भाषा बहता नीर' को नहीं भुला सकते। उस समय के रवैये को देख कर यही कहा जा सकता है कि अपभ्रंश ने अपना दायित्व लोक-भाषाओं को सौंप दिया था जिनमें से किसी में भी अपने शुद्ध और स्वतंत्र व्यक्तित्व की झलक नहीं मिलती। जिस प्रकार गुजराती और राजस्थानी में उस समय बहुत साम्य था उसी प्रकार राजस्थानी, व्रजभाषा या गुजराती में भी बहुत साम्य था। यद्यपि लोक-भाषाओं की प्रवृत्तियाँ विकसित होने लगी थीं किन्तु उनके बीच कोई विभाजन-रेखा खींचना संभव नहीं था। इस साम्य के कारण एक भाषा-भाषी दूसरे स्थानों की भाषा सरलता से बोल सकता था। कबीर की भाषा में अनेक भाषाओं का जो पुट मिलता है उसका एक विशेष कारण यह भी था।

इसमें तो कोई सन्देह ही नहीं है कि कबीर पढ़े-लिखे नहीं थे, इसलिए उनकी भाषा पर साहित्यिक 'पालिश' नहीं है। शब्दों में कुछ अधिक ध्वन्यात्मक भ्रंश है, कुछ अधिक खींचतान और कुछ अधिक तोड़-फोड़ है किन्तु यह तोड़फोड़ वैसी प्रयत्नज नहीं है जैसी कि बिहारी के शब्दों में दीख पड़ती है अथवा जैसी कि कहीं-कहीं केशव ने कर डाली है। शब्दों में जो खिचाव, तनाव या फैलाव आया है वह सहज स्वाभाविक है। कबीर क्या करते? उनकी ही वाणी में नहीं, सामान्य लोक-भाषा में भी, ऐसे ही उच्चारण चल पड़े थे। 'ढोला मारूरा दूहा' में भी ऐसे ही बहुत से उच्चारण मिल सकते हैं। लोक-काव्य के और भी अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं, जिनमें शब्दों के चालू उच्चारण ही अधिक मिलते हैं। कबीर की भाषा केवल उनके घर में नहीं बनी थी, वह उनके आस-पास के सम्पर्क से निर्मित हुई थी। अतएव यदि खड़ीबोली के युग में उसमें कोई भ्रंश दीख पड़ता है तो कबीर की वाणी का दोष नहीं है। उस समय की लोक-भाषा की प्रवृत्तियों की कसौटी पर कबीर की भाषा अधूरी नहीं उतरती।

ऊपर यह संकेत किया गया है कि कबीर-वाणी में अनेक भाषाओं के शब्द मिलते हैं। उसका एक प्रमुख कारण तो बता ही दिया गया है। दूसरा कारण यह था कि कबीर घूमने-फिरने वाले साधु थे। अपने विचारों को वे देश के कोने-कोने तक पहुँचा देना चाहते थे। अतएव उन्होंने स्थान-स्थान की भाषा से अपना सम्पर्क स्थापित करके अपने भावों को एक ऐसी भाषा में व्यक्त किया जो अधिक से अधिक लोगों की समझ में आ सकती। इसका परिणाम यह हुआ कि उनकी भाषा में अनेक स्थानों और भाषाओं की शब्दावली का मेल-मिलाप हो गया।

स्वर्गीय श्री सूर्यकरण पारीक ने ना० प्र० पत्रिका के एक लेख—'राजस्थानी हिन्दी और कबीर' में लिखा है—"कबीर ने जिस भाषा में रचना की है, वह उस काल की प्रचलित साहित्य-भाषा है जो किसी प्रान्त-विशेष की बोलचाल की भाषा नहीं थी बल्कि साहित्य-रचना के लिए समस्त उत्तर-भारत में प्रयुक्त होती थी। बहु-पर्यटनशील होने के कारण और सिद्धान्ततः संकुचित प्रान्तीयता एवं क्षुद्र मतमतान्तरों के विरोधी होने के कारण कबीर ने इसी व्यापक देश-भाषा को साहित्य-रचना के लिए उपयुक्त समझा, यह युक्ति-संगत भी है। फिर भाषा-विज्ञान की दृष्टि से भी जब अनुसंधान करते हैं तो प्राचीन हिन्दी के प्रायः सभी ग्रन्थों में उस व्यापक साहित्य-भाषा का रूप मिलता है"। पारीक जी के ये शब्द मेरी बात की पुष्टि करते हैं।

इसके अतिरिक्त एक बात और भी है जिससे कबीर की भाषा में अनेक देशों या स्थानों की शब्दावली दृष्टिगोचर होती है। वह बात यह है कि कबीर की शिष्य-मंडली में भिन्न-भिन्न प्रदेशों के लोग सम्मिलित थे। अब तक भी कबीर-पंथी लोग देश के हर भाग में मिल जाते हैं। उन्होंने कबीर-वाणी को यथाशक्ति ज्यों का त्यों सुरक्षित रखने का प्रयत्न किया, फिर भी उनकी निजी भाषा का प्रभाव किसी-न-किसी रूप में परोक्षतः आ ही गया। कबीर की वाणी में भाषा की जो अनेक-रूपता मिलती है उसका एक कारण यह भी हो सकता है; किन्तु है यह केवल परोक्ष कारण क्योंकि मध्यकालीन भारत में 'गुरु' की मान्यता ब्रह्मा, विष्णु और महेश्वर के समान थी। उसकी वाणी साक्षात् ब्रह्म-

वाक्य थी। कोई शिष्य उसको बदलने का साहस नहीं कर सकता था। फिर भी अनेक शिष्य-प्रशिष्यों की जिह्वा पर चढ़कर कबीर-वाणी ने कुछ-न-कुछ रूप तो बदला ही होगा, चाहे अज्ञान में ही सही।

'बोली हमारी पूरब की' कह कर अपने आध्यात्मिक संकेत से कबीर ने कुछ विवाद प्रस्तुत कर दिया है। कबीर की बोली को अहमदशाह ने बनारस, मिर्जापुर और गोरखपुर के आसपास की हिन्दी माना है। कुछ लोगों के मत से यह भोजपुरी का ही एक रूप है किन्तु जो भाषा बीजक में सुरक्षित है उसमें भोजपुरी का कोई रंग दिखलाई नहीं देता। पं० रामचन्द्र शुक्ल ने उसमें अनेक बोलियों के शब्दों का सम्मिश्रण देख कर उसे सधुक्कड़ी कह डाला है। डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी के कबीर से कुछ ऐसा संकेत मिलता है कि कबीर की भाषा सधुक्कड़ी ही नहीं अपितु सन्ध्या-भाषा की परम्परा में थी, उस भाषा की परम्परा में जिसका श्रीगणेश सिद्धों की गिरा से हुआ था।

कबीर की भाषा को सन्ध्या-भाषा से सम्बन्धित कदापि नहीं किया जा सकता क्योंकि सन्ध्या-भाषा के प्रवर्तकों का जो लक्ष्य था उससे कबीर का लक्ष्य सर्वथा भिन्न था। जबकि पहले लोग भोली जनता को भ्रान्ति में डालना चाहते थे, कबीर उसे शान्ति के पथ पर ले जाना चाहते थे। सिद्धों की भाषा पथभ्रष्ट करने वाली थी और कबीर की भाषा पथ-प्रदर्शक। यह ठीक है कि कबीर ने कुछ शब्दों को अपने अर्थ भी दिये, किन्तु दिये सैद्धान्तिक परिष्कार की दृष्टि से। 'सहज' जैसे शब्द अपने अर्थ में रूढ़ होकर जिन विकृतियों की ओर संकेत करने लगे थे, उनसे कबीर भोले लोगों को मुक्त कराना चाहते थे। इसीलिए उन्होंने ऐसे शब्दों को अपने अर्थ दिये। कुछ शब्दों को उन्होंने अपने अर्थ इसलिए भी दिये कि अपने रूढ़ार्थ में वे दुरूह थे जैसे 'माया'। कबीर ने 'माया' की जो व्याख्या की वह जिस प्रकार शिक्षित व्यक्ति को सुबोध थी उसी प्रकार अशिक्षित को भी। शंकर ने माया का जो अर्थ किया था कबीर ने उसे अधिक विकसित किया।

इस प्रकार कबीर ने भाषा को रूढ़ियों से मुक्त करके नूतन प्रकाश दिया। शब्दों ने अपने अर्थ बदले और अर्थों ने अपनी विकृतियां बदलीं। फिर कैसे कह

सकते हैं कि कबीर-वाणी में योगियों की संध्या-भाषा का स्वर था। कबीर की भाषा को सधुक्कड़ी भाषा केवल तभी कहा जा सकता है जबकि उसमें किसी हेयता की भावना न की जाय। साधु का सम्पर्क सबसे और सबकी वाणी से होता है। वह अपने भावों और विचारों से सबको लाभान्वित करना चाहता है, इसलिए उसकी भाषा सब की भाषा होती है और कबीर की वाणी में भी यही गुण है तो उसे 'सधुक्कड़ी' कहने में हमें कोई आपत्ति नहीं है।

रामचन्द्र शुक्ल ने कबीर की भाषा को सधुक्कड़ी अर्थात् राजस्थानी-पंजाबी-मिश्रित खड़ीबोली बतलाया है किन्तु 'रमैनी' और 'सबद' में वे ब्रजभाषा और कहीं-कहीं पूरबी बोली का भी पुट मानते हैं। वे अनुमान करते हैं कि कबीर को यह भाषा नाथ-पंथियों से मिली होगी जिनके पंथ का प्रचार राजस्थान और पंजाब की ओर ही अधिक रहा और जिन्होंने मुसलमानों को भी अपनी 'बानी' सुनाने के उद्देश्य से उसमें दिल्ली के आसपास की खड़ी-बोली का भी सम्मिश्रण कर दिया। इस कृत्रिम भाषा का रूप व ढाँचा कुछ खड़ीबोली लिए राजस्थानी का था जहाँ परम्परागत साहित्य की भाषा का ढाँचा नागर-अपभ्रंश या ब्रज का था। इस मत को श्रीपरशुराम चतुर्वेदी ने भी अपने 'कबीर-साहित्य की परख' में स्वीकार किया है।

मैं इस मत का समर्थक नहीं हूँ। किसी रचना की भाषा को सिद्धान्तों से जोड़ना युक्तियुक्त नहीं है अर्थात् यह कह देना कि कबीर की भाषा नाथपंथियों से प्रभावित है, इसलिए कि दोनों के सिद्धान्त ही नहीं भाव तक मिलते हैं, उचित नहीं है। यदि बच्चन और उमरखैयाम के भाव मिलते हैं तो यह नहीं कहा जा सकता कि बच्चन की भाषा पर भी उमरखैयाम का प्रभाव है। यदि ऐसा ही है तो वैष्णव धर्म का प्रभाव कबीर पर बहुत अधिक लगता है। फिर कबीर की भाषा को रामानन्द की भाषा से दूर कैसे कर दिया जाये। सच तो यह है कि कबीर की भाषा न तो सिद्धों की भाषा है, न नाथपंथी योगियों की और न रामानन्द की। कबीर ने अपनी ही भाषा का प्रयोग किया है जिस पर उनके देशाटन, उनकी शिष्य-मंडली और उनकी सहज साधु-वृत्ति का बहुत प्रभाव है। जो लोग यह कहते हैं कि कबीर की कोई अपनी भाषा न थी, वे भाषा के मर्म

की उपेक्षा करते हैं। भाषा अपनी ही होती है किन्तु प्रयत्नों के भार से वह कृत्रिम हो जाती है। कबीर ने जो भाषा अपनाई वह उनके समय की प्रचलित भाषा थी, जिसका प्रचलन व्यापक होने से उसमें सब भाषाओं के शब्द दृष्टिगत होते हैं। वे शब्द आज भिन्न-भिन्न भाषाओं के जान पड़ते हैं। कबीर के समय में कदाचित् उनमें इतना भेद नहीं रहा हो किन्तु अनेक लोगों की रसनाओं से रसित होकर कालक्रम से ही यह भेद आ गया प्रतीत होता है।

कबीर की जो वाणी हमारे सामने आ चुकी है और उसमें जो तात्पर्य निहित है उससे यह कल्पना नहीं की जा सकती कि कबीर ने कभी 'कृत्रिम भाषा' पर भी विचार किया होगा। वे सीधे-सच्चे मनुष्य थे; दंभ और आडम्बर उनको प्रिय नहीं थे; फिर वे किसी कृत्रिम भाषा को कैसे स्वीकार कर सकते थे? अतएव उनके मुख में जो भी शब्द आ गये, भाव और अर्थ की अनुकूलता के सम्बन्ध से उन्होंने उन्हीं का प्रयोग कर दिया। निस्सन्देह उन्होंने अपने पूर्वजों के शब्दों, मुहावरों या प्रयोगों को भी लिया है किन्तु इसलिए कि वे उनके आस-पास चक्कर लगाते रहते थे, प्रचलित थे। कबीर की भाषा को ध्यानपूर्वक देखने पर उसमें स्थायित्व दीखता है कृत्रिमता नहीं। एक इतने बड़े क्रान्ति-पथिक से किसी कृत्रिमता की आशा कदापि नहीं की जा सकती। जो भाषा बिहार से गुजरात तक और पंजाब से दक्षिण तक बोली जाती थी और जिसे कबीर जानते और बोलते थे, उसी को हम कबीर की रचनाओं में पाते हैं। अनेक भाषाओं या बोलियों के शब्द होने पर भी कबीर की भाषा मिश्रित भाषा नहीं कही जा सकती और न वह कोई रूढ़ काव्य-भाषा ही थी। वह स्वाभाविक बोलचाल की भाषा थी।

आधुनिक साहित्यिक जागरण के साथ ही कबीर की भाषा के सम्बन्ध में भी निरन्तर चर्चा चलती आ रही है किन्तु अब तक कोई एक मत स्थापित नहीं हो पाया है। जहां उनकी भाषा में विविध भाषाओं और बोलियों की शब्दावली और रूपावली को देखकर कुछ आलोचक यह कह देते हैं--"भाषा बहुत अपरिष्कृत है। उसमें कोई विशेष सौंदर्य नहीं है", वहाँ कुछ इतना तक भी कह देते हैं—"भाषा पर कबीर का पूर्ण अधिकार था। वे वाणी के धिनायक थे। जिस बात को उन्होंने जिस रूप में प्रकट करना चाहा है, उसे उसी रूप में भाषा से

कहलवा दिया है—सीधे-सीधे तरीके से बन गया है तो वैसे नहीं तो दरेरा देकर। भाषा कुछ कबीर के सामने लाचार-सी नज़र नहीं आती है। उसमें मानो ऐसी सामर्थ्य ही नहीं है कि सर्वतत्र-स्वतंत्र फक्कड़ के किसी अनुरोध को न माने। अव्यक्त को व्यक्त करने की, अमूर्त को मूर्त बनाने की, उसमें मनोहरता के आधान की, जैसी क्षमता कबीर की भाषा में है वह अन्यत्र बहुत कम दृष्टिगोचर होती है। असीम अनन्त ब्रह्मानन्द में आत्मा का साक्षीभूत होकर मिलना कुछ वाणी के अगोचर, पकड़ में न आ सकने वाली ही बात है। पर, 'बेहद्दी मैदान में रहा कबीर सोय' में न केवल उस गंभीर निगूढ़ तत्त्व को मूर्तिमान कर दिया गया है, प्रत्युत अपनी फक्कड़ाना प्रकृति की मोहर भी मार दी गई है। वाणी के ऐसे बादशाह को साहित्य के रसिक काव्यानन्द का आस्वाद कराने वाला समझें तो उन्हें दोष नहीं दिया जा सकता।

कबीर चुटकियाँ भरने में बड़े कुशल हैं। वे इस क्षेत्र में अपना प्रतिद्वन्द्वी नहीं जानते। कबीर जैसे व्यंग अच्छे-अच्छे साहित्यकार नहीं कर पाते। उनकी शैली की विशेषता यह है कि उसका अनुकरण नहीं किया जा सकता। इसी गुण पर रीझकर आलोचक कबीर को कवि कहने में नहीं हिचकते।

शैली—

कबीर ने अपने समय के साधु-समाज में प्रचलित शैली को ही अपनाया है। उसमें स्पष्टता, वक्रता, व्यंग्यात्मकता और प्रेषणीयता है। कबीर का आविर्भाव उस युग में हुआ था जब वीरगाथाओं की शैलियां मुरझा रही थीं। और धर्मगुरुओं की वानियों का प्रचलन बढ़ रहा था। छन्दों में दोहा, चौपाई, और पद की धूम थी। विद्यापति ठाकुर ने अपनी पदावली से पदों का महत्त्व द्विगुणित कर दिया था। सिद्धों की चलाई हुई इस पद-परंपरा को नाथों ने निभाया और सन्तों तथा भक्तों ने आगे बढ़ाया। कबीर अपने दोहों को 'साखी' और पदों को सबद कहते थे। रमैणियों में कई चौपाइयों के बाद दोहा का प्रयोग किया गया है। रमैणिओं के अनेक भेद दृष्टिगोचर होते हैं जैसे सतपदी रमैणी, बड़ी अष्टपदी रमैणी, दुपदी रमैणी, अष्टपदी रमैणी, बारहपदी रमैणी आदि।

कबीर की 'वानी' को तानपूरे का साहित्य कह सकते हैं क्योंकि उनकी

रमैणियों और उनके सबदों में राग-रागनियां मिलती हैं। राग-रागनियों की सरसता के साथ-साथ जन-साधारण के निकट पहुँचाने की उनकी भाषा में क्षमता थी। उसमें न शब्दाडम्बर है, न पांडित्य-प्रदर्शन का प्रयत्न। प्रतीकों से अपने भावों को सुबोध बना कर वे उन्हें सर्वसाधारण की निधि बना गये। वे प्रतीकों को जीवन से चुनते हैं जिनसे उनकी वाणी में सरलता और सुबोधता के साथ आत्मीयता आ जाती है। छन्दोयोजना, उक्तिवैचित्र्य और अलंकार-विधान—सब-कुछ होते हुए भी वे स्वाभाविक और अयत्नज हैं। उनकी सहजोक्तियों में अलंकार, छन्द और रस—सब उनके भावों का अनुगमन करते हैं। उनके सम्बन्ध में कबीर की कोई पूर्वयोजना नहीं होती। वे काव्यगत रूढ़ियों को न तो जानते थे और न मानते ही थे। अनुभूति का उद्रेक होने पर जो उद्गार निकलते थे वे समर्थ और आकर्षक होते थे। उनके छन्दों में चाहे क्षिप्रनर्तन की शक्ति न हो, भले ही वे ढीले हों और उनके अलंकार संख्या में चाहे थोड़े ही हों, भले ही उनमें इतनी झंकृति न हो किन्तु वे अपने प्रयोजन के पक्के हैं, पूरे हैं, वे अपनी स्वाभाविक सुषमा को नहीं खोते। उनके अलंकार उनकी अलौकिक अनुभूतियों के पैरों को भी इसी धरा पर स्थापित करते हैं।

कबीर का कहने का ढंग निराला है। उन्हें जो कुछ कहना होता है उसी को कहते हैं और अपने ढंग से कहते हैं, उपयुक्त अवसर पर कहते हैं और ज़ोर से कहते हैं। वे सबको एक लकड़ी से हांकना भी जानते हैं और यह भी जानते हैं कि किसको किस समय छेड़ना चाहिए। यह बात उनके 'सम्बोधनों' से स्पष्ट हो जाती है। ऐसी बात नहीं है कि वे शाक्त को ही कोरी-कोरी सुनाते हैं, प्रत्युत पांडे, पुजारी, योगी, मुल्ला, काज़ी, शेख और अवधूत तक को नहीं छोड़ते। यह है उनकी भाषा की निष्पक्षता जिसके वे भारी समर्थक हैं। वे जिस प्रकार प्रजा को सुनाते हैं, उसी प्रकार राजा को भी सुना देते हैं। उनको इस बात की चिन्ता नहीं कि पंडित बुरा मानेगा या काज़ी बुरा मानेगा और यही है उनकी भाषा की निर्भीकता। वे जो देखते हैं वह कह डालते हैं, छिपाते कुछ नहीं, यह है उनकी भाषा की आलोचनात्मक स्पष्टता।

उनकी आलोचना निराधार नहीं है, उसमें तर्क-शक्ति है। जो आधार

शास्त्र नहीं दे सकते, वह कबीर की गहन अनुभूतियाँ, उनकी आलोचना को प्रदान करती हैं। अतएव यह कहना अनुचित नहीं कि कबीर की तर्क-शैली विचित्र है, शास्त्रीय नहीं, आनुभूतिक है। वह उन लोगों पर बड़ा प्रभाव डालती है जिनके हृदय से वे अन्धविश्वास, पाखंड, दंभ, छलना, प्रवंचना एवं अभिमान का बहिष्कार करना चाहते हैं। कबीर के तर्कों में जितना मस्तिष्क का बल है उससे अधिक अनुभूतियों का। इसी से उनकी शैली में अकाव्यता और आकर्षण, दोनों एक ही साथ हैं।

कबीर का अनुभव बहुविध था। उनका समागम व्यापक था, अनेक साधु-सन्तों के साथ उनका सत्संग होता रहता था। इसलिए उन्हें सुनने को बहुत-कुछ मिला था, सब-कुछ मिला था, सब प्रकार की सामग्री मिली थी जिसका उपयोग भी उन्होंने अपने ही ढंग से किया था। वे बहुश्रुत संत थे—यह ठीक है किन्तु सबकी सुन कर भी वे ग्रहण वही करते थे जिसके लिए उनको उनके मस्तिष्क और हृदय की स्वीकृति एकसाथ मिल जाती थी। वे सुनी हुई बात को बुद्धि से तोल कर अनुभूति से परिष्कृत करते थे और तब कहीं उसका प्रकाशन करते थे। उनकी प्रायः सभी वाणियों पर यह छाप लगी मिलती है।

इन सब बातों के कारण कबीर की वाणी ने जो शक्ति संचित की है, उसने उसे सुन्दर कवित्व प्रदान कर दिया है। कविता किसी यंत्रालय में तैयार नहीं होती। उसका अपना वातावरण, अपनी भाव-भूमि और अपनी अभिव्यंजना होती है जो व्यक्तियों के सम्बन्ध से बदलती दीख पड़ती है। इसी का नाम शैली है। अनेक प्रयत्न करने पर भी शैली अनुकरणीय नहीं होती। व्यवितत्व शैली में सदैव विद्यमान रहता है। कबीर की शैली में भी उनका व्यक्तित्व बड़े महत्त्व का है अन्यथा ऐसी बातें कौन नहीं कह सकता। इससे भी बढ़ कर बात यह है कि कबीर की शैली का कोई अनुकरण नहीं कर सका। इस दृष्टि से यदि कबीर की शैली में 'अपनापन' है तो कोई आश्चर्य की बात नहीं। यह 'अपनापन' न होता तो कबीर को कवि कहना कठिन ही नहीं, असम्भव हो जाता।

अब तक न जाने कितने लोगों ने यह कहा है कि कबीर पढ़े-लिखे नहीं थे,

योगी थे, भक्त थे, सुधारक थे, साधक थे और सब कुछ थे, फिर भी कबीर की गणना कवियों में होती चली आ रही है। आज तक भी किसी ने यह साहस नहीं किया कि साहित्य के इतिहास से कबीर का नाम हटा दे अथवा कवियों की गणना में उन्हें भुला दे। कबीर को किसी विशेष शास्त्रीय परम्परा के दृष्टि से देखने वालों को उनकी साधना में 'अटपटापन' भले ही लगे किन्तु उन्हीं की दृष्टि से देखने वाले को उसमें एक अनूठा 'चटपटापन' मिलेगा। कबीर के बुद्धि-वाद के लिए जिन लोगों के मन में तनिक भी सम्मान और उनकी विवेकिता के प्रति कुछ भी आदर है वे उनको कोरा 'प्रयोगी' कहने की भूल नहीं कर सकते। उनके प्रयोगों में जिस प्रकार किसी सीमा तक मौलिकता है उसी प्रकार एक परिमार्जित प्रशस्त पथ भी है।

क्या कबीर कवि थे ? यह भी एक प्रश्न है। किन्तु क्या वह कवि नहीं थे ? यह भी एक प्रश्न है। इसमें सन्देह नहीं कि कबीर साधक हैं, वे अध्यात्मवादी हैं किन्तु उनके इसी रूप में उनकी समाजवादिता भी तो दीख सकती है। यदि उनको प्रधानतया कवि रूप में नहीं देख सकते तो क्या उनको अपनी खुली आँखों से समाज को देखने वाला भी नहीं कह सकते ? यह ठीक है कि वे कविता के लिए कविता नहीं करते किन्तु क्या वे समाज की दुर्गति पर करुण-दृष्टि नहीं डालते ? क्या वे उसे प्रेरणा और आशा नहीं देते ? क्या वे सामाजिक कुत्साओं और रूढ़ियों पर क्षुब्ध होकर डाँट-फटकार से काम नहीं लेते ? क्या वे अपने साथियों के कल्याण की कामना नहीं करते ? यदि लोक-कल्याण उनकी वाणी का लक्ष्य है, यदि वह समाज को आनन्द की ओर प्रेरित करती है, यदि उसमें प्रभावित करने की क्षमता है तो वह अवश्य ही किसी अंश तक कविता के लक्ष्य की अनुगामिनी है।

वे समाज को अपने सामने पहले लाते हैं और कविता को पीछे। कबीर की अनुभूति बड़ी व्यापक थी। वह जीवन और जगत् की होते हुए भी अलौकिक और अलौकिक होते हुए भी जीवन और जगत् की थी। जैसा इन्होंने लिखा है, वैसा सम्भवतः तुलसी भी न लिख पाते यदि वे कबीर की ही परिस्थितियों में होते। कविता भावों का वह स्रोत है जो समाज द्वारा प्रेरित होकर व्यक्ति के

अन्तर से उमड़ती है और अपने ढंग से पुनः समाज को प्रेरणा देती है। कविता अपने और समाज के लिए लिखी जाती है। उसका कोई लक्ष्य होता है, कोई उद्देश्य होता है; उसके बिना कविता हो ही नहीं सकती। कविता जीवन का शाब्दिक प्रतिरूपण है। इसीलिए इसमें इतना सौन्दर्य, माधुर्य और लालित्य होता है। जो कवि जीवन में सरसता आदि गुण नहीं देख सकते, वे कविता के सरस लक्ष्य की सिद्धि भी नहीं कर पाते। हाँ, जीवन की सरस झाँकी अनेक दृष्टियों से की जाती है, किन्तु उनसे जीवन का स्वरूप नहीं बदल जाता। जो कविता कविता के लिए ही होती है, वह मनुष्य के लिए बन्धन बन जाती है। वह मनुष्य की मुक्ति के लिए नहीं होती, उससे मनुष्य प्रेरणा नहीं पा सकता। मानव के अन्तःकरण का समाज से सम्बन्ध होता है। घर में हो या वन में वह दूसरों की अपेक्षा रखता है। सूरज, तारे, चाँद, आकाश, वायु, लता, सुमन आदि उसके जीवन और समाज को निरन्तर सजाते रहते हैं। कवि लोक-जीवी होता है; वह लोक से पृथक् नहीं रहता और न रह सकता है। वह स्व-निर्भर होता हुआ भी लोक के लिए रहता है। यदि वह इस तरह से न रहे तो अपने लिए भी नहीं रह सकता। उसे सामाजिक पारस्परिकता से बड़ा बल मिलता है; उसकी शक्ति के संचय का स्रोत ही पारस्परिकता है। अतएव कविता की पारस्परिकता से बड़ी घनिष्ठता है।

मनुष्यों की पारस्परिकता का सुचारु निर्वाह ही धर्म है। इसके अनेक नियम हैं। इन्हीं से समाज का संचालन होता है। समाज में गुणों के साथ दोष भी हैं, फिर भी मनुष्य समाज ही में रहता है। उससे रुष्ट होता हुआ भी उसे चाहता है। कबीर समाज का परिष्कार चाहते हैं। वे समाज की अनेकों बुराइयों से खिन्न एवं अप्रसन्न हैं; उन्हीं के निवारण के लिए वे सुधारक का रूप भी धारण करते हैं।

समाज की रक्षा प्रत्येक सामाजिक का कर्तव्य है, उसका सहज प्रवाह प्रत्येक व्यक्ति का लक्ष्य है। 'मनुष्य सबके और अपने लिए बना है'—ऐसा दृष्टिकोण प्रत्येक सामाजिक का रहता है; प्रत्येक सुधारक भी इस भाव से प्रेरित होता है। कबीर ने केवल आत्म-प्रशंसा या स्व-यश के लिए कविता नहीं

की। वे आत्म-कल्याण के साथ-साथ लोक-कल्याण की भावना से उत्प्रेरित हुए। उनकी रचना व्यवहार-कौशल की शिक्षा एवं 'शिवेतरक्षति' के लिए हुई है। उनका अनुभव इतना विशाल और गूढ़ था कि आत्मोल्लास के साथ-साथ उन्होंने समाजोन्नति भी की। 'साहित्य ज्ञान-राशि के संचित कोश का नाम है' उसकी अवहेलना असम्भव है। सूर, तुलसी, केशव आदि से तुलना करने पर कबीर को उस श्रेणी में चाहे न रक्खा जाय, फिर भी कबीर कवि थे। उनकी रचना उच्च-कोटि की है। वह सीधा हृदय को प्रभावित करती है। उनकी भाषा बोल-चाल की भाषा है। उन्होंने अलङ्कारों का प्रयोग पांडित्य-प्रदर्शन के लिए नहीं किया, अपितु अलङ्कार उनके अनुभव-पुष्ट व्यक्तीकरण में स्वतः ही आ गए हैं। उनकी रचना एक ऐसा रामबाण है जो लक्ष्य पर पूर्ण रूप से पहुँचा है।

कबीर को कुछ लोग दबी ज़बान से कवि कहते हैं और कुछ तो उन्हें कवि बिल्कुल मानते ही नहीं। कदाचित् वे कबीर-ग्रन्थावली या अन्य किसी ऐसे ही ग्रन्थ में आई हुई कबीर की रचनाओं के ऊपर अपना मत आधारित करते हैं—उन रचनाओं के ऊपर जिनका, न जाने कितनी पीढ़ियों तक मौखिक अस्तित्व रहा; जिनका न जाने कितनी जिह्वाओं पर उलट-फेर हुआ, जिनकी भाषा बदलने से अर्थ का अनर्थ और सरल का कठिन अर्थ हो गया है। इतनी ज़बानों और कलमों के आघातों से परिवर्तित भाषा को हम मुक्त कंठ से कबीर की भाषा नहीं कह सकते हैं, हाँ, भाव कबीर के हैं; किन्तु भाषा के फेर में कहीं-कहीं वे भी फिर गए हैं। कबीर का अध्ययन करने वाला वह विद्यार्थी है जो भाषा के अनेक परिवर्तनों से परिचित है। कबीर का आलोचक वह आलोचक है जो सतर्क, किन्तु सहृदय होकर कबीर को देखता है। जो कबीर की दृष्टि में दृष्टि डाल कर देख नहीं सकता, जो अपनी गति से कबीर के पास तक नहीं फटक सकता, जिसका मस्तिष्क कबीर के मस्तिष्क से छत्तीस की स्थिति में है, वह व्यक्ति कबीर के रस का आस्वादन कैसे कर सकता है, वह विद्यार्थी कबीर का अध्ययन कैसे कर सकता है, और वह आलोचक कबीर पर समालोचना कैसे लिख सकता है ?

कबीर कवि थे या नहीं, इसकी परीक्षा करने के लिए हमें समन्तात् निरीक्षण करना चाहिए। सबसे पहला प्रश्न यह उठता है कि कवि की क्या योग्यता होती है ? उसकी क्या तैयारी होती है ? साहित्य के अध्येता के लिए यह प्रश्न कुछ कठिन नहीं है। प्राचीनों ने 'कविर्द्रष्टा' कहकर इस प्रश्न का उत्तर दे दिया है। वह देखता है अपनी आँखों से, वह देखता है समाज की आँखों से भी; और तभी समाज उसके साथ रहता है, समाज को उसके प्रति सहानुभूति होती है और तभी समाज उसके गुणों का गान करता हुआ उसका अनुकारी होता है। यदि कवि की ये दोनों आँखें (अपनी और समाज की) बन्द हैं तो समझिए कि कवि ने देखा नहीं, उसे कवि कहलाने का अधिकार नहीं। ऐसी अवस्था में यदि उसे बल मिल सकता है तो कला से। स्मरण रखने की बात है कि कला अनुभूति और कल्पना के बिना प्राणहीन शरीर के सदृश है, उस शव के सदृश है जो चोवा-चन्दन से चर्चित है, जिसका नाना प्रकार से अलंकरण किया गया है। उसे केवल शव कहा जा सकता है मानव नहीं, सजीव नहीं। कला यदि कविता का रूप धारण करना चाहती है, अनुभूति से विहीन होकर द्रष्टा की सी दृष्टि से रहित होकर ऐसा नहीं कर सकती।

कबीर के पास दृष्टि है, पहले अपनी, इसके पश्चात् समाज की, किन्तु कबीर समाज की सामान्य दृष्टि से देखते हुए भी अपनी-सी ऊँचाई से देखते हैं। वे अपने अनुभव को अपनी अटपटी बोलियों से अपने पुष्टतम व्यक्तीकरण से सर्व-साधारण के पास पहुँचाते हैं। यदि सर्व-साधारण कबीर का अनुभव नहीं रखते तो कबीर का दोष नहीं, कबीर के अनुभव का दोष नहीं, कबीर की कविता की क्षमता का दोष नहीं; दोष किधर है जानने वाले जानते हैं।

कबीर की वाणी अपने मूल रूप में कविता न होते हुए भी कविता से दूर नहीं है। हाँ, कुछ अंश उसमें ऐसे भी हैं जिनको कविता कहना समीचीन न होगा। हमें यह तो मानना ही पड़ेगा कि कबीर प्रमुखतः कवि नहीं थे। वे समाज और उसकी हलचल के प्रेक्षक थे, किन्तु मूक प्रेक्षक नहीं थे। सामाजिक जीवन के नाटक में उन्होंने जो दोष देखे उन्होंने उनकी वाणी को मुखर बना दिया। उन्होंने इस सम्बन्ध में बहुत कुछ कहा—कुछ मस्ती में कहा, कुछ क्षुब्ध होकर कहा और

कुछ सहानुभूति एवं प्रेमपूर्वक। यह सब कुछ ही काव्य नहीं था, उसका कुछ अंश अकाव्य भी था जो स्वभावतः ठीक भी था। कबीर स्वभाव से सन्त थे, कर्म से साधक और सुधारक थे। वे उस कन्दुक के समान थे जो उछल कर केलि-कौतुक को प्रेरित करता है। वे परिस्थितियों से समझौता करने के लिए सामाजिक विषमताओं में क्रान्ति चाहते थे। वे दलित के प्रति सदय और उदार थे और विषमता के प्रति उग्र आक्रोश रखते थे। उनके भावों ने जहां-कहीं बौद्धिक धरातल पर सन्तुलित होकर कल्पना के रंगों में अभिव्यक्ति प्राप्त की है वहीं कविता का सजीला रूप सामने आ खड़ा हुआ है। समाज-कल्याण कबीर की वाणी की प्रेरणा बना है जो 'हरिजी यहै विचारिया, साखी कहौं कबीर; भौ सागर में जीव है, जे कोइ पकड़े तीर' से स्पष्ट है। सच तो यह है कि कविता करना कबीर का लक्ष्य नहीं था, फिर भी उनकी वाणी में बहुत कुछ कवित्व है। वे स्वयं भी जानते थे कि लोग उनके वचनों का कविता के रूप में आदर करते थे अन्यथा वे ऐसा क्यों कहते—

तुम्ह जिनि जानो गीत है, यह निज ब्रह्म-विचार।
केवल कहि समझाइया, आतम साधन सार॥

कबीर ने अपनी अनुभूतियों को, अपने उद्गारों को बड़ी सफलता से व्यक्त किया और यही सफलता उनकी वाणी की शक्ति अथवा रचना का गुण है। उनकी वाणी समाज के रंगीन चित्र प्रस्तुत करती है, एक नहीं अनेक, केवल रेखा-चित्र ही नहीं, सरस रंगीन चित्र भी। गहन सत्यों को, जिस रूप में भी संभव हुआ, उन्होंने प्रकट कर दिया। अभिव्यक्ति के लिए उन्हें न तो अलंकार-शास्त्र के ज्ञान की आवश्यकता हुई और न काव्य-रीति के परिपालन की जो सहज में बन सका उसी को उन्होंने अपनाया।

यों तो और भी अनेक ईश्वर-प्रेमी या भक्त-कवियों के संबंध में यह बात कही जा सकती है कि उनका लक्ष्य कविता करना नहीं था, फिर भी उनकी रचना में सुन्दर काव्य का प्रतिपालन हुआ है। जायसी, सूर और तुलसी भी मूलतः कवि नहीं थे। वे तो ईश्वर-प्रेम में विभोर थे। प्रेम के उद्गार उनकी वाणी में प्रस्फुटित होते थे, वही काव्य थे। तीन लोक, चौदह खण्डों में प्रेम के

अतिरिक्त किसी अन्य तत्त्व की सत्ता को स्वीकार न करते हुए भी जायसी काव्य-कौशल से उदासीन नहीं हैं :—

केहि न जगत जस बेचा, केइ न लीन्ह जस मोल।
जो यह पढ़ै कहानी, हम सँवरे दुइ बोल॥

और 'स्वान्तःसुखाय रघुनाथ गाथा' गाने वाले तुलसीदास भी काव्य-निर्माण के मार्ग में कुछ कम सचेष्ट नहीं हैं। यह ठीक है कि उनकी प्रत्येक पंक्ति में भक्ति की प्रमुखता की छाप लगी मिलती है किन्तु उनकी वाणी में कविता नहीं है, यह कहना अनुचित होगा जब वे यह कहते हैं—

कवि न होऊं नहिं बचन प्रबीनू। सकल कला सब विद्या हीनू॥
आखर अरथ अलंकृति नाना। छंद प्रबन्ध अनेक विधाना॥
भाव भेद रस भेद अपारा। कवित दोष गुन विविध प्रकारा॥
कवित विवेक एक नहिं मोरे। सत्य कहउँ लिखि कागद कोरे॥

तो विनय-प्रकाशन के साथ-साथ कविता का लक्षण भी प्रस्तुत कर देते हैं और यह कह कर तो वे यह प्रमाणित कर देते हैं कि उन्होंने कविता की है—

निज कवित्त केहि लाग न नीका। सरस होउ अथवा अति फीका॥

इन उद्धरणों से ऐसा प्रतीत नहीं होता कि तुलसी आदि भक्त या ईश्वर-प्रेमी लोग कविता करना नहीं जानते थे, काव्य-कला से अनभिज्ञ थे। इसके विपरीत कबीर-वाणी से ऐसी प्रतीति नहीं होती कि वे काव्य-कला-विज्ञ थे। सूर, तुलसी आदि भक्तों ने भक्ति के हेतु कविता की थी, वह भी भक्ति का एक साधन थी। लक्ष्य न होते हुए भी कविता उनकी साधना का अङ्ग थी। जिसके संबंध में जितने तुलसीदास सतर्क दीख पड़ते हैं उतने सूरदास नहीं हैं। कबीर उसके संबंध में बिल्कुल सतर्क नहीं हैं। परिणाम यह हुआ है कि उनकी भावना ने चिन्तन का कहीं-कहीं तो साथ दिया है और कहीं-कहीं वह एकाकी रह गया है, वहीं कवित्व ने उनकी वाणी से किनारा कर लिया है। कबीर समाज की तीखी आलोचना, धार्मिक रूढ़ियों की खरी भर्त्सना और आध्यात्मिक उड़ान एवं दार्शनिक गंभीरता को अपना कर भी भावुक अभिव्यक्तियों में कवि हैं। यह माना जा सकता है कि उन्होंने 'मसि' और 'कागद' छुआ तक भी नहीं था किन्तु वे

सत्यानुभूति के गंभीरतम तल तक डुबकियां ले चुके थे। गहन होने के कारण ही उनकी अनुभूति तीव्रता से अभिव्यक्त हुई है और उन्होंने अपने प्रतिपाद्य को अद्वितीय सामर्थ्य के साथ प्रकट किया है।

सच तो यह है कि कबीर की वाणी की प्रतिष्ठा उन मूलभूत प्रवृत्तियों पर है जिसके कवित्व का सनातन शृङ्गार होता है। उनकी वाणी में जहां हृदय का सहज स्फुरण है वहीं कविता है। उनके सुन्दर रूप को झकझोर देने वाले व्यंग्यों, मनोहर कूटोक्तियों और सरस तथा अद्‌भुत उलटबाँसियों में काव्य-वीणा के जो सहज तार झंकृत हुए हैं उनसे निःसृत रागों की स्वर-लहरियों में अनुभूति की मधुरता का स्पन्दन स्पष्ट है। कबीर की भाषा में चाहे वांछित प्राञ्जलता का अभाव दिखाई देता हो किन्तु एक प्रौढ़ और सशक्त अभिव्यक्ति का अभाव नहीं है। उसकी इच्छा और अभिव्यंजना में एक अनूठा ताल-मेल है। वे जो चाहते हैं वही कह लेते हैं। इस सफ़ाई से कि उनकी वाणी पर उनकी चाह का भार नहीं दिखाई पड़ता। उदग्र और प्रखर होते हुए भी उनकी वाणी स्पष्ट है, अनगढ़ होते हुए भी शक्तिमय है और तर्कपुष्ट होते हुए भी कवित्वमयी है। लौकिक कल्पनाओं में हुई उनकी आध्यात्मिक अनुभूतियां अनगढ़ शब्दों को पाकर भी बड़ी रंगीली छवि लेकर व्यक्त हुई हैं। आत्मलोक की अनुभूति भी कबीर की अभिव्यक्ति को ऐहिक सम्बन्धों से विदूर नहीं कर सकी है। परिणामतः लोक-जीवन उनकी वाणी में सर्वत्र विकीर्ण दीख पड़ता है। समाज के जो चित्र उनकी वाणी में प्रकट हुए हैं वे चाहे अपनी स्पष्टता के कारण प्रखर हों किन्तु मिथ्या और अतिरंजित नहीं हैं। आध्यात्मिक अनुभूति की अभिव्यञ्जना में कहीं-कहीं ऊहा की प्रबलता दृष्टिगोचर होती है किन्तु उसका समाज-चित्रों से कोई सम्बन्ध नहीं है। 'आँखड़ियों' की 'झांई' और 'जीभड़ियों' का 'छाला' 'कनक-भूधराकार शरीरा' के क्षेत्र से बहुत दूर नहीं किया जा सकता। ऊहा कविता के देश की एक परी है जो भावुकता की उड़ने वाली सहेली है। वह किसी सत्य की प्रतिपादिका नहीं है, केवल संकेतिका है। वह अनुभूति का केवल संकेत देती है, लोक-चित्र प्रस्तुत नहीं करती।

इस भूमिका से यह स्पष्ट हो जाता है कि कबीर की वाणी किसी कलाकृति

के रूप में हमारे सामने नहीं आ रही, किन्तु कला के स्पर्श से वञ्चित नहीं है। वह उस समय की उन कुत्साओं को लेकर प्रकट हुई है जो आधुनिक पाठक के हृदय को बड़ी तीव्रता से कचोट डालती हैं। कला का जो कुछ रूप कबीर की कृति में दीख पड़ता है वह उनकी वाणी का गुण है, उनके किसी प्रयत्न का प्रसाद नहीं है। यदि कविता का लक्ष्य जीवन की झाँकी देने के साथ प्रभावित करना भी है तो कबीर अवश्य ही सफल कवि हैं, किन्तु समग्र कृति कविता नहीं है और न उसमें किसी कलात्मक प्रयत्न की गवेषणा ही की जा सकती है। कबीर उस युग के कवि हैं जब भाषा चोला बदल रही थी, छंद बदल रहे थे और अपभ्रंश अपना अधिकार पुरानी हिन्दी को सौंप रही थी। इसलिए कबीर की भाषा को दूषित ठहराने से पूर्व उनकी परिस्थितियों, समय की माँगों का अध्ययन करना आवश्यक है। जब लल्लूलाल जी तक की भाषा में आज के आलोचक को 'पंडिताऊपन' की गंध आती है तो कबीर की भाषा में उसे क्या गंध आनी चाहिए ? अनुमानगम्य है।

कहना न होगा कि साधारण अनुभूति के साधारण व्यक्तीकरण को कविता नहीं कहा जाता। कविता वह जीवन-तत्त्व है जिसमें साधारण अनुभूति को भी असाधारण व्यक्तीकरण का बल मिला होता है, जिसमें भावना और कल्पना के पुट से सरसता का सन्निवेश किया जाता है। कबीर की साधारण अनुभूति में असाधारण भावना और असाधारण अनुभूति में साधारण कल्पना की शक्ति है। यह तथ्य कबीर की उक्तियों, उनकी रचनाओं की असाधारणता का द्योतक है। जहाँ व्यक्तीकरण अनुभूति का पूरा साथ देता है वहीं सुन्दर कविता का उदय होता है। अतएव वे जिस समय अनुभूति से परिपूर्ण होकर, भावना से सिहर कर व्यक्तीकरण करते हैं तो 'राम मेरे दूल्हा, मैं राम की बहुरिया' की सुन्दर शब्द-योजना उनके कवित्व को सरसता और कोमलता से सजा देती है। कवि कवि-कल्पना की खोज में जितना आयास करता है, उसके काव्य का मर्म उतना ही धुंधला पड़ जाता है। जहाँ कवि की कल्पना ऊँची, किन्तु स्पष्ट और सरल होती है अर्थात् उसमें कवि की स्वाभाविक शक्ति ओतप्रोत रहती है, वहाँ कविता का माधुर्य और लालित्य आस्वादन करने योग्य होता है। परम सिद्ध कवियों

की भाँति कबीर अपने काव्य में हमें इसी प्रकार की छटा दिखलाते हैं—जिस में सरस पाठक और मनस्वी चिन्तक साथ-साथ डूब जाते हैं—

लाली मेरे लाल की, जित देखौं तित लाल।
लाली देखन मैं गई, मैं भी ह्वै गई लाल।।

यह साखी उनके इसी प्रकार के कवित्व, इसी प्रकार की माधुरी और इसी प्रकार की छटा में लाकर पाठक को डुबो देती है।

कबीर समय के पीछे चलने वाले लोगों में से नहीं थे। उन्होंने सिद्धों और नाथों के साम्राज्य का एक अनुशासित नागरिक होकर उन्हीं के दृढ़ दुर्ग पर आक्रमण किया और विजय भी प्राप्त की और एक ऐसी क्रान्ति को जन्म दिया जो न केवल धर्म के इतिहास में ही याद रहेगी, प्रत्युत भारतीय राजनीति के इतिहास में भी अमर रहेगी।

कबीर ने सच्चे कवि की भाँति सदैव सत्य का प्रतिपादन किया है—उस सत्य का, उस अनुभूति-तथ्य का जिसमें अनेक कवि अनेक बार विप्रकृष्ट हो जाते हैं। कबीर के समान सत्य की अभिव्यक्ति बहुत थोड़े ही कवि कर पाते हैं। उनकी सत्याभिव्यक्ति सीधा प्रभाव करने के कारण कटु सी प्रतीत होती है। इसी कारण कई आलोचकों ने उनकी वाणी पर कटु होने का आक्षेप भी किया है और इसकी कटुता का कारण उन्होंने कबीर की अशिक्षा में खोजा है। मेरी समझ में यह उनका भ्रम है। कबीर पूर्ण शिक्षित थे, यदि शिक्षा का अर्थ केवल साक्षरता नहीं है। कबीर जो कुछ दीख पड़ते हैं, उसका कारण उनका 'सत्याग्रह' था—वह सत्याग्रह जिसके भारतीय इतिहास में अनेक पहलू दीख पड़ते हैं। बौद्ध और जैन सत्याग्रह अपने ढंग के सत्याग्रह थे। हरिश्चन्द्र का सत्याग्रह अपने ढंग का अनूठा था। महर्षि दयानन्द ने एक अपूर्व सत्याग्रह की नींव डाली, किन्तु महात्मा गांधी का सत्याग्रह जिसकी आभा दिग्दाहों और दुर्दिनों में होकर भी अविरल रूप से विकसित होती रही, आधुनिक परिस्थितियों में समन्वित रूप से अनूठा सिद्ध हुआ। कबीर का सत्याग्रह भी अद्भुत ही था। उसका रूप आलोचकों को जैसा दीख रहा है वह या तो उनको स्पष्ट नहीं है और यदि है तो उसके अतिरिक्त, उन परिस्थितियों में, कोई दूसरा रूप हो ही नहीं सकता था।

वह रूप समय का माँगा और परिस्थितियों का दिया हुआ था। कबीर की कविता सत्य के अनेक पहलुओं में से पूर्ण सत्य की ओर ले जाने का उपक्रम करती है। यदि हम उसके किसी एक पहलू को देख कर ही अपना मत स्थिर करने लगते हैं तो यह कबीर की कविता का दोष नहीं प्रत्युत हमारी संकीर्ण बुद्धि का है।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि कबीर की कल्पनाएं स्वतः पूर्ण हैं। जहां उनके छंद अनेक स्थानों पर रबड़-छंद का पद पाने के अधिकारी हैं वहां उनकी कल्पनाएं उनकी अनुभूति के सुन्दर आरोप हैं। इन्हीं में कबीर का प्रतीकवाद अपना अनूठा रूप सँवारता है।

कबीर की शैली में प्रतीक-योजना—

कबीर के हाथों से प्रतीक-परम्परा का सुन्दर शृंगार हुआ। यह ठीक है कि कबीर का उद्देश्य कविता करना नहीं था, परन्तु वे स्वभाव से कवि तो थे ही। वाणी उनकी दासी थी किन्तु उसको कबीर के निर्लिप्त और निर्भीक व्यक्तित्व का बल प्राप्त था। अतः उनकी कृतियों में वह करामात मिलती है जिसे देख कर बड़े-बड़े आलोचकों को भी दंग रह जाना पड़ता है।

प्रतीकों के प्रयोग में कबीर की सचेष्टता उनकी अभिव्यंजना से स्पष्ट है। न केवल यौगिक प्रतीकों में ही कबीर का अभिव्यक्ति-कौशल दीख पड़ता है अपितु उनके सामाजिक और पारिवारिक प्रतीक तो और भी समर्थ और मनोहर हैं। उनके 'कूट' जहां भागवत, विद्यापति-पदावली और गोरखबानी का स्मरण दिलाते हैं वहां उनकी उलटबाँसियाँ पहेलियों की मौखिक परम्परा अथवा किसी अज्ञात लिखित परम्परा की कड़ी के रूप में आविर्भूत होती हैं।

कबीर के यौगिक प्रतीक परम्परा-युक्त हैं। वे सिद्धों और नाथों की टकसाल के प्रचलित सिक्के हैं। यह तो पहले ही कहा जा चुका है कि प्रतीक अतिप्रचलित होकर काल-क्रम से अपना प्रतीकत्व खो देते हैं, फिर भी किसी सम्प्रदाय के स्वर में वे अपनी मौलिक शक्ति सुरक्षित रखते हैं। सिद्धों के यौगिक प्रतीक कबीर के समय तक भी साम्प्रदायिक ही बने रहे। सामान्य भाषा में वे प्रचलित रूप में स्वीकार न किये गये इसलिए सामान्य अर्थ के स्थान पर वे विशेष का द्योतन करते हैं।

कबीर के यौगिक प्रतीकों का वर्गीकरण सांकेतिक और पारिभाषिक प्रतीकों के रूप में किया जा सकता है। गंगा, यमुना, सरस्वती, त्रिवेणी, असीघाट, प्रयाग आदि शब्द सांकेतिक प्रतीक हैं किन्तु सहज, अजपा, शून्य, हरि, निरंजन, नाद, विन्दु आदि पारिभाषिक प्रतीक हैं। सुरति-निरति पारिभाषिक प्रतीकों के अच्छे उदाहरण हैं। कबीर ने दोनों प्रकार से प्रतीकों का सफलता से प्रयोग किया है। सांकेतिक प्रतीकों का एक उदाहरण देख कर उनके प्रयोग का अनुमान किया जा सकता है :—

सूर समाणां चन्द में दुहूं किया घर एक।
मन का च्यंता तब भया कछू पुरवला लेख ॥

यहां 'सूर' और 'चन्द' क्रमशः पिंगला और इड़ा के लिए प्रयुक्त हुए हैं और दोनों का एक घर सुषुम्ना में होता है। यह योग की अवस्था विशेष है। जिसको आलोचकों ने कबीर का योगात्मक रहस्यवाद कहा है—वह ऐसे ही सांकेतिक प्रतीकों से बना है। सांकेतिक प्रतीकों का तो कबीर-वाणी में प्राचुर्य है। योग के सम्बन्ध से ही ऐसे प्रतीकों का प्रयोग नहीं हुआ अपितु अन्य सम्बन्धों से भी हुआ है, जैसे :—

कबीर धूलि सकेलि करि, पुड़ी जु बांधी एह।
दिवस चारि का पेषणां, अंति षेह की षेह ॥

यहां 'पुड़ी' शब्द सांकेतिक प्रतीक है जो शरीर की ओर संकेत कर रहा है। एक दूसरा उदाहरण देखिये :—

कबीर देवल ढहि पड़या, ईंट भई सेंवार।
करि चिजारां सौं प्रीतड़ी, ज्यूं ढहै न दूजी बार ॥

इस साखी में प्रतीकों का बाहुल्य द्रष्टव्य है। 'देवल' शरीर का, 'ईंट' हड्डियों का, 'चिजारा' परमात्मा का और 'ढहना' मरने का प्रतीक हैं। इन सामान्य शब्दों में ईश्वर-प्रेम का कितना गहरा रहस्य निहित है, इनके भावार्थ से स्पष्ट है। सांकेतिक प्रतीकों में मौलिक और परम्परायुक्त, दोनों प्रकार के प्रतीक मिलते हैं। उसी प्रकार पारिभाषिक-प्रतीकों में भी ये दोनों प्रकार प्राप्य हैं। पारिभाषिक प्रतीकों का एक उदाहरण देखिये :—

अजपा जपत सुनि अभि-अंतरि, यह तत जानै सोई।

अथवा

सुरति समाणी निरति में निरति रही निरधार।
सुरति निरति जब परचा भया, तब खूटे स्यंभ दुवार ॥

प्रसंगवश यहां यह कह देना असंगत न होगा कि जहां नाथों के लिए यौगिक क्रियाएं ही साध्य हो गई हैं वहां कबीर के लिए वे साधन-मात्र हैं। कबीर का साध्य तो अनन्य प्रेम है जिससे भिन्न परमात्मा भी नहीं है। कबीर ने उस प्रेम के लिए 'रस', 'रसायण', 'हरिरस', 'रामरस', आदि प्रतीकों का व्यवहार किया है :—

हरिरस पीया जाणियै, कबहुं न जाइ खुमार।
मैमंता घूमत फिरै, तन की नाहीं सार ॥

ऐसे स्थलों पर कबीर की मस्ती निसर्ग-काव्य का मधुर रस प्रवाहित कर पाठक की समग्र चेतना को अभिषिक्त कर देती है।

सिद्धों और नाथों की परम्परा से आये हुए संख्यामूलक प्रतीक भी कबीर में मिल जाते हैं :—

चौंसठि दीवा जोइ कर, चौदह चंदा माँहि।
तिहि घरि किस का चानिणा, जिहि घरि गोविंद नाँहि ॥

यहाँ 'चौंसठ' और 'चौदह' संख्यावाचक प्रतीक हैं जो क्रमशः कलाओं और विद्याओं के लिए व्यवहृत हुए हैं।

कबीर-वाणी में प्रतीकों का सौन्दर्य यदि कहीं देखना हो तो उनके रूपकों में देखना चाहिए जिनमें काव्य-माधुर्य और प्रतीकोत्कर्ष, दोनों एक साथ अभिव्यक्त हुए हैं यथा—

दुलहनीं गावहु मंगलचार, हम घरि आये हो राजा राम भरतार।

+ + + +

कहैं कबीर हंम व्याहि चले हैं, पुरिष एक अविनासी ॥

आध्यात्मिक अनुभूतियों की अभिव्यक्ति के लिए कबीर ने जिन प्रतीकों को चुना है उनमें सरल व्यावहारिक अभिव्यंजना के साथ कवि की मौलिकता भी

निहित है। दैनिक जीवन से उपचित होने के कारण उन प्रतीकों में जो आकर्षण और मोहन है वह सिद्धों और नाथों की वानियों में अप्राप्य है।

जब आध्यात्मिक अनुभवों के दिव्य आह्लाद की अभिव्यक्ति में भाषा की सामान्य शक्तियां जवाब दे देती हैं तो कबीर कदाचित् विवश होकर उन लौकिक व्यवहारों के माध्यम को अपनाते हैं जहाँ से उनकी अनुभूति का निकटतम दर्शन हो सके। उनमें प्रेषणीयता अपनी पूरी शक्ति से व्यक्त होती है। जो प्रेम दाम्पत्य सम्बन्धों की तीव्रता में लौकिक रूप धारण करता है वही उस अलौकिक शाश्वत आकांक्षा में परिवर्तित हो जाता है जो उसका परस्पर शक्ति से शान्त एवं निश्चल सम्बन्ध स्थापित करती है। इस प्रेम में दुलहिन और दूल्हा ही विलक्षण नहीं अपितु उनका सम्बन्ध सहज होते हुए भी विलक्षण है। उनके विवाह को देखने के लिए तेंतीस करोड़ देवता और अठासी हज़ार मुनि उपस्थित हुए हैं—

सूर तेतीसूं कौतिग आये, मुनिवर सहस अठासी।
कहै कबीर हम व्याहि चले हैं, पुरुष एक अविनासी ॥

किन्तु केवल दाम्पत्य प्रतीक आत्मा-परमात्मा के सम्बन्धों को प्रकट करने में असमर्थ हैं, अतः कबीर कभी-कभी स्वामी-सेवक सम्बन्ध को प्रकट करने के लिए भी प्रतीकों का प्रयोग करते हैं—

मोहि वेचि गुसाईं। तंन मंन धंन मेरा रामजी के ताईं ॥

और कभी उसे जननी के रूप में भी देखने लगते हैं—

हरि जननी मैं वालिक तेरा,
काहे न औगुंण वकसहु मेरा।
सुत अपराध करै दिन केते, जननी के चित रहैं न तेते।
कर गहि केस करै जौ घाता, तउ न हेत उतारै माता ॥
कहै कवीर एक वुधि विचारी, वालक दुखी दुखी महतारी ॥

कबीर के बहुत से आध्यात्मिक प्रतीक लोक-जीवन का बड़ा निकट और सरस परिचय देते हैं। आत्मज्ञानी या ईश्वर-प्रेमी के विभोर होने के लिए एक क्षेत्र है और लोक-रत व्यक्ति के लिए दूसरा क्षेत्र। यहां कभी-कभी दोनों की

तुष्टि हो जाती है। यद्यपि इस प्रकार का अवसर कबीर द्वारा प्रयुक्त अलंकारों से विशेषतः रूपकों और अन्योक्तियों द्वारा प्रदान किया जाता है किन्तु वस्तुतः सारा खेल होता प्रतीकों का है। 'झीनी झीनी बीनी चुनरिया' जैसे पदों की प्रतीक-योजना में काव्य का सरस प्रवाह दर्शनीय है। भक्त रूपी प्रिया के लिए परमात्मा रूपी प्रेमी ने जो चुनरी सँवार कर दी है वह कितनी रँगीली और सजीली है, देखिये तो सही—

चुनरिया हमारी पिया ने सँवारी, कोई पहिरै पिय की प्यारी।
आठ हाथ की बनी चुनरिया, पंच रंग पटिया पारी।
चाँद सुरुज जामें आँचल लागे, जगमग जोति उजारी।
बिनु ताने मह बनी चुनरिया, दास कबीर बलिहारी।

यह चुनरिया हमारे कितने निकट की है किन्तु प्रतीकों के ज्ञान के बिना इसका आध्यात्मिक सौन्दर्य प्रत्यक्ष नहीं हो सकता। यहाँ प्रतीक कितने सरल और व्यावहारिक हैं उनसे पाठक या श्रोता का सम्बन्ध सहज ही हो जाता है। इस 'चुनरी' से प्रत्येक मानव का सम्बन्ध है किन्तु प्रतीक रूप में इसने कैसे दो अर्थ दे डाले हैं, यही इसकी सांकेतिकता है।

यों तो कबीर के बहुत से उपमान प्रतीक शक्ति से युक्त हैं और कुछ आलोचक उपमानों में भी प्रतीकता देखने की चेष्टा करते हैं किन्तु वास्तव में उनको प्रतीक नहीं कहा जा सकता। यह ठीक है कि उपमान उपमेय के साथ साधर्म्य आदि गुणों के कारण किसी सीमा तक प्रतीक शक्ति धारण करता है किन्तु रूपकातिशयोक्ति जैसे कुछ अलंकारों में ही, क्योंकि वहां उपमेय का निगरण हो जाने से, उपमान और प्रतीक का अन्तर मिट जाने से, उपमान ही प्रतीक-पद पर आसीन हो जाता है। कबीर के कूटों में ही नहीं, उलटबांसियों तक में ऐसे प्रतीकों का प्राचुर्य है:—

तरुवर एक पेड़ बिन ठाढ़ा, बिनु फूलां फल लागा।
साखा पत्र कछू नहीं वाकै, अष्ट गगन मुख बागा॥

अथवा

भेरै चढ़े सु अधघर डूबे निराधार भये पांव।

\+ + +

ऊघट चले सु नगरि पहूंते, वाट चले ते लूटे ॥
एक जेवड़ी सव लपटानें, के वाधे के छूटे ॥

कहने की आवश्यकता नहीं कि कवीर की प्रतीक-योजना में वहुत-कुछ तो परंपरागत मार्ग हैं किन्तु कुछ प्रतीक उन्होंने अपने दिये हैं जो 'कवि समय' की प्रेरणा न होकर मौलिक उद्भावना का परिणाम हैं। यह कहा जा सकता है कि कवीर के यौगिक प्रतीकों के लिए एक बना हुआ मार्ग था। उनमें से अधिकांश उसी पर चलते रहे हैं किन्तु अपने अर्थ में उनका प्रयोग करके उन्होंने उनको जो शक्ति दी उसको परवर्ती सन्तों ने भी स्वीकार किया। ईश्वर-प्रेम और अध्यात्म के क्षेत्र में कबीर ने जिन प्रतीकों की सृष्टि की, चाहे उनका प्रचलन वाद में न रहा हो किन्तु उन्होंने इस दिशा में पथ-प्रदर्शन अवश्य किया। परवर्ती सूफ़ी और भक्त-कवियों तक को उसने प्रभावित किया। कबीर की अनुभूतिमयी शैली से अभिभूत होकर जायसी तो यहाँ तक पुकार उठे—

एक जुलाहा तें मैं हारा।

कबीर के प्रेम-प्रतीकों में दाम्पत्य-जीवन बहुत ही निखरा है। पवित्रता, सात्त्विकता और आध्यात्मिकता उनकी विशेषताएँ हैं। मिलन और विरह के चित्रों में वासना की दुर्गन्ध कहीं नहीं आती। सूफ़ियों और कबीर के दाम्पत्य-प्रेम में वहुत-कुछ साम्य होते हुए भी कवीर की भारतीयता सिद्ध है। इसके अतिरिक्त दाम्पत्य-प्रेम के चित्रण में सूफ़ियों ने जहाँ रतनसेन, पद्मिनी, नागमती आदि नामों को प्रतीक रूप में प्रयुक्त किया है वहाँ कबीर पीव, बहुरिया, राजाराम, दूल्हा आदि से आगे नहीं बढ़े हैं। उनके प्रतीकों पर भारतीय संस्कार है। 'दुल्हिन गावहु मंगलचार' आदि में इनका प्रभाव प्रत्यक्षतः देखा जा सकता है। जहाँ सूफ़ियों की प्रतीक-योजना संकीर्ण रही वहाँ कवीर ने उसके क्षेत्र को व्यापक बनाया। शून्य, गगन, त्रिकुटी, औंधा-कुआं, भंवर, गुफा, सूर्य, चन्द्र, गंगा, यमुना, अजया, अनहद आदि से लेकर जुलाहा, वणजारा, कुंभार, कलाल, गुड़िया, डोली,

रहट, चरखा ग्रादि तक ग्रपने प्रतीकों का विस्तार कर दिया। ग्राज की प्रतीक-पद्धति देखकर यह कहा जा सकता है कि ग्राधुनिक प्रतीकों में कुछ ग्रधिक लाक्षणिकता, कुछ ग्रधिक नवीनता होते हुए भी वे कबीर की प्रतीक-शृंखला की ही एक कड़ी है। कबीर की ग्रभिव्यंजना-शैली में प्रतीकों का बड़ा महत्त्व-पूर्ण स्थान है, किन्तु उनका विशेष चमत्कार उलटबाँसियों में दृष्टिगोचर होता है।

कबीर की उलटबाँसियाँ—

कबीर की उलटबाँसियाँ सिद्धों की परम्परा की उलटबाँसियाँ नहीं हैं। ग्रधिकांशतः उनमें ग्रौपनिषदिक परम्परा की उलटबाँसियाँ हैं जिनमें ग्राध्यात्मिक ग्रनुभूति की ग्रभिव्यंजना है ग्रौर जिनमें कहीं-कहीं प्रेम ग्रौर दर्शन का भी सुमिलन हुग्रा। इस शैली का इतिहास तीन प्रकार की प्रवृत्तियों का परिचय देता है—ग्रानुभूतिक ग्रभिव्यंजना की प्रवृत्ति, चमत्कार-प्रवृत्ति एवं गोपन-प्रवृत्ति।

ग्रानुभूतिक ग्रभिव्यंजना की प्रवृत्ति वेदों से ही चली ग्रा रही है। धीरे-धीरे इसका विकास भी होता रहा है। धर्म की सत्प्रवृत्ति के रूप में धार्मिक प्रभाव के उत्कर्ष में इसका बहुत बड़ा योग रहा है। कबीर-वाणी में इसी प्रवृत्ति का प्राधान्य रहा है :—

एक ग्रचंभा देखा रे भाई, ठाढ़ा सिंघ चरावै गाई।
पहलै पूत पीछै भई माइ, चेला कै गुरु लागै पाइ।
जल की मछली तरवर ब्याई, पकड़ि बिलाई मुरगै खाई।
बैलहि डारि गूनि घरि ग्राई, कुत्ता कू लै गई बिलाई।
तलि करि साखा ऊपरि करि मूल, बहुत भाँति जड़ लागे फूल।
कहै कबीर या पद कौं बूझै, ताकूं तीन्यूं त्रिभुवन सूझै॥

ये उक्तियां कबीर की गहरी ग्रनुभूति का परिचय देती हैं। इनको पढ़ने ग्रौर समझने से ऐसा नहीं लगता कि कबीर कुछ छिपाना चाहते हैं ग्रौर न ऐसा ही लगता है कि कबीर को ग्रपने ज्ञान का गर्व है। जहाँ गर्व-सा लगता है वहाँ भी वास्तव में गर्व नहीं है। उनकी गहन ग्रनुभूति जब उद्गीर्ण होती है तब वह किन्हीं भी शब्दों में निकल पड़ती है ग्रौर उद्गारों की गहनता का प्रभाव भाषा पर ही नहीं, श्रोता या पाठक पर भी पड़ता है। निम्नलिखित उदाहरण

आनुभूतिक उद्गारों की गहनता और उनके प्रभाव को व्यक्त करता है—

कैसे नगरि करौं कुटवारी, चंचल पुरिप विचपन नारी।
बैल वियाइ गाइ भई बाँझ, बछरा दूहै तीन्यूं साँझ।
मकड़ी घरि मांपी छछिहारी, मांस पसारि चील्ह रखवारि।
मूसा खेवट नाव बिलइया, मींडक सोवै सांप पहरइया।
नित उठि स्याल स्यंघ सूं भूझै, कहै कबीर कोई बिरला बूझै ।।

इस पद को पढ़-सुनकर सिद्ध ढेण्ढेणपा की उक्ति का स्मरण आ जाता है। जिस प्रकार वहाँ गर्वोक्ति या चुनौती थी, उसी प्रकार यहाँ भी दीख पड़ती है। किन्तु दोनों पदों की अन्तिम पंक्तियों की ध्यानपूर्वक तुलना करने पर स्पष्ट हो जाता है कि चर्यापद में चुनौती की प्रवृत्ति है जबकि कबीर के पद में सत्य की दुरूहता की ओर संकेत किया गया है।

ऐसी बात नहीं है कि कबीर-वाणी में गर्वोक्ति की गंध नहीं आती, अवश्य आती है और वह भी उलटबाँसियों और कूटों में प्रधानता से, किन्तु वे गर्वोक्तियां हैं नहीं क्योंकि वे गर्व से प्रेरित नहीं हैं। वास्तव में वे प्रेरित हैं सत्य से और उनमें उसी की प्रखरता है, उसी का तेज है। उसी के कारण उनमें गर्व की गंध प्रतीत होती है। जिस प्रकार सत्य में अविनय नहीं होता उसी प्रकार भय भी नहीं होता। विनय और अभय दोनों ही कबीर-वाणी के भूषण हैं। इसी से उनके अभय में अविनय नहीं है और न उनके विनय में भय है। इसका मुख्य प्रमाण हैं—उनकी उलटबांसियाँ जिनमें गोपन-प्रवृत्ति का अभाव है।

सिद्धों की उलटबाँसियों में गोपन की प्रवृत्ति होने से भय और आशंका प्रमाणित हो जाते हैं। ऐसी बात नहीं थी कि सिद्धों की दुर्बलता दूसरों को ही दुर्बलता प्रतीत होती थी क्योंकि वे उनकी साधना के रहस्य को नहीं समझते थे प्रत्युत सिद्ध भी अपनी साधना की दुर्बलताओं को समझते थे। इसीलिए अपने बहुत से रहस्यों का उद्घाटन नहीं करना चाहते थे और गोपन को भी इसीलिए प्रोत्साहित किया गया था। गोपन की प्रवृत्ति ही तांत्रिकों की उलटबाँसियों के मूल में है। तांत्रिक लोग भी अपनी साधना के प्रत्येक पक्ष को, उसके गुण-दोष को समझते थे। फलतः वे नहीं चाहते थे कि वह सर्वबोधगम्य

हों। इसी से उनके सम्प्रदाय में गोपन-शैली का प्रचलन हुआ।

उलटवाँसियों के इतिहास में तीसरी प्रवृत्ति चमत्कार-प्रवृत्ति रही है जिसका प्रारम्भिक स्वरूप 'अद्‌भुत' के संचार के लिए प्रकट हुआ था। उपनिषदों तक में इसी 'अद्‌भुत' की झाँकी दिखाई देती है। बाद में 'अद्‌भुत' चमत्कार में परिणत होने लगा। सिद्ध और तांत्रिक ही नहीं, जैन और नाथ तक भी चमत्कार-प्रवृत्ति से अछूते न रह सके। परिणाम यह हुआ कि भाव या प्रभाव के लिए नहीं अपितु भ्रम में डालने के लिए भी उलटवाँसियों-जैसी रचनाएँ प्रयुक्त होने लगीं। इसमें सन्देह नहीं कि नाथों ने गोपन से कहीं दूर उलट-बाँसी को चलाया, जिसमें आध्यात्मिक रहस्य भी निहित था किन्तु उनके कूटों में चमत्कार की प्रवृत्ति स्पष्ट है। कहीं-कहीं इस प्रवृत्ति का साक्षात्कार सन्तों तक की वाणी में हो जाता है और तो और कहीं-कहीं तो कबीर-वाणी तक में इसकी झलक मिल जाती है जिसकी सत्ता कबीर-जैसे सरल और स्पष्ट व्यक्तित्व में एक आश्चर्य की बात है।

कबीर की उलटबाँसियों में कभी-कभी 'बूझै' अथवा 'बूझहु' तथा 'बिचारै' जैसे शब्दों के प्रयोगों से उनके सही मूल्यांकन में बाधा हो सकती है और उनके सम्बन्ध में अनेक मत बनाये जा सकते हैं। मर्म-ज्ञान के अभाव में कोई उनकी भाषा को 'सन्ध्या' या 'संधा' भाषा कह सकता है, कोई उनको कूट संज्ञा दे सकता है और कोई पहेली या मुकरी तक कह सकता है। श्री परशुराम चतुर्वेदी ने ठीक ही कहा है कि 'आभिप्रायिक वचनों के समान दीख पड़ने के कारण वे कभी-कभी विविध पहेलियों के रूप धारण कर लेती हैं। एक उदाहरण देखिये—

एक सुहागिन जगत पियारी, सगले जीव जंत की नारी।

देखने में ऐसा प्रतीत होता है कि वाच्यार्थ के पीछे कोई वस्तु छिपी हुई है जो प्रसंग या रूढ़ अर्थ से ही प्रकाश में आ सकती है। कहीं-कहीं ऐसा भी प्रतीत होता है कि कबीर ने पारिभाषिक शब्दों की पैंठ लगाकर अपनी उक्तियों को कूट बना दिया है और इस भ्रम से उन्हें 'दृष्टिकूटों' की परम्परा में रख दिया जाता है—

गज नव गज दस गज इक्कीस, पुरी आये कतनाई।
साठ सूत नव कंठ बहत्तर, पाटु लगो अधिकाई॥

क्या वास्तव में ये पंक्तियाँ इन पंक्तियों की परंपरा में निभ सकती हैं ?

हरिरिपु अनुज बास कोवा (रा) तल दए सरीर हमारा।
खटपद वदुरथु सुअ अरि धनि सोदर सुअ कर धारा॥

अथवा सूर के इस कूट के साथ रख सकते हैं ?

ऊधो इतनो मोहिं सतावत।
कारी घटा देखि बादर की दामिनि चमकि डरावत।
हेमसुतापति को रिपु व्यापै दधिसुत रथ न चलावत।
अंबू-खंडन शब्द सुनत ही चित चकृत उठि धावत॥
कंचनपुर-पति को जो भ्राता ते सब बलहिं न आवत॥
शंभू-सुत को जो वाहन है कुहकै असल सलावत।
यद्यपि भूषण अंग बनावत सोइ भुजंग होइ धावत॥
सूरदास विरहिन अति व्याकुल खगपति चढ़ि किन आवत॥

विद्यापति-पदावली और सूरसागर के अवतरणों को देखकर तथा उन्हें कबीर की उक्त पंक्तियों के साथ तोलने पर भेद समझ में आ सकता है। पदावली और सूरसागर के उद्धरणों में भाव के ऊपर बुद्धि का आसन जमा हुआ है किन्तु कबीर की उक्ति में बुद्धि के तल पर भाव की धारा-सी बह रही है।

इससे यह निष्कर्ष निकालना अनुचित नहीं है कि कबीर की जिन उक्तियों को कूट-परम्परा में रखा जाता है वे वास्तव में उनमें फ़िट (fit) नहीं बैठतीं। यह ठीक है कि उनके शब्दों में एक पारिभाषिक अर्थ अवश्य निहित है जो 'नव गज, दस गज' आदि से प्रकट होता है किन्तु वह मानसिक व्यायाम कराने के लिए नहीं है, अनुभूति की समीचीन अभिव्यक्ति के लिए है। अभिव्यक्ति की ओर कबीर का ध्यान रहा है, वह अपेक्षित हो गई है; बस उसमें कूट का इतना-सा लक्षण आ गया है। कबीर की शुद्ध उलटबाँसी का लक्षण इससे भिन्न है। (१) उसके वाच्यार्थ में विरोध निहित रहता है और उसका परिहार संकेतित अर्थ से होता है। (२) साथ ही उससे किसी अलौकिक तथ्य का प्रकाशन होता

है। इस निकर्ष पर 'नव गज' आदि को शुद्ध उलटबाँसी भी नहीं कहा जा सकता।

वैसे कबीर के समय में कूटों का भी बहुत प्रचलन था। आठवीं शताब्दी से ही मानसिक व्यायामों को प्रोत्साहन मिलने लग गया था और अभिव्यक्ति सरल शैली को छोड़ कर वक्रता के क्षेत्र में उतर आई थी। कूटों की मूल-प्रेरणा धर्म की गोपन-प्रवृत्ति से आगे साहित्य तक में पहुँच गई थी। भागवत में कूटों का अभाव नहीं है। सिद्धों की तो पहले ही चर्चा की जा चुकी है। 'चमत्कार' का उल्लेख करते हुए नाथों के सम्बन्ध से भी कूट शैली की ओर संकेत किया जा चुका है। विद्यापति ने ही नहीं, जैन-कवियों ने भी कूटों को बहुत प्रोत्साहन दिया। हिन्दी-कवियों ने बाद में तो कूटों या दृष्टकूटों को बुद्धि की परीक्षा का एक माध्यम ही बना लिया जिससे सूर ही नहीं, तुलसी तक अछूते न बच सके। शृंगारी कवियों की वाणी में गोपन की प्रवृत्ति के कारण भी कूटोदय हुआ। कबीर के आसपास विद्यापति जैसे शृंगारी कवियों की वाणियाँ भी गूंजती थीं और नाथों की वाणियाँ भी। कबीर का लक्ष्य न तो कविता करना था और न चमत्कृत करना। कबीर की वाणी में शृंगार भी उद्वेलित हुआ है किन्तु शृंगार के लिए नहीं, वरन् शान्त के लिए जिसमें कई स्थलों पर अद्भुत का पुट भी लगा हुआ है। अतएव जिन स्थलों पर कबीर-वाणी में कूट-लक्षण मिलते हैं वहाँ भी उनका लक्ष्य 'कूट' नहीं है। कबीर अपनी अनुभूति के लिए अपनी वाणी को दासी बनाने की चेष्टा नहीं करते प्रत्युत उसके प्रकाशन के निमित्त वह स्वयं दासी बन जाती है। वह 'स्वतन्त्र दासी' है इसलिए उस पर कबीर का अंकुश भी नहीं है और न संभवतः उस पर अंकुश रखने की उन्होंने चेष्टा ही की है। इसी कारण उनकी वाणी को आलोचना के 'गर्वोक्ति', 'रबड़ छन्द' आदि अनेक प्रहार सहने पड़े हैं।

कूटों और पहेलियों के अतिरिक्त कबीर के समय में 'मुकरियाँ' भी प्रचलित थीं। अमीर-खुसरो की मुकरियाँ इसका प्रमाण हैं। कबीर ने कुछ बातें मुकरियों के ढंग की भी कही हैं जिनको न तो हम उलटबाँसी कह सकते हैं, न मुकरी ही। एक उदाहरण देखिए—

कुअटा एक पंच पनिहारी, टूटी लाजु भरै मतिहारी।
कहु कबीर इक बुद्धि विचारी, नाऊ कुअटा ना पनिहारी ॥

यह मुकरी तो इसलिए नहीं है कि इसका उद्भव विनोद की भावना से नहीं हुआ। पहेली और मुकरी में प्रतीकोपयोग होते हुए भी वह 'उलटबांसी' के मर्म को धारण नहीं कर सकती। पहेली और मुकरी में एक बौद्धिक समस्या होती है किन्तु यहां एक रहस्य है जो 'एक कुअटा', 'पंच पनिहारी', 'लाज' (रस्सी) आदि प्रतीकों के पीछे निहित है।

अतएव प्रतीकों के प्रयोग के कारण हमें कबीर की उलटबांसियों को उनकी अन्य सभी प्रकार की कृति से अलग करके देखना होगा। जहां साधनात्मक अथवा अध्यात्मविषयक अनुभूति नहीं है अथवा जहां विरोधाभास नहीं है वहां हमें उलटबांसी की खोज नहीं करनी चाहिए। जहां 'मूसा हस्ती सो लड़ै' उलटि मूसै सापणि गिली, अथवा 'चींटी परवत उषरायां ले राख्यो चौड़े' आदि उक्तियां हैं वहीं उलटबांसियां भी हैं क्योंकि इनमें साधनात्मक अनुभूति के साथ-साथ ऐसी प्रतीक-पद्धति है जिसमें विरोधाभास है।

रचना की दृष्टि से भी कबीर की उलटबांसियां कई प्रकार की हैं। एक प्रकार की तो वे 'उलटबांसियां' हैं जो पूरी रहस्यमयी हैं। जैसे—

है कोई जगत गुर ग्यांनीं, उलटि वेद बूझै।
पांणीं मैं अगनि जरै, अंधरे कौं सूझै ॥
एकनि दादुर खाये पंच भवंगा।
गाइ नाहर खायौ काटि काटि अंगा ॥
बकरी बिघार खायो, हरनि खायौ चीता।
कागलि गर फांदिया, बटेरैं बाज जीता ॥
मूसै मंजार खायो, स्यालि खायो स्वांनां।
आदि कौं आदेस करत, कहै कबीर ग्यानां ॥

इसके विपरीत नीचे के पद को देखिए—

अवधू अगनि जरै कै काठ।

\+ \+ \+

जे बांध्या ते छुछंद मुकता, बांधनहारा बांध्या।
बांध्या मुकता मुकता बांध्या, तिहि पारब्रह्म हरिलांधा ॥

\+ + +

अंमृत समांनां विप मैं जांनां, विप मैं अमृत चाख्या।
कहै कबीर विचार विचारी, तिल मैं मेर समांनां।
अनेक जनम का गुर गुर करता, सतगुर तव भेटांनां ॥

इस पद में उलटबाँसियों की लहरें-सी उठती दीख पड़ती हैं। कुछ बात कहकर मानों रहस्यात्मक प्रतीकों द्वारा कबीर खुले रहस्य को पाठक या श्रोता के समक्ष रख देते हैं।

इस प्रकार कबीर की उलटबाँसियाँ रचना के विचार से दो प्रकार की हैं— पूर्णपद उलटबाँसी और अंशपद उलटबाँसी। पूर्ण-पद उलटबाँसी की एक दो पंक्तियों को कबीर दूसरी प्रकार भी प्रयुक्त कर लेते हैं किन्तु ये पंक्तियों की धारा को बाधित नहीं करती। अंशपद उलटबाँसियों में दो शैलियों का मिलन, और कभी-कभी तीन-तीन चार-चार शैलियों का मिलन तक दिखाई देता है।

विषय की दृष्टि से कबीर की उलटबाँसियों के पाँच भेद कर सकते हैं— संसार से सम्बन्धित, आत्मा-परमात्मा से संबंधित, योग से संबंधित, प्रेम-साधना से सम्बन्धित तथा संदेश से सम्बन्धित।

इन विषयों को लेकर कबीर ने जो प्रतीक-मार्ग ग्रहण किया वही सर्वोत्तम था। पीछे भाषा के सम्बन्ध में प्रतीक के क्षेत्र और शक्ति की चर्चा की जा चुकी है और यह भी बताया जा चुका है कि यदि कुशलता से काम लिया जाये तो शब्दों का अपव्यय भी नहीं होता। इसके अतिरिक्त प्रतीक शब्द अनुभूति के चित्र प्रस्तुत करने में भी बड़े सहायक होते हैं। इसी से कबीर को सूक्ष्म अनुभूतियों के व्यक्त करने में भी सफलता मिली है। यह दूसरी बात है कि वे दुर्बोध हो गई हैं। दुर्बोधता का कारण भी प्रतीक ही हैं। सामान्य लोक और जीवन से शब्दों को उठाकर कबीर ने उन्हें अव्यक्त भावों की सेवा में नियोजित किया है। उनकी सेवा में कोई दूषण नहीं है किन्तु सेवक-सेव्य के सम्बन्ध को समझने की क्षमता तो होनी ही चाहिए। कबीर लोक-जीवन का पूर्ण अनुभव

कर चुके थे और यहीं से उन्होंने अपने शब्दों को चुना और उनमें संकेतों के प्राण भरकर अव्यक्त और अलौकिक को लोक-कल्पना के समक्ष प्रस्तुत किया।

वैसे तो कबीर की वाणी का प्रमुख आधार ही प्रतीक हैं किन्तु उलटबाँसियों के तो वे अनन्याश्रय हैं जिनमें अनेक अलंकार झंकृत हुए हैं। यों तो अनेक अलंकार उलटबाँसियों को सुशोभित कर रहे हैं किन्तु जो रत्न बनकर उनको प्रभावित कर रहे हैं वे हैं विरोधाभास, विभावना, विशेषोक्ति, असंगति। और अधिक कहने की आवश्यकता नहीं कि ये सब विरोधमूलक अलंकार हैं। उलटबाँसी में किसी न किसी विरोधमूलक अलंकार का होना आवश्यक है। इनके कुछ उदाहरण नीचे दिये जाते हैं—

१. विभावना—

बिन मुख खाइ चरन बिन चालै, बिन जिभ्या गुण गावै।

× × ×

बिनही तालां ताल बजावै, बिन मंदल पटताला॥
बिनां चोलनैं बिना कंचुकी, बिनहीं संग संग होई।
दास कबीर औसर भल देख्या, जांनैंगा जन कोई॥

२. असंभव—

बैल बियाय गाय भई बांझ, बछरा दूहे तीनों सांझ॥

३. असंगति

आगमि बेलि अकास फल। अणब्यावण का दूध॥

४. अधिक—

जिहि सर घड़ा न डूबता, अब मैंगल मलि मलि न्हाय।
देवल बूड़ा कलस सूं, पंखि तिसाई जाय॥

५. विषम—

आकासे मुखि औंधा कुआं, पाताले पनिहारि।

६. विरोध और विशेषोक्ति का संकर—

ठाढ़ा सिंह चरावै गाई।

कुछ आलोचकों का ऐसा विचार है कि उलटबाँसियों में अनिवार्य रूप से

रूपक-शैली होती है, यह भ्रम है। उलटबाँसी में रूपक हो सकता है किन्तु वह अनिवार्य नहीं है। उदाहरण के लिए हम नीचे-लिखी उलटबाँसी को ले सकते हैं—

पहले पूत पीछें भइ माइ, चेला कै गुर लागै पाइ।
जल की मछली तरवर ब्याई, पकड़ि बिलाई मुरगै खाई।
बैलहि डारि गूंनि घरि आई, कुत्ता कूं लै गई बिलाई॥

इसमें रूपक-शैली का कोई आग्रह नहीं दीख पड़ता। यह पहले ही बताया जा चुका है कि उलटबाँसी अनिवार्यतः विरोधमूलक एवं प्रतीक-प्रधान होती है।

जिस प्रकार यह कहा जाता है कि सूरदास का विषय-क्षेत्र संकुचित है, उसी प्रकार कुछ आलोचक कबीर के विषय-क्षेत्र को भी दार्शनिक एवं समाज की आलोचना से सम्बन्धित कहकर संकीर्ण कह देते हैं किन्तु जिस प्रकार सूर के उपमानों से दोष का परिहार हो जाता है उसी प्रकार कबीर के उपमानों से भी हो जाता है। मनोलोक और अध्यात्म-लोक की अनुभूतियों को प्रतीकों में भरकर कबीर ने जो करामात दिखाई है उसे देखकर दंग रह जाना पड़ता है। जायसी और तुलसीदास-जैसे दिग्गजों ने भी शब्दान्तर से कबीर की अनेक उक्तियों को दुहराया है।

समाज के सम्बन्ध में अपनी गहन अनुभूतियों की अभिव्यञ्जना कबीर ने अनेक स्थलों पर की है अथवा यह कह देना अनुचित न होगा कि दर्शन और प्रेम की सूक्ष्मतम अनुभूतियों को कबीर ने सामाजिक पहलू से समझाने की चेष्टा की है। एक उदाहरण देखिए—

सुरत ढींकुली लैज ल्यौ मनसा ढोलन हार।
कँवल कुआं मैं प्रेम रस पीवै वारंवार॥

इस साखी में ढींकुली-यन्त्र का चित्र प्रस्तुत करते हुए 'सुरत', 'लय', 'मन', 'कमल कूप' और 'प्रेम रस' का सम्बन्ध भी प्रकट कर दिया है। एक ओर आध्यात्मिक अनुभूति को सामने ला रखा है और दूसरी ओर सामाजिक व्यापार की एक छोटी-सी झाँकी प्रस्तुत की है। ऐसी झाँकियाँ कबीर की उलटबाँसियों में

बहुत आई हैं और उनमें अपना रंग और अपना मर्म है।

"कैसे नगरि करौं कुटवारी आदि" पद को देखकर यह अनुमान सरलता से लगाया जा सकता है कि कबीर की उलटबाँसियों का एक-एक प्रतीक अपने मर्म के लिए अनिवार्य है। प्रतीकों के पीछे छिपा हुआ अर्थ उद्घाटित होने पर जीवन और साधना सम्बन्धी अनुभूतियों के रहस्य का भी उद्घाटन हो जाता है। "इस पद में कबीर किसी ऐसे नगर की रक्षा अथवा शासन का प्रश्न उठाते हैं जहाँ का पुरुष तो चंचल स्वभाव का है, किन्तु उसकी नारी बुद्धिमती है और जहाँ की विचित्रता इस बात में देखी जाती है कि वहाँ पर प्रत्येक दिन सियार सिंह के विरुद्ध लड़ाई छेड़ा करता है, किन्तु स्वभावतः कृतकार्य नहीं हो पाता"। इससे नगर, पुरुष और नारी का रहस्य उद्घाटित हो जाने से हम मानव, मन और मनसा (कामना) तक जा पहुँचते हैं। फिर 'स्याल' को 'जीव' रूप में और 'स्यंघ' को काल रूप में प्रकट होने में देर नहीं लगेगी। इस प्रकार कबीर अपनी उलटबाँसियों में कभी-कभी जीवन की मनोवैज्ञानिक समस्याओं पर भी दृक्पात करने लगते हैं। जीवन और जगत् के पारखी और अन्तर के अनुभवी शोधी कबीर ने सामान्यतः अपनी सभी उक्तियों में बुद्धि और भाव के क्षेत्र का पर्यटन किया है किन्तु उलटबाँसियों में उनका जो अटूट सामञ्जस्य हुआ है वह हिन्दी-साहित्य को एक अपूर्व अनुदान है। उसका महत्त्व इसलिए भी है कि उत्तरकालीन सन्तों के लिए कबीर ने एक प्रशस्त मार्ग तैयार कर दिया।

उलटबाँसियों की परम्परा आगे भी चलती रही और कबीर की उलट-बाँसियों के अनुकरण में अन्य सन्तों ने भी रचनाएँ कीं और उन्होंने उनका अपनी-अपनी इच्छा से नामकरण किया। सुन्दरदास ने उनको 'विपर्यय' कहा, शिवदयाल ने उन्हें 'उलटी बात' नाम दिया, और तुलसी साहब ने उनको 'उलटी रीति' कहा। बंगला भाषा में भी ऐसे साहित्य की सृष्टि हुई जो विशेषतः गोरख-पंथ से सम्बन्धित है और उसके पद्यों को 'गोरखधंधे' की संज्ञा मिली। 'उलटा मंत्र' और 'उलटा बाउल' नाम भी बंगाल में ऐसी ही कृतियों के लिए प्रयुक्त हुए। 'उलटी बात' कहने की पद्धति लोक-काव्य और लोक-जीवन

तक में अपना घर कर गई है और 'गधा न कूदा कूदी गौन' जैसी अनेक कहावतें प्रयोग में आ रही हैं।

छन्द-विधान

यह तो पहले कहा ही जा चुका है कि कबीर पढ़े-लिखे नहीं थे। संभवतः उनको अक्षर-ज्ञान-मात्र था। मैं यह नहीं सोच सकता कि काव्यांगों की ओर उनका कोई प्रयत्न रहा या नहीं पर निःसन्देह वे भावाभिव्यक्ति अवश्य चाहते थे। उसी के अनुकूल उनकी जैसी-तैसी वाणी का विकास हुआ। संभवतः छन्द की छाँट के लिए कबीर कभी चिन्तित न हुए होंगे, उनके सामने सरल एवं लोक-प्रिय छंद दोहा था। वे इतने छोटे छंद के ढाँचे से परिचित अवश्य रहे होंगे, किन्तु दोहा भी उनकी सतर्कता का विषय नहीं दीख पड़ता। अतएव यह कहना अनुचित न होगा कि कबीर ने जो कुछ कहा वह स्वतंत्रता के प्रवाह में, अन्तर की प्रेरणा से कहा। उनके मानस में लहरित अनुभूतियाँ बाहर आने के लिए विकल हो रही होंगी, सत्त्वोद्रेक और लोक-कल्याण की भावना से प्रेरणा पाकर उन्मुक्त निर्झर के रूप में बाहर फूट पड़ीं। वे नैसर्गिक थीं, उन पर गुरुडम या अहंकार का रंग नहीं चढ़ा था इसलिए उन्होंने सदैव अभिव्यंजनीय को ही समक्ष रखा। अभिव्यंजना उनका साधन था, साध्य नहीं। वह हो गई, बस यही था। वह कैसी हुई, इस बात की चिन्ता संभवतः उन्होंने कभी नहीं की। दासी की भाँति अभिव्यक्ति कबीर की भावानुगामिनी रही और वे उससे तुष्ट थे, वह जैसी रही वैसी रही। परिणामतः कबीर की स्वतंत्र वाणी में न केवल शब्द ही खिचे-तने से दीख पड़ते हैं, अपितु छन्द भी गण और मात्राओं के बन्धन को नहीं सहते।

यों तो कबीर के पहले भाषा में बहुत से छन्द प्रचलित थे, किन्तु दोहा विशेष लोकप्रियता पा चुका था। छोटा, सरल, सतुक और समर्थ छंद दोहा भला जन-मन-मोहक क्यों न होता। रचना, स्मृति और आवृत्ति आदि अनेक दृष्टियों से दोहा का सौकर्य सिद्ध हो चुका था। लोक-भावों की जितनी संपत्ति दोहा में प्रकट होने को लालायित रहती थी, उतनी और किसी छन्द में नहीं। 'सहज' के समर्थक कबीर 'सहज अभिव्यक्ति' के भी समर्थक थे। सत्य के गवेषक होते हुए

भी वे प्रयोगवादी नहीं थे। प्रयोग प्रयत्नज होते हैं, अतएव वे 'सहज' के साथ संगत नहीं होते। इसलिए कबीर ने लोक-वाणी के समर्थ एवं सरल वाहक छंद 'दोहा' को ही विशेषरूप से समादृत किया।

कबीर-वाणी के नाम से प्रसिद्ध कृति को सामान्यतः तीन वर्गों में विभक्त किया जाता है: साखी, सबद या पद और रमैणी। रमैणी के कबीर-वाणी होने में विद्वानों को संदेह है। कबीर-पंथी सम्प्रदाय में समादृत 'बीजक' ग्रन्थ का महत्त्वपूर्ण अंश रमैणियां हैं। इनमें से कुछ रमैणियां आदि ग्रंथ में भी मिल जाती हैं किन्तु उन्हें किसी राग के नाम से ही व्यवस्थित किया गया है। इससे जान पड़ता है कि आदिग्रन्थ के संकलित होने तक 'रमैणी' शब्द का प्रयोग नहीं होता था। डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी का अनुमान है कि 'रमैणी' शब्द का प्रचलन बाद में हुआ। आगे चल कर कबीर-पंथी सम्प्रदाय में दोहे-चौपाइयों में लिखी बातों को 'रमैणी' कहना रूढ़ हो गया। बीजक में जिसे ज्ञान-चौंतीसा कहा गया है और आदिग्रन्थ में जिसे 'बावन आखिरी' कहा गया है उसे भी सं० १८८१ में लिखी हुई कबीर-ग्रन्थावली की 'ख'—प्रति में रमैणी कहा गया है। डा० द्विवेदी का तो यह भी अनुमान है कि दोहा-चौपाई में लिखी गई तुलसीकृत रामायण (रामचरितमानस) के प्रभाव ने कबीर-पंथियों को भी अपनी रामायण बनाने को प्रोत्साहित किया और ईसा की अठारहवीं शताब्दी में किसी समय 'रामायण' के अनुकरण में लिखित रचना को रमैणी का नाम दिया गया। बाद में चल कर कबीर-पंथी साधुओं ने ऐसी अनेक रचनाएं कीं और वे कबीर के नाम पर चल पड़ीं। रामरहेस साहबकृत 'अक्षरखंड की रमैणी' कबीर के नाम पर ही चलती रही। इसी प्रकार 'बलख की रमैणी' और 'पंज की रमैणी' हैं।

'रमैणी' में भी दोहा की प्रतिष्ठा अक्षुण्ण रही है। वहां दोहा का विशिष्ट पद रहा है और रमैणी को भी 'पद-गौरव' प्राप्त हुआ है। दुपदी, सतपदी, अष्टपदी, बारहपदी आदि शब्दों से रमैणी में दोहों की संख्या का बोध होता है। अनेक रमैणियों को देख कर यह कहना कठिन है कि दोहे का संबंध चौपाइयों के किसी विशेष क्रम के साथ रहा है। कभी तीन, कभी चार, कभी सात और कभी इसकी कई-गुनी चौपाइयों के बाद दोहा मिलता है। कबीर-ग्रन्था-

वली में संकलित रमैंणियां इस उक्ति की पुष्टि करती हैं।

रमैंणियों में प्रत्येक दोहे का स्थानीय मूल्य है। प्रत्येक दोहे में उसके ऊपर की चौपाई या चौपई का निचोड़ देते हुए निष्कर्ष प्रस्तुत किया गया है, मानों दोहा 'साखी' नाम को वहाँ भी सार्थक कर रहा है। प्रत्येक रमैंणी का अन्त दोहे से होता है और हर दोहा एक निष्कर्षात्मक परिवर्तन की सूचना है।

कबीर-वाणी में सबसे अधिक प्राचीन 'साखी' और 'सबद' हैं। 'सबद' को प्रायः 'पद' संज्ञा से ही अभिहित किया गया है। कबीर ने इन भिन्नार्थ-बोधक शब्दों को पर्यायवाचक के रूप में कैसे प्रयुक्त किया है? यह एक विचारणीय प्रश्न है। कबीर-वाणी में 'शब्द' का बड़ा महत्त्व है। कबीर ने शब्द की क्षमता को प्रकट करते हुए कहा है—

कबीर सबद सरीर में, बिनि गुण बाजै तंति।
बाहरि भीतरि भरि रह्या, ताथैं छूटि भरंति॥

कबीर शब्द का संबंध गुरु से जोड़ते हैं। यदि गुरु 'सिकलीगर' है तो शब्द 'मसकला' है और हृदय वह लौह-पट्ट है जिसको 'मसकला' फेर कर दर्पण बनाया जाता था—

सतगुर ऐसा चाहिए, जैसा सिकलीगर होइ।
सबद मसकला फेरि करि, देह द्रपन करै सोइ॥

कबीर ने शब्द को केवल हृदय-निर्मलकारी ही नहीं कहा, तीर भी कहा है जो सीधा हृदय में लगता है और अपना प्रभाव दिखाकर रहता है। इस तीर का चलाने वाला सद्गुरु होता है। सद्गुरु का शब्द-बाण माया-मल का विनाशक होता है। माया के आवरण को फाड़कर वह आत्म-ज्योति को मुक्त कर देता है, शब्द-विद्ध मनुष्य का मन चंचलता से मुक्त होकर एकाग्र एवं स्वस्थ हो जाता है—

सारा बहुत पुकारिया, पीड़ पुकारै और।
लागी चोट सबद की, रह्या कबीरा ठौर॥

इससे स्पष्ट है कि कबीर-वाणी में 'सबद' का आध्यात्मिक महत्त्व है। आत्मान्वेषी के लिए शब्द एक बड़ा भारी सहारा है, एक अनुपम प्रेरणा है। जिस

आध्यात्मिक महत्त्व से 'शब्द' युक्त है उसी से 'पद' भी। यदि 'शब्द' का संबंध अध्यात्म और आचरण से जोड़ा जा सकता है तो पद का भक्ति और आचरण से। दर्शन और भक्ति के क्षेत्र में दोनों शब्दों के उपयोग से इस उक्ति का समर्थन हो सकता है। कबीर का भक्ति-दर्शन उनके अध्यात्म-दर्शन से भिन्न नहीं है। गुरु का गौरव ज्ञान और भक्ति, दोनों क्षेत्रों में है। इसीलिए कबीर ने 'सबद' और 'पद' का पर्याय के रूप में प्रयोग किया। पावनता की भावना दोनों के साथ संबद्ध है।

कबीर के पद अध्यात्म, भक्ति और आचरण से संबंधित हैं। इनकी परम्परा बहुत प्राचीन है। पद-परम्परा का प्रचलित गेय-रूप कब से प्रारम्भ हुआ, यह कहना तो कठिन है किन्तु दसवीं-ग्यारहवीं शताब्दी में मात्रिक छन्दों के गेय-पदों में कृष्ण-लीला-गान करने की प्रथा अवश्य चल पड़ी थी। जयदेवकृत गीत-गोविन्द इसकी सूचना देता है।

गीत-गोविन्द ने गीतिकाव्य के क्षेत्र में संस्कृत-साहित्य में जो क्रान्ति की, वह किसी जादू का प्रभाव नहीं था। उसकी कोई लोक-परम्परा अवश्य रही होगी। इस प्रकार के गीत लोक-भाषा में प्रचलित रहे होंगे, जयदेव ने उन्हीं का अनुकरण किया होगा। भारत में गेय-पदों की परम्परा बहुत पहले से ही थी, बौद्ध-सिद्धों के गेय-पद इसके प्रमाण हैं। यह ठीक है कि सिद्धों के पदों में भक्ति की सरसता नहीं थी किन्तु बाद के गीतों में कृष्ण-लीला की सरसता भी समाविष्ट हो गई। लोक-भाषा में गेय-पदों का कृष्ण-लीलापरक साहित्य मिथिला के विद्यापति और बंगाल के चंडीदास नामक दो व्यक्तियों ने लिखा। डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी की मान्यता है कि श्रीकृष्ण-लीला से संबद्ध गेय-पद के साहित्य की उत्स-भूमि पूर्वी भारत ही है और वहीं से चलकर यह प्रथा पश्चिमी भारत में आई। बौद्ध-सिद्धों के गान, जयदेव का गीत-गोविन्द, विद्यापति और चंडीदास के पद इस प्रकार की मान्यता को बल देते हैं।

कबीर के पद ध्रुवक या टेक देकर लिखे गये हैं। यह प्रथा सूर, मीरां आदि में तो मिलती ही है, पहले भी थी। पूर्वी भारत में तो यह प्रथा थी ही, पश्चिमी भारत में भी थी। राजपूताना के नाथ-सिद्धों के भजन काफ़ी पुराने हैं और ग्रन्थ-

साहब में संगृहीत पश्चिम और दक्षिण प्रदेशों के भक्तों की इस श्रेणी की रचनाएँ प्राप्त हुई हैं। क्षेमेंद्र के 'दशावतार-चरित' में गोपियों के मुख से जो गीत गवाया गया है, वह गीतगोबिन्द की पद्धति का तो है ही, उससे प्राचीन भी है। अतएव यह अनुमान कर लेना भी अनुचित नहीं है कि पश्चिमी भारत की लोक-भाषा में भी उस प्रकार के गान प्रचलित थे। विद्वानों का मत है कि तानसेन और बंजूबावरा के पदों में इसी श्रेणी के गानों का संस्कार किया गया था और हो सकता है कि वल्लभाचार्य से मिलने से पहले सूरदास भी दैन्यभाव के भजनों के साथ इस जाति के भजन भी बनाया करते हों। कहने का तात्पर्य यह है कि पदों का प्रचलन जनता में बहुत प्राचीन काल से था। उनकी दो विशेषताएँ थीं : शृंगार और धर्म। कबीर के पहले शृंगार का जो स्वर पदों में मिलता था, कबीर ने उसको बहुत बदल दिया। उन्होंने शृंगार का आध्यात्मिक पक्ष ही ग्रहण किया। शृंगार के कायिक या स्थूल रूप को स्वीकार न करके भी कबीर के पदों ने लोक-गीतों की लोकप्रियता प्राप्त कर ली। इनका एक विशेष गुण मन को निर्मल एवं प्रसन्न बनाना भी है। उन्होंने स्वयं ही कहा है—'पद गाये मन हरखिया'। यद्यपि ये पद साहित्यिक दृष्टिकोण से नहीं बने थे और साहित्यिक कसौटी पर इनमें बहुत-सी खोट भी मिल सकती है, किन्तु इनकी अपनी विशेषता भी है। इनमें कबीर के समय तक चले आये हुए पदों की सटेकता, सरसता, नैतिकता, आध्यात्मिकता और लोकप्रियता एक ही साथ हैं। कबीर ने बौद्धों के धम्मपदों की नैतिकता एवं धार्मिकता सिद्धादि के पदों की प्रतीकात्मकता और विद्यापति, चंडीदास आदि के पदों की सरसता में लोकगीतों की सरलता एवं मोहकता मिलाकर पद-साहित्य को एक नया मोड़ दिया।

यों तो प्रत्येक युग अपनी नवीनता लेकर आता है और साहित्य उस नवीनता से अङ्कित हुए बिना नहीं रह सकता; धम्मपद, चर्यापद, विद्यापति, विष्णुदास और चंडीदास के पद—इन सभी पर युग-प्रभाव किसी-न-किसी रूप में परिलक्षित होता है, किन्तु कबीर के पदों में युग-प्रभाव के अतिरिक्त सारग्राहिता का लक्ष्य भी समाविष्ट है। पद के साथ धार्मिकता और पवित्रता का जो सम्बन्ध धम्मपद में अवतीर्ण हुआ था, वह विद्यापति के पदों में, यदि लुप्त-

प्राय नहीं तो विद्रूप अवश्य हो गया था। उन पर गहन लौकिकता छा गई थी, जिससे उद्धार करके कबीर ने उनको आध्यात्मिक प्रकाश दिया। रैदास, नानक, दादू, मलूक, सुन्दर, चरणदास आदि सन्तों की वाणी ही उससे आलोकित नहीं हुई, अपितु सूर, तुलसी, मीरां, नागरीदास, व्रजनिधि, प्रेमघन, भारतेन्दु आदि में भी वह प्रकाश किसी-न-किसी रूप में बना रहा।

लोक-जीवन या साहित्य में 'पद' का चाहे कोई अर्थ रहा हो और चाहे 'पद' शब्द के साथ कोई भावना सम्पृक्त रही हो, किन्तु उसके साथ धार्मिक या आध्यात्मिक महत्त्व किसी अंश तक अवश्य टँका रहा। उस महत्त्व की उपेक्षा आज तक न हो पाई। जिन पदों को देश में अभङ्ग, सबद, जपुजी, भजन आदि अनेक अभिधाएँ प्रदान की गईं उनकी पवित्रता लोक में अब भी सुरक्षित है। धार्मिक उत्सवों पर किसी देव-देवी से सम्बन्धित गीतों को, जिनका ढांचा बिल्कुल पदों का-सा होता है, आज भी धार्मिक सम्मान दिया जाता है। ऐसे गीत 'पद' या 'भजन' नाम से अभिहित होते हैं।

हां, जिसको आज हम गीत कहते हैं उसकी दो धाराएं दृष्टिगोचर होती हैं—धार्मिक और लौकिक। ये दोनों ही किसी-न-किसी रूप में पद-परम्परा का निर्वाह कर रही हैं। दोनों ही प्राचीन हैं। परिस्थितियों, सामाजिक मान्यताओं और साहित्यिक प्रवृत्तियों के कारण आज वे दोनों धाराएं स्पष्ट रूप से विभाजित दीख पड़ती हैं।

साहित्य के क्षेत्र से आज पद-संज्ञा विलुप्त हो चुकी है। छायावाद, यथार्थवाद, प्रगतिवाद और प्रयोगवाद में तो 'गीत' नाम प्रतिष्ठित है ही, रहस्यवाद के क्षेत्र में भी यही नाम चलता है। यदि प्राचीन गीत में अधिक धार्मिकता और साधना-परकता थी तो आधुनिक गीतों में अधिक साहित्यिकता है। पन्त, प्रसाद, निराला, महादेवी आदि के गीत इसका साक्ष्य देते हैं।

यदि ध्यान से देखा जाये तो नाम का भी एक इतिहास सामने आ जाता है जिसको कभी 'साम' कहते थे। क्या पता कि उसी ने लोक-वाणी में किसी और नाम की प्रतिष्ठा पा रखी हो। साहित्य में 'गान' और 'गीत' नाम भी प्रचलित रहे थे। 'गीत-गोविन्द' से ये दोनों बातें प्रकट हो जाती हैं, किन्तु

वौद्धों ने अपने धार्मिक साहित्य में 'पद' संज्ञा का प्रचलन करके एक समानान्तर नाम की सूचना दी है। सिद्धों के पद 'गान' नाम से भी प्रसिद्ध हो गए थे। सन्त-परम्परा में ये गीत 'पद' नाम से ही प्रचलित रहे। यह कहना कठिन है कि सन्तों ने 'पद' नाम को नाथों से लिया अथवा विद्यापति, नामदेव, चंडीदास आदि से। यह ठीक है कि कबीर इनको भी अच्छी तरह जानते थे, सम्भवतः उतनी ही अच्छी तरह जितनी अच्छी तरह कि वे नाथों को जानते थे। किन्तु इन लोगों के पदों के पहले भी एक परम्परा थी और वह सिद्ध-नाथों की थी। रामानन्द के पदों में एक मार्जित भक्तिस्वरूप दृष्टिगोचर होता है। अतएव कबीर ने 'पद' नाम को गुरु-धरोहर के रूप में ही प्राप्त किया था। यह उनका कोई नया आविष्कार नहीं था।

इस नाम को वल्लभानुयायियों ने तो निभाया, किन्तु तुलसीदास कृत गीतावली और विनय-पत्रिका में क्रान्ति दृष्टिगत होती है। तुलसीदास ने अपने पदों को 'विनय' और 'गीत' नाम से ही अभिहित किया है। यदि यह भी मान लिया जाय कि संस्कृत साहित्य में प्रचलित 'स्तुति' शब्द का प्रयोग तुलसीदास जी भाषा में इसलिए नहीं करना चाहते थे कि उसका एक अर्थ 'प्रशंसा' भी ग्रहण किया जाता था और उसमें वह शक्ति या योग्यता नहीं थी जो 'विनय' में, इसलिए 'विनय' शब्द का प्रयोग ही उन्हें अधिक रुचिकर प्रतीत हुआ, तो 'गीतावली' में 'गीत' शब्द का प्रयोग उन्होंने क्यों किया? सम्भवतः 'गीतावली' के रूप में गोस्वामी जी ने समाज को 'गीत' दिये थे जिनका सम्बन्ध केवल भक्तों से ही नहीं, जनसाधारण से भी है। भारतीय जीवन में जिन उत्सवों का प्रचलन है, गीत उनमें से किसी न किसी से सम्बन्ध अवश्य रखता है। इससे यह अनुमान लगा लेना अनुचित न होगा कि गीतावली के गीत जन-साहित्य की अमूल्य निधि हैं। फिर भी यह समझ में नहीं आता कि गोस्वामी जी ने अपने गीतों या विनयों को 'पद' अभिधा क्यों नहीं दी? सम्भवतः पदों की अपेक्षा उनको उक्त दो नाम ही अधिक उपयुक्त प्रतीत हुए थे। यह अनुमान कर लेना भी अनुचित न होगा कि जिन पदों में शृङ्गार किसी भी सीमा तक समाविष्ट हो सकता था, उनके नाम को तुलसीदास अपने 'विनतियों' और

'गीतों' को देना उचित नहीं समझते थे। जो हो 'पद' नाम की उपेक्षा में तुलसी की पदावली और गीतावली में क्रान्ति का साक्षात्कार अवश्य होता है।

कबीर ने 'पद' नाम को लेकर भी ऐहिक शृंगार को अपनी वाणी में समाविष्ट न होने दिया। यदि शृंगार के क्षेत्र में अवतीर्ण आध्यात्मिक प्रतीकों को भी भुला दें तो भी कबीर के शृंगारिक चित्रों में शृंगार का केवल साम्बन्धिक स्वरूप ही व्यक्त होता है। विद्यापति के शृंगारिक चित्रों का-सा कायिक या स्थूल स्वरूप तो किसी भी स्तर पर प्रकट नहीं हुआ। इसीलिए कबीर के पदों का आध्यात्मिक या नैतिक गौरव है। उसका अनुरक्षण परवर्ती संतसाहित्य में भी हुआ है और यह गुरु की धरोहर के उचित सम्मान के अनुरूप भी है।

कबीर के पदों में विषय की दृष्टि से प्रायः एकरूपता ही दिखाई पड़ती है। उनमें प्रायः साधनात्मक दृष्टिकोण का ही प्रतिफलन है। इन्हीं में अनुभूतियों के सरस चित्र भी प्रकट हुए हैं। वे किसी पद में 'जोगी' का, किसी में 'अवधू' का, किसी में राम की गति का, किसी में जगत् के स्वरूप का, किसी में राम की माया का, किसी में अपनी विवशता का और किसी में मन की विद्रूपता का परिचय देते हैं। प्रायः सभी पद आध्यात्मिक प्रेम-साधना की प्रेरणा व्यक्त करते हैं।

कबीर-ग्रन्थावली में दो स्थानों पर पद-संग्रह हैं : एक तो मूलग्रन्थ में, दूसरे परिशिष्ट में। मूलग्रन्थ में ४०३ पद हैं और परिशिष्ट में २२२ पद हैं। परिशिष्ट के पदों का संकलन गुरु-ग्रन्थसाहब में सम्मिलित कबीर-वाणी के आधार पर किया गया है, जबकि मूलग्रन्थ के पद स्वर्गीय डा० श्यामसुन्दरदास द्वारा उल्लिखित प्रति (क) और (ख) के आधार पर किया गया है। मूलग्रंथ के ४०३ पद १५ रागों में विभक्त हैं। स्पष्टतः यह विभाजन कबीर के बाद का है। हो सकता है कि ये पद कबीर के समय में ही रागों के अनुसार गाये गये हों, किन्तु कबीर ने इनकी रचना रागों के अनुसार की थी, ऐसा मानने के लिए कोई प्रमाण नहीं है। विभिन्न रागों में पदों का विभाजन इस प्रकार है—

	राग	पद-संख्या
१.	राग गौड़ी	१–१५२
२.	राग रामकली	१५३–२०१
३.	राग आसावरी	२०२–२९९
४.	राग केदारा	३००–३१९
५.	राग मारू	३२०–३२२
६.	राग टोडी	३२३–३२४
७.	राग भैरूं	३२५–३७१
८.	राग बिलावल	३६२–३७३
९.	राग ललित	३७४–३७६
१०.	राग बसंत	३७७–३८९
११.	राग माली गौड़ी	३९०–३९२
१२.	राग-कल्याण	३९३
१३.	राग सारंग	३९४–३९५
१४.	राग मलार	३९६–३९७
१५.	राग धनाश्री	३९८–४०३

इन पदों के निर्माण के सम्बन्ध में कोई विशेष नियम दृष्टिगोचर नहीं होता। हाँ, मूल ग्रन्थ के ४०३ पदों में 'टेक' अनिवार्य रूप से मिलती है। इनमें टेक का रूप कई प्रकार का दीख पड़ता है। टेक के सामान्यतः तीन रूप दिखाई देते हैं—(१) द्विचरणीय (२) त्रिचरणीय और चतुश्चरणीय।

पहले प्रकार की टेक दो चरणों में होती है। वे कभी (क) एक पंक्ति में और कभी (ख) दो पंक्तियों में मिलते हैं, जैसे—

(क) हरिकौ नांव न लेहु गंवारा, क्या सोचै बारंबारा।

(ख) बहुत दिनन थैं मैं प्रीतम पाये, भाग बड़े घरि बैठें आये॥

दूसरे और तीसरे प्रकार की टेकें दो-दो ही पंक्तियाँ घेरती हैं, किन्तु एक में तीन चरण होते हैं और दूसरी में चार चरण। तीन चरण वाली टेक में एक चरण ऊपर होता है और दो चरण नीचे, जैसे—

वै दिन कब आवेंगे माइ।
जा कारनि हम देह धरी है, मिलिवो अंग लगाइ॥

चार चरणवाली टेक में दो पंक्तियाँ होती हैं, जैसे—

कुसल खेम अरु सही सलांमति, ए दोइ काकों दीन्हां रे।
आवत जात दुहूंघां लूटे, सर्व तत्त हरि लीन्हां रे॥

चार चरणों की टेकों में कभी-कभी किसी दोहे को ही टेक के रूप में प्रयुक्त कर लिया गया है और दूसरे और चौथे चरण के तुकों के साथ 'रे' को भी जोड़ दिया गया है, जैसे—

मन के मोहन वीठुला, यहुमन लागौ तोरि रे।
चरन कंवल मन मांनियां, और न भावै मोहि रे॥

टेक के लिए कबीर के पदों में चौपाई के दो चरणों का प्रयोग भी कर लिया गया है, जैसे—

इव न रहूं माटी के घर मैं, इव मैं जाइ रहूं मिलि हरि मैं।
वावा जोगी एक अकेला, जाकै तीर्थ व्रत्त न मेला।
जाइ परी हमरी का करिहै, आप करै आपै दुख भरिहै॥

हरि जननीं मैं वालिक तेरा।
काहे न औगुंण वकसहु मेरा॥
हरिकै नांइ गहर जिनि करऊं,
रांम नांम चित मुखां न धरऊं॥
छाकि परचौ आतम मतिवारा,
पिवत रांम रस करत बिचारा॥
जे को मरै मरन है मीठा,
गुर प्रसादि जिनहीं मरि दीठा॥

कहीं-कहीं पद-टेक में चौपाई का उपयोग भी हुआ है, जैसे—

कौंन मरै कहु पंडित जनां, सो समझाइ कहो हम सना॥

कहीं-कहीं दोहा के दो चरण ही टेक के रूप में प्रयुक्त हुए हैं, जैसे—

दास रामहीं जानिहै (रे), और न जानैं कोइ।

अथवा चौपाई और दोहे का एक-एक चरण लेकर या इन छंदों के ही किसी मेल से टेक बनाई गई है। इसके अतुक और सतुक, दोनों रूप दीख पड़ते हैं।

कहने का आशय यह है कि कबीर के पदों में अधिकांशतः दोहा, चौपाई या चौपई का चमत्कार ही दिखाई देता है। विद्वान् लोग कुछ कारणों से रमैणी को कबीर-वाणी से निकाल सकते हैं, किन्तु दोहा-चौपाई (चौपई) भी कबीर की वाणी के प्रमुख 'साँचे' थे, इस तथ्य की उपेक्षा नहीं की जा सकती।

साखी—

साखी में एकमात्र 'दोहा' का प्रयोग है। साखी के अन्तर्गत कभी-कभी सोरठा का प्रयोग भी दृष्टिगोचर होता है। दोहा का प्रयोग कबीर से कई शताब्दियों के पूर्व ही हो चुका था। आधुनिक शोधों से यह सिद्ध हो चुका है कि दोहा अपभ्रंश का छन्द है। कबीर ने अपने समय में दोहा को बहुत लोक-प्रिय पाया होगा। कबीर ने दोहे को संभवतः इतना साहित्य-परम्परा से प्रेरित होकर स्वीकार न किया होगा, जितना लोक-परम्परा से।

यह ठीक है कि कबीर से पूर्व दोहा छन्द की एक दीर्घ परम्परा मिलती है, किन्तु 'साखी' नाम की कोई परम्परा नहीं मिलती। पिंगलाचार्यों ने दोहा के तेईस भेद तक माने हैं, किन्तु 'साखी' नाम का उल्लेख किसी आचार्य ने नहीं किया। ये भेद रूप-विधान की दृष्टि से किये गये हैं, किन्तु 'साखी' नाम में रूप-विधान कोई कारण नहीं बनता। यदि रूप-विधान 'साखी' नाम का कारण बनता तो कबीर के दोहों के अनेक नाम हो जाते, क्योंकि गुरु, लघु, यति, विराम आदि की दृष्टि से कबीर के दोहों में अनेकरूपता मिलती है। मैं समझता हूँ इस नाम के पीछे कोई साहित्यिक कारण खोजना व्यर्थ है। अवश्य ही इस नाम के जन्म में कोई मनोवैज्ञानिक प्रेरणा रही है।

'साखी' नाम 'रमैणी' की तरह कबीर के बाद का नहीं है। कबीर की रचनाओं में 'साखी' और 'सबद' बहुत पुराने हैं। 'साखी', 'सबदी', 'दोहरा' नामों से महात्मा तुलसीदास भी अभिज्ञ थे। कबीर की वाणी में 'साखी' नाम प्रयुक्त हुआ है और यह दो अर्थों में—(१) एक तो साक्षी के अर्थ में

और (२) दूसरे, दोहा-रचना के अर्थ में।

पद गाये मन हरषिया, साषी कह्याँ अनन्द।
सो तत नांव न जाणियां, गल में पड़िया फन्द॥
स्वास सुरति के मध्य ही, न्यारा कभी न होय।
ऐसा साखी रूप है, सुरति-निरति से जोय॥

दूसरे दोहे में 'साखी' शब्द अपने मूल अर्थ (साक्षी-गवाह) में प्रयुक्त हुआ है और पहले दोहे में दोहा के नाम का बोधक है। इन दोनों अर्थों से 'साखी' नाम की व्युत्पत्ति सामने आ जाती है। डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने इस शब्द की व्युत्पत्ति 'साक्षी' शब्द से मानी है, जो प्राकृत शब्द 'सक्खि' में होकर भाषा में 'साखी' रूप में अवतीर्ण हुआ है।

लोक में किसी घटना को देखने वाले व्यक्ति को साक्षी या साखी कहते हैं। प्रत्यक्षीकरण के कारण साक्षी घटना को प्रमाणित कर सकता है, किन्तु ऐसा व्यक्ति केवल स्थूल घटना को ही देख पाता है। वह अन्तर्लोक की घटनाओं को, भावोदय को नहीं देख सकता, अतएव सबसे बड़ा साक्षी वह है जो अन्तर्लोक को भी निरन्तर देखता रहता है। साक्षी का यही रूप ऊपर कहे हुए दूसरे दोहे में प्रकट हो जाता है। श्वेताश्वतर उपनिषद् में परमात्मा को साक्षी कहा गया है—

'एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा।
कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च।

कबीर के पाठक जानते हैं कि वे आत्मा और परमात्मा में अभेद मानते हैं। अतएव कबीर के शब्दों में 'आत्मा' को साक्षी मानना अनुचित नहीं है।

कहने की आवश्यकता नहीं कि कबीर की साखियों में उनकी आध्यात्मिक अनुभूतियां भरी हुई हैं। उनमें आत्म-साक्ष्य है, कबीर की आत्मा की गवाही है। कबीर के अनेक दोहों से यह प्रमाणित किया जा सकता है कि उनमें उनके कर्ता की अनुभूति व्यक्त हुई है। 'सतगुर' कै सदकै करूँ दिल अपणीं का साछ' कह कर, कबीर ने अपने इसी साक्ष्य की दुहाई दी है। कबीर की साखी में आत्म-साक्ष्य तो है ही, आत्मा (परमात्मा) की प्रेरणा भी है—

हरिजी यहै विचारिया, साषी कहौ कबीर।
भौसागर में जीव हैं, जे कोइ पकड़ै तीर॥

इस आत्म-प्रेरणा में भूत-दया का विशेष स्थान है। यह बात उक्त साखी से प्रकट हो जाती है। अपनी अनुभूतियों को सामने लाकर कबीर 'भवसागर के जीव' को पार लगाने की कामना करते हैं, अतएव 'साखी' कहने का लक्ष्य भी स्पष्ट हो जाता है—

जीव दया चित राखि कै, साखी कहै कबीर।
भवसागर के जीव को, आनि लगावै तीर॥

'साखी' में आत्मानुभूति भरी पड़ी है, इसका प्रमाण सन्तों की ही वाणी है। इसी अभिप्राय की एक साखी देखिए—

साखी आँखी ज्ञान की, समझ देख मन माँहि।
बिन साखी संसार के, झगड़ा छूटत नाँहि॥

इस विवेचन के आधार पर यह तो सिद्ध हो जाता है कि 'साखी' शब्द का प्रयोग स्वयं कबीर ने भी किया था, किन्तु क्या यह शब्द इसी अर्थ में कबीर के पहले भी मिलता था, यह एक प्रश्न है। कुछ लोगों का कहना है कि 'योगेश्वरी साखी' नामक ग्रन्थ और उसके नाम से यह सिद्ध होता है कि 'साखी' नाम का प्रयोग गोरखनाथ ने भी किया था। इसी प्रकार 'नामदेव की साखी' नामक ग्रन्थ के आधार पर दोहे के लिए 'साखी' नाम को कबीर से पहले का सिद्ध करने का प्रयत्न किया गया है। यदि उक्त ग्रन्थों के नाम 'साखी' से संबद्ध करके लिख दिये गये तो इसका यह अभिप्राय नहीं होता कि यह 'नामकरण' भी इतना ही प्राचीन होगा जितने प्राचीन उक्त ग्रन्थ हैं। किन्हीं प्रौढ़ प्रमाणों के अभाव में 'साखी' नाम को गोरखनाथ या नामदेव से संबद्ध करना उचित नहीं दीख पड़ता। यदि यह भी मान लिया जाये कि दोहा के लिए 'साखी' नाम का प्रयोग कबीर से पहले भी होता था तो भी यह मानना ही पड़ेगा कि कबीर के दोहों के सम्बन्ध से इस नाम ने बहुत यश प्राप्त किया।

कबीर के सब दोहे 'साखी' नाम से अभिहित हैं, ऐसा कोई अन्तःसाक्ष्य नहीं है, किन्तु कबीर के दोहे दो वर्गों में रखे जा सकते हैं—मुक्त-दोहा और

युक्त-दोहा। सम्भवतः कबीर का मुक्त-दोहा ही 'साखी' अभिधा का अधिकार प्राप्त कर सका है। युक्त-दोहा ने अपनी इस अभिधा को 'पद' में विलीन कर दिया है। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि युक्त-दोहा आत्मसाक्ष्य के गौरव से वंचित है।

कबीर-वाणी के साखी-अंश में धर्म, दर्शन, भक्ति, नीति आदि विषयों के सम्बन्ध में गहन अनुभूत तथ्यों पर प्रकाश डाला गया है। कबीर साधु-सन्त अवश्य थे, किन्तु इससे यह न समझ लेना चाहिए कि उनकी सभी साखियाँ साधनापरक हैं। जो साधनापरक हैं वे वैयक्तिक अनुभूतियों से पूर्ण हैं किन्तु जिनमें समाज के अन्तर का चित्रण है वे भी कबीर की अपनी अनुभूतियों का प्रतिफल हैं क्योंकि कबीर की अनुभूतियां जितनी व्यक्ति-सम्पृक्त हैं उतनी ही समाज-सम्पृक्त भी। कबीर की आध्यात्मिक तथा साधनात्मक अनुभूतियों की गहनता व गंभीरता गूढ़ एवं व्यक्तिपरक है तथा उनकी सामाजिक अनुभूति सामान्य और स्पष्ट है। कबीर की साखियाँ ५९ अंगों में विभक्त हैं। इस विभाजन से साखियों के विषय की विविधता प्रमाणित हो जाती है।

५९ अंगों में विभक्त साखियाँ विषय-भेद की सूचना देती हैं। यह समीकरण आवृत्तिपूर्ण भी है। स्मरण की सुविधा के लिए कबीर की साखियों को निम्नलिखित स्थूल भेदों में रख सकते हैं :—

(क) सामाजिक आलोचना (ख) प्रेम और भक्ति (ग) दर्शन (घ) मन (ङ) वैराग्य (च) योग (छ) गुरु (ज) नीति और धर्म।

छन्द-नियम की दृष्टि से कबीर की साखियों को दो वर्गों में रखा जा सकता है—(१) अभंग और (२) सभंग। अभंग साखियों में दोहा के शास्त्रीय नियम के अनुरूप मात्रा, यति और तुक की ठीक व्यवस्था हो गई है, जैसे—

> जिहि पैंडै पंडित गए, दुनिया परी बहीर।
> औघट घाटी गुर कही, तिहिं चढ़ि रह्या कबीर॥

इस साखी के पहले और तीसरे चरण में तेरह-तेरह मात्राएँ हैं और दूसरे और चौथे चरण में ग्यारह-ग्यारह मात्राएँ हैं। दूसरे और चौथे चरण के अन्त में एक-एक गुरु और लघु के साथ तुक के नियम का निर्वाह किया गया

है। अतएव इसको 'अभंग' नाम देना उचित ही है। ऐसे दोहों का कबीर की साखियों में अभाव नहीं है। कबीर की साखियों में सभंग दोहे भी बहुत हैं। इनकी सभंगता का कारण कबीर की स्वच्छंदता है। अर्थाभिव्यक्ति के झोंके में उनकी वाणी वही चली जाती थी जिससे यति, गति, दोनों ही बाधित हो जाते थे। अधिक पदत्व या न्यूनपदत्व की बात कबीर-वाणी में इतनी प्रबल नहीं है जितनी मात्राओं के अधिकत्व या न्यूनत्व की बात है। इसका परिणाम यह हुआ है कि दोहा की आकृति और प्रकृति ही भिन्न हो गई है। इस दोष का एक कारण उच्चारण और लेखन का विभेद भी हो सकता है। कबीर द्वारा कहे गये ये दोहे किसी अन्य व्यक्ति ने ही लिखे होंगे और यह बहुत संभव है कि उच्चारण और लेखन में तालमेल पैदा न होने से भी नियम-भंग दिखाई पड़ने लगा हो। उदाहरण के लिए नीचे लिखी साखी को लिया जा सकता है—

श्रग नृक थैं हूँ रह्या, सतगुर के प्रसादि।
चरन कवंल की मौज मैं, रहिस्यूं अंतिरु आदि॥

इस साखी के अंकित शब्दों को देख कर यह अनुमान लगाना भी अनुचित न होगा कि कबीर के मुँह से श्रग का श्रग, या 'सर्ग', 'नृक' का नृक्क या नर्क तथा 'प्रसादि' का परसादि या प्रस्सादि उच्चारण हुआ हो। इस दशा में मात्रा-दोष का परिहार हो जाता है; किन्तु यह एक संभावना ही है। कबीर की ऐसी भी तो बहुत सी साखियाँ मिलती हैं जिनमें अतिरिक्त अक्षरों के योग से मात्राएँ बढ़ गई हैं, जैसे—

आधी सापी सिरि कटै, जोर विचारी जाइ।
मनि परतीति न ऊपजै, तौ राति दिवस मिलि गाइ॥

इसमें चतुर्थ चरण में 'तौ' अतिरिक्त वर्ण है। इससे इसकी दो मात्राएँ बढ़ गई हैं। स्पष्ट है कि अभिव्यक्ति के प्रवाह में इसका आगम हुआ है।

कबीर की साखियों की संख्या के सम्बन्ध में भी विद्वानों में मत-भेद चल रहा है। नये-नये शोधों से मान्यताएँ अन्यथा सिद्ध होती चली आ रही हैं। साथ ही विद्वान् लोग भी अपने तर्कों से कुछ तथ्य घटाते-बढ़ाते जा रहे हैं। सं० १५६१ की प्रति में जो कबीर के शिष्य मलूकदास की संगृहीत बताई

जाती है, साखियों की संख्या आठ सौ दस मिलती है। डा० श्याम-सुन्दरदास ने भी इसी को प्रामाणिक माना है। सं० १८८१ की प्रति में पहली प्रति से एक सौ इकत्तीस साखियां अधिक हैं। कबीर-ग्रन्थावली के परिशिष्ट में एक सौ बानवे साखियाँ और अधिक हैं, जो गुरुग्रन्थ साहब से उद्धृत की गई हैं। डा० मुन्शीराम ने साखियों की संख्या ८१६ बतलाई है। साखियों की कोई संख्या उस समय तक निश्चित नहीं की जा सकती जब तक कि संग्रहकर्ता, समय, स्थान और उसकी शिक्षा-दीक्षा का समुचित पता न लग जाये। इसमें सन्देह नहीं कि अनेक प्रतियों से कबीर-वाणी के नवीन संग्रह में बहुत बड़ी सहायता मिल सकती है, किन्तु कबीर की जो वाणी शिष्य-क्रम से देश-भर में फैल गई, उसकी संख्या कहीं कम कहीं अधिक हो सकती है। जिसके पल्ले जितना पड़ गया, उसने उतना गिरह बाँध कर रख लिया। बाद में अभी तक सम्भवतः कोई भी ऐसा प्रयास न हुआ हो जो गुरु-वाणी को समग्रता में प्रस्तुत करता। अतएव यह सम्भव ही है कि कबीर-वाणी अभी विकीर्ण ही पड़ी हो। फिर किसी नियत संख्या के सम्बन्ध में मत देना—इत्थमिदं कहना संगत न होगा।

संख्या के अतिरिक्त कबीर की साखियों के सम्बन्ध में एक धारणा यह भी चल पड़ी है कि उनमें कबीर का कुछ नहीं है। उनमें दूसरों के अपहृत भाव हैं और तो और, उनकी भाषा तक पूर्वजों की है। 'ढोला मारूरा' के सम्पादकों ने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया कि 'ढोला' के दूहों से साखियों के भाव ही नहीं, भाषा भी मिलती है। इस सम्बन्ध में मैं कुछ और भी अधिक कहना चाहता हूँ कि कबीर ने अपनी वाणी का आधार केवल 'दूहा' को ही नहीं, अन्य रचनाओं को भी बनाया है—हाँ, उस रचना को जिसका लोक में काफ़ी सम्मान हो चुका था और जिसमें कुछ तथ्य दृष्टिगोचर होता था। इसलिए केवल 'दूहा' को ही याद रखना ठीक नहीं है। कबीर-वाणी के सहयोगी उपनिषद्, पुराण, गीता आदि महान् ग्रन्थ भी हैं। कबीर तो सारग्राही थे। उनको अच्छाई जहां-कहीं मिली, खोज ले आये और अपना रस मिलाकर मधुमक्षिका की भाँति मधु-दान दिया। कबीर ने ही ऐसा नहीं किया। ऐसे आधारों की खोज किसी भी बड़े कवि की वाणी में की जा सकती है। सूर, तुलसी, केशव, बिहारी

आदि सभी की वाणी इस दृष्टि से कबीर की वाणी की कोटि में आ सकती है। अस्तु, यदि उक्त कवियों की वाणी का मर्म इससे क्षीण नहीं होता तो कबीर-वाणी के मर्म के क्षीण होने का भी कोई प्रश्न नहीं उठता। यह कहना उचित ही है कि सारग्राही कबीर ने अपनी वाणी के लिए जहाँ-कहीं सार मिला, उठा लिया और उसका पावनतम उपयोग किया। 'दूहा' के शृङ्गार के दोहे लेकर और उनको शृङ्गार में ही लगाकर उनमें आध्यात्मिक गौरव भर दिया। कबीर की साखियाँ इस गौरव से संयुक्त हैं। एक ओर साखियों में शृङ्गार है, दूसरी ओर वीर है, तीसरी ओर शान्त है और चौथी ओर बीभत्स है। भयानक आदि भी इसी प्रकार साखियों के सहयोगी हैं, किन्तु सब के सब एक ही दिशा के सूचक हैं, आध्यात्मिक मार्ग के प्रेरक हैं, कबीर की सभी साखियाँ मन को शोध-दिशा में प्रेरित करती हैं। उपदेश, नीति, धर्म, दर्शन और आलोचना के मध्य में प्रेम और भक्ति की सरसता भी इन्हीं साखियों में है। यदि कला के क्षेत्र में भी इन साखियों में कुछ खोजें तो एक अनूठी अभिव्यञ्जना-शैली भी मिल जाती है। कबीर ने अपनी साखियों में साधारण जीवन में प्राप्त प्रतीक-योजना को अपनाया है और लघु जीवन के प्रतीकों से वे अपने भाव को ऊँचा चढ़ा ले गये हैं। अभिव्यञ्जना के क्षेत्र में कबीर का यह गुण सराहनीय है।

अतएव यह कहना कि कबीर ने भावापहरण किया है, कुछ अर्थ नहीं रखता; क्योंकि भाव को एक दिशा देकर कुछ मुड़े हुए रूप में, कुछ अपने शब्द-योग के साथ व्यक्त करने से उन्होंने उसमें भाव-सौन्दर्य और अभिव्यक्ति-सौन्दर्य दोनों का समावेश कर दिया है। इससे सब कुछ औरों का होते हुए भी कबीर ने उसे अपना बना लिया है। प्रत्येक मनीषी कवि की यही विशेषता होती है। कबीर की साखियाँ उपयोगिता की दृष्टि से, मानव-जीवन के निकट की हैं। वे कहीं की भी हों, उन्हें हमने कबीर के पास देखा है; वे कबीर के भाव से स्निग्ध हैं, इसलिए हम उन्हें कबीर के अधिकार से वंचित नहीं कर सकते।

आलोचना-पद्धति

कबीर अपने समय के आलोचक थे। उन्होंने सतत सतर्क होकर समाजगत सत् और असत् को पूर्णरूप से परखा। सामाजिक सुरूप सत् का समादर किया, उस पर सन्तोष प्रकट किया और बड़ी सूक्ष्मेक्षिका से अपरूप असत् को भी निरखा, और उसकी निन्दा की। सुरूप और कुरूप दोनों सामाजिक पक्षों पर ध्यान रखते हुए भी उन्होंने कुरूप को बड़ी सूक्ष्मता से देखा। समाज की छोटी से छोटी बुराई भी उनकी दृष्टि से दूर न हो सकी। उसके निकाल फेंकने के लिए उन्होंने आलोचना एवं भर्त्सना का मार्ग अपनाया।

कबीर का लक्ष्य आलोचना करना नहीं था। वे आलोचना के लिए आलोचना नहीं करते थे, आलोचना तो समाजगत विरूप के विरुद्ध युद्ध करने के लिए अस्त्र था। इसलिए इनकी आलोचना को निन्दा के क्षेत्र में नहीं रख सकते। निन्दक का लक्ष्य तो व्यक्ति या समाज में मिथ्यावाद से कलहादिक दोषों का बीजारोपण करना है पर आलोचक का लक्ष्य व्यक्ति या समाज के दोष घोषित कर दोनों को शिवरूप बनाना होता है।

कुछ लोग कबीर को ईश्वर-भक्त कह कर उन्हें अन्य क्षेत्रों में खींच लाने का प्रयास करते हैं। यह ठीक है कि ईश्वर-भक्त को अणु-अणु में कण-कण सर्वत्र ईश्वर की सत्ता का अनुभव होता है; वह सबको समान समझता है; वह सबके प्रति प्रेम और दया-भाव रखता है। जीव प्रेम को ईश्वर-भक्त ईश्वर-प्रेम से भिन्न नहीं समझता, किन्तु कबीर की स्थिति दूसरी है। वे एक क्रान्ति-कारी व्यक्तित्व लेकर उत्पन्न हुए थे। सामाजिक रूढ़ियों और विषमताओं ने उनको विकल कर दिया था। वे उनको मिटा कर समाज में समता की प्रतिष्ठा चाहते थे। कबीर का 'भक्त' उसी समता की लड़ी की एक कड़ी है। कबीर के मत में विकसित व्यक्तित्व ही भक्ति है। साधना के पथिक होने के नाते उनका सम्बन्ध पहले समाज से हुआ है, फिर ईश्वर से। सामाजिक संवेदना ने ही उन्हें

ईश्वरोन्मुख किया क्योंकि समाज को एकसूत्र में बाँधने के लिए, उसमें भ्रातृत्व की भावना भरने के लिए पहले पितृत्व की प्रतिष्ठा अपेक्षित है।

कबीर की आलोचना का उद्भव साम्य की भावना है, उसमें आज की-सी निरीश्वरता नहीं, यांत्रिक जड़ता नहीं। उसका धरातल प्रेम और विश्वास है। उसका मूल सत्य और अहिंसा है। उसकी साधना सरल और सुबोध है। अहंकार, दम्भ, पाखंड, स्वार्थपरता, छल, निन्दा, भेद आदि उसके विरोधी भाव हैं। उनमें कबीर का साम्यवाद नहीं पनप सकता। वह किसी महेश या नरेश की नीति से सम्बन्धित नहीं है। उसका क्षेत्र मानवता है। उसका सहज कोमल स्पर्श प्रत्येक व्यक्ति को मुग्ध कर देता है। जो सब जीवों में परमात्मा की सत्ता का अनुभव नहीं करते, उनको कबीर भ्रान्त मानते हैं और वे शीघ्र ही कह डालते हैं—

यह सब झूठी बंदगी, बरियाँ पंच निवाज।
साचैं मारै झूठ पढ़ि, काजी करै अकाज॥

कबीर के साम्यवाद ने संकीर्णता का, सम्प्रदायवाद का बहिष्कार कर दिया है, किन्तु धर्म के व्यापक रूप (मानवता के आधारभूत रूप) के प्रति उसका आग्रह है। वे राम-स्नेही को ही सच्चा मानव मानते हैं क्योंकि वही सत्य का वास्तविक रूप समझता है, वही अहिंसा का सम्मान करता है और वही एकता का पुजारी है। इसलिए कबीर शाक्त और ब्राह्मण से दूर रह कर ईश्वर-भक्त के प्रति आकर्षण व्यक्त करते हैं—

सापत बांमण मति मिलैं, बैसनौं मिलै चंडाल।
अंकमाल दै भेटिये, मानौं मिले गोपाल॥

कबीर का साम्यवाद वह साम्यवाद है जिसमें व्यापक एवं उदार धर्म है, सर्व-व्यापक ईश्वर है; मन्दिर, मस्जिद और गिरजा की सीमाओं में सीमित नहीं। उसकी साधना में सरलता है, कोमलता है, लक्ष्य में एकता है जिसकी सत्ता समाज को प्रेम-मग्न और व्यक्ति को भाव-विभोर कर देती है। वह एक आदर्श है जिसकी ओर कबीर के प्रयत्न यथार्थ को प्रेरणा दे रहे हैं।

इसी साम्य की प्रतिष्ठा के लिए कबीर ने सामाजिक विकृतियों की निन्दा

की है। वे विकृतियों का विनाश चाहते हैं, व्यक्तिमात्र को उनसे मुक्ति चाहते हैं। लौकिक विकृतियों से निकाल कर वे मानव को उस स्थिति में देखना चाहते हैं जिसे लोक-भाषा में साम्य कहते हैं और जिसे दार्शनिक परिभाषा में आत्म-साक्षात्कार भी कहते हैं। विकृतियों के निवारण के निमित्त वे भर्त्संना तक का प्रयोग कर डालते हैं जिससे उनकी वाणी कटु और कर्कश प्रतीत होने लगती है।

अपने समय और समाज की कुत्साओं और आवश्यकताओं से कबीर इतने सुपरिचित थे कि उनका ध्यान उनसे हटता ही न था। उन्होंने गोपीचन्द, गोरखनाथ, नामदेव और जयदेव का स्मरण लोगों को इसलिए दिलाया कि वे उनके मार्ग का अनुसरण करें अन्यथा कल्पना के भीने आवरण से भूत के स्वर्ण-लोक की ओर देखने की उन्हें कभी चिंता नहीं हुई। यदि उनका ध्यान कभी उस ओर गया भी तो भक्ति, प्रेम और ईश्वरीय न्याय को प्रमाणित करने वाली प्रथित घटनाओं अथवा अनुश्रुतियों से प्रेरणा लेकर। उन्होंने अपने समय की कुत्साओं और रूढ़ियों पर और भी अधिक निर्मम आघात किये। एक महान् आत्मा को धारण करने के कारण वे विचक्षण भविष्य-द्रष्टा थे। आदर्श की मधुमयी भूमिका पर वे एक ऐसे समाज की कल्पना करते थे जो सुख-दुख के द्वन्द्वों से परे है, जहाँ व्यक्ति वर्ण और जाति के बन्धनों से मुक्त है और जहाँ अखंड प्रेम की ही अनुभूति शेष है :—

कबीर हम वासी उस देश के, जहँ जाति वरण कुल नाहि।
शब्द मिलावा होइ रहा, देह मिलावा नाहि॥

सामान्य दृष्टि से उक्त उद्धरण में आध्यात्मिक अनुभूति की विशुद्धता ही दृष्टिगोचर होती है, परन्तु सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण हमें गहराई में जाने को प्रेरित करता है। वस्तुतः वर्तमान जीवन के अभावों ने प्रक्षिप्त होकर कबीर के अन्तर में इस निराले भाव-लोक की सृष्टि की जिसमें शब्द-ब्रह्म का आनन्द-मय मिलन है और जहाँ जड़-अचेतन की कलई खोल दी गई है। इस लोक में वे सबको प्रतिष्ठित करना चाहते हैं क्योंकि उसी स्तर पर स्थिति एकता है। सत्य का न्यायमय पथ ही इसका सरल एवं सीधा मार्ग है। उन्हें अपने समय में

जो बुराइयां दृष्टिगत हो रही हैं उनमें विषमता का विलास है, असत्य और अन्याय की क्रीड़ा है। फिर भी दंभी और पाखण्डी लोग उसे वेष द्वारा छिपाने का प्रयत्न करते हैं। कबीर उनको चेतावनी देते हैं कि उनका यह मिथ्याचार उनको मुक्त नहीं होने देगा—

का नांगे का बांधे चाम, जौ नहीं चीन्हसि आतम राम।
नांगे फिरें जोग जे होई, वन का मृग मुकति गया कोई॥
मूंड मूंडायें जौ सिधि होई, स्वर्ग ही भेड न पहुंती कोई॥
व्यंद राखि जे खेलै है भाई, तौ षुसरै कौंण परम गति पाई।
पढ़ें गुनें उपजै अहंकारा, अधधर डूबे वार न दारा।
कहै कबीर सुनहु रे भाई, राम नाम बिन किन सिधि पाई॥

कबीर जानते थे कि मन्दिर और मस्जिद समाज की एकता को खंडित करने वाले हैं, अतएव उनके सम्बन्ध में जो भ्रम था उसके विरुद्ध उन्होंने एक बहुत ऊंची आवाज़ उठाई। यदि परमात्मा मूर्ति में रहता है, मन्दिर में उसका निवास है और अल्लाह मस्जिद में रहता है तो दूसरे स्थानों में किसका वास है, उनका स्वामी कौन है—

अल्लह एकु वसीति मसतु है, अवर मुलकु किसु केरा।
हिन्दू मूरति नाम निवासी, दुहमति तत्तु न हेरा॥

उन्होंने समाज में भरे हुए कपट को देखा और साथ ही उन रूढ़ियों को देखा जो आपस में भेद-भाव पैदा करती हैं। हृदय कपट से पूर्ण है फिर भी लोग दिखावे के लिए पुरी में जा-जा कर स्नान करते हैं या मस्जिद में जा-जाकर सिज्दा करते हैं। ये सब आचार व्यर्थ हैं। उन्होंने हृदय की शुद्धता पर विशेष बल दिया और तीर्थ, नमाज आदि के मिथ्याचारों पर करारी चोट देते हुए वे कहते हैं—

कहा उड़ी से मज्जन कियां, क्या मसीति सिर नायें।
दिल महि कपट निवाज गुजारै क्या हज कावै जायें॥

बहुदेववाद में विश्वास भी सम्प्रदायवाद का प्रेरक था और सम्प्रदाय समाज में एकता के स्थान पर अनेकता ही फैलाते थे, इसलिए कबीर ने एक परमात्मा

की शरण में जाने का ही निर्देश किया—

कहत कबीर सुनहु नर नरवै परहु एक की सरना ।

कबीर ने वास्तव में रूढ़ियों और आचरणों की आलोचना की है और आलोचना करते समय उन्होंने कुछ को ही अपना लक्ष्य बनाया है । यों तो सामान्य आलोचना के क्षेत्र में प्रत्येक व्यक्ति आ जाता है, किन्तु मूर्ति-पूजा, तीर्थव्रत, रोजा, नमाज आदि के संकेतों से वे धर्म या सम्प्रदाय-विशेष पर अपने वाग्बाण छोड़ते हैं । धर्मों के क्षेत्र में भी वे उनके ठेकेदारों तक जा पहुँचते हैं । पंडित, मुल्ला, अवधू आदि धर्म-प्रतिनिधि हैं । कबीर इन्हीं को संबोधन करके इनके रूढ़ाचारों की आलोचना करते हैं । इनके संबोधन व्यंग्यप्रधान भी हैं जिनमें ये मधुर चुटकियां भर कर घायल कर देते हैं । प्रायः कबीर की आलोचना बड़ी तीव्र होती है । वे मर्म पर चोट करते हैं । वे चोट केवल चोट करने के लिए नहीं, अपितु भ्रम एवं मिथ्याचार को दूर करने के लिए करते हैं । वे धर्म और कर्म के उस खोखलेपन पर आघात करते हैं जिसमें कोई तथ्य नहीं है । मुल्ला को सम्बोधित करके कबीर ने ऐसे ही आघातों का परिचय दिया है—

मुल्लां कहां पुकारै दूरि, राम रहीम रह्या भरिपूरि ।
यहु तो अलह गूंगा नाहीं, देखै खलक दुनी दिल मांही ।।

संबोधन के साथ कबीर अपना निर्णय भी सुना देते हैं । जहां वे प्रश्न करते है वहां उनका लक्ष्य संकेतित रहता है, किन्तु ऐसे भी अनेक स्थल हैं जहाँ प्रश्नों के अन्त में उनका निर्णय गुंथा रहता है । उक्त पद में प्रश्न भी है और उत्तर भी । अंतिम पंक्ति में उन्होंने जो निर्णय दिया है वह कटु और तीव्र है—

कहै कबीर यहु मुल्लां झूठा, राम रहीम सबनि में दीठा ।

कबीर किसी अपराधी को क्षमा कर सकते हैं, किन्तु मिथ्याचार को क्षमा नहीं कर सकते । वे उसके पीछे पड़ते हैं, उसे नष्ट करने का भरसक प्रयत्न करते हैं और इसी प्रयत्न में मुल्ला, पांडे और काजी को खरी-खरी बातें सुननी पड़ती हैं । पांडे वेद पढ़ता है, किन्तु उस पर उसका कोई प्रभाव नहीं दीख पड़ता । यह देख कर कबीर क्षुब्ध हो उठते हैं—

पांडे कौन कुमति तोहि लागी, तूं राम न जपहि अभागी ।

वेद पुरान पढ़त अस पांडे, खर चन्दन जैसैं भारा।
राम नाम तत समझत नांहीं, अंति पड़ैं मुखि छारा॥
वेद पढ़यां का यहु फल पांडे, सब घटि देखैं रांमां।

\+ + +

जीव वधत अरू धरम कहत हौ, अधरम कहां है भाई।
आपन तौ मुनि जन ह्वै बैठे, का सनि कहौं कसाई॥

कबीर के समय में धार्मिक मामलों का फ़ैसला काज़ी के हाथों में होता था। वह कुरान-शरीफ़ के आधार पर फ़ैसला देता था। उसके न्याय में हिन्दू मुसलमान का भेद-भाव रहता था जिससे वैमनस्य की ज्वाला को और भी अधिक भड़क उठने का अवसर मिलता था। यह देख कर कबीर कब मौन रहने वाले थे ? किसी दंड का भय उन्हें मूक नहीं कर सकता था। क्रान्ति की प्रेरणा उनको आतुर कर देती थी। वे वाणी की चिन्ता नहीं करते थे, उसकी सजधज का ख्याल उन्हें नहीं होता था, अतएव वाणी स्वयं उनके उद्गारों को सँभालती फिरती थी। हिन्दू और तुर्क के भेद के विरोध में उनके उद्गारों को देखिए--

काजी कौन कतेब वषानैं।
पढ़त पढ़त केते दिन वीते, गति एकै नहिं जानैं।
सकति से नेह पकरि करि सुंनति, यहु नवदूं रे भाई।
जौर खुदाइ तुरक मोहि करता, तो आपै करि किन जाई।
हौं तौ तुरक किया करि सुंनति, औरति सौं का कहिये।
अरध सरीरी नारि न छूटैं, आधा हिन्दू रहिये।
छांड़ि कतेब रांम कहि काजी, खून करत हौ भारी।
पकरी टेव कवीर भगति की, काजी रहे झष मारी॥

इस प्रकार अन्याय और पाखण्ड के कारण उत्पन्न हुई जीवन की विषमताओं की कबीर ने बड़ी कटु आलोचना की, जिसमें कबीर के अन्तर की तीव्र व्याकुलता फूट पड़ी। अपने समय की जितनी कटु आलोचना और समकालीन विषमताओं पर जितने भीषण प्रहार कबीर ने किये उतने शायद और किसी ने नहीं किये। उनकी आलोचना में तीव्रता, कटुता, भर्त्सना, भय, मोहन और

संवेग, सबका यथावसर उपयोग किया गया है।

कबीर का लक्ष्य केवल आलोचना करना नहीं था, बुराइयों को मिटाना था। वे किसी दूषण को समाज में नहीं देखना चाहते थे, विशेषतया उस दूषण को जो समाज की एकता को भ्रष्ट करने में प्रवृत्त था क्योंकि दूषित समाज में वे घुटने लगे थे। उस घुटन को वे सहन नहीं कर सकते थे। कुछ आलोचकों के विचार से कबीर की आलोचना-पद्धति में समाज के निर्माण के लिए कोई उपकरण नहीं है। समाज के लिए उनकी वाणी का केवल निषेधात्मक मूल्य है। यह आरोप ठीक नहीं है। कबीर सहज स्वाभाविक प्रेममय जीवन के प्रचारक थे। उसी में वे कल्याण को देखते थे। यह ठीक है कि वे समाज की बुराइयों को निकाल कर फेंक देना चाहते थे, किन्तु यह भी ठीक है कि वे एक आदर्श समाज की प्रतिष्ठा करना चाहते थे। निर्दोष समाज में ही कबीर के आदर्श समाज की कल्पना निहित थी। कबीर के आदर्श में कोई अलौकिक कल्पना नहीं थी।

वे कोई नया शिलालेख तैयार करने नहीं जा रहे थे, किन्तु जो शिलालेख उनके सामने था, वह दूषित और भ्रामक था। उसे शुद्ध कर चमकाना उसके सही रूप को जनता के सामने लाना उनका प्रमुख लक्ष्य था। उन्होंने देखा कि कुछ दंभी-पाखण्डियों के मार्ग का अनुसरण करते हुए लोग भटक रहे थे। जीवन के सही रूप को न समझकर कितने लोग पथपतित हो रहे थे। कुछ गर्व और अहंकार का भार ढो रहे थे और कुछ अत्याचार और निराशा में पिस रहे थे। कबीर ने आलोचना से उनके उद्धार का प्रयत्न किया। समाज के उद्धार के लिए उन्हें एक दिव्य प्रेरणा मिली थी। उनके लिए परमात्मा का निर्देश था—

हरिजी यहै विचारिया, साखी कही कबीर।
भौ-सागर में जीव हैं, जे कोई पकड़े तीर॥

इस साखी से स्पष्ट है कि कबीर की वाणी के मूल में लोक-मंगल की कामना निहित है। उनकी लोक-मंगल-साधना लोक-प्रेम की समर्थक थी। यों तो कबीर जीवमात्र के प्रति सहानुभूति रखते हैं, किन्तु मानव पर उनकी विशेष दृष्टि है। इसीलिए उनकी दृष्टि उसकी दुर्बलताओं पर इतनी तीव्रतर है। उनकी भक्ति

ग्रौर काव्य-सर्जना की ग्राधार-शिला मानवता के प्रति उनकी तीव्र संवेदना है। मनुष्य के प्रति वे सहानुभूति रखते हैं, इसीलिए वे उसके दूषणों की ग्रालोचना भी करते हैं। जो प्रश्न कबीर के सामने प्रमुख रूप में ग्राया है, वह सामाजिक परिमार्जन का प्रश्न है; विषमताग्रों के निवारण ग्रौर एक समतल सामाजिक भूमिका की प्रतिष्ठा का प्रश्न है। दूषणों की ग्रालोचना के साथ-साथ कबीर की दृष्टि में उनका निवारण भी है जो सद्‌गुणों की प्रतिष्ठा के साथ ही हो सकता है। ग्रतएव जब हम कबीर को ग्रालोचक के रूप में देखते हैं तो उसके निषेध-पक्ष के पीछे विधेय भी छिपा पाते हैं—

खांहि हलाल हराम निवारैं, भिस्त तिनहुँ कौं होई।
पंच तत्त का मरम न जानैं, दोजगि पड़िहै सोई॥

\+ \+ \+

सायर उतरौ, पंथ संवारौ, वुरा न किसी का करणा।
कहै कबीर सुनहु रे संतौ, ज्वाब खसम कूं भरणा॥

यहां विषमता से वचाने के प्रयत्न के पीछे 'सायर उतरौ पंथ संवारौ' का प्रयत्न भी निहित है। 'पंथ संवारौ' में 'सत्पथ' पर चलने का संकेत स्पष्ट है। यही सत्पथ 'भवसागर' से पार उतरने का साधन है। 'सत्पथ गमन' की प्रेरणा कबीर की दृष्टि में, मनुष्य वहन करता ही है, ग्रौर उसका स्वामी के प्रति दायित्व भी है। मनुष्य ने ग्रपने दायित्व को निभाया या नहीं, इसका उसे परमात्मा को उत्तर देना पड़ता है। इस प्रकार कबीर की ग्रालोचना-पद्धति निषेधात्मक ही नहीं, विधेयात्मक भी है।

कबीर का सत्पथ मिथ्याचार के लिए कोई ग्रवकाश नहीं छोड़ता। उस पर चलने का ग्रधिकार किसी व्यक्ति-विशेष को ही नहीं, प्रत्युत जो भी चाहे उस पर चल सकता है। वह इतना सरल है कि उस पर चलने वाले का बल नहीं लगता। वक्रगति मनुष्यों का उस पर चलना कठिन है। वक्रता का परित्याग ही उनकी गति की साधना है। इसीलिए वे वैष्णव तक को ग्रपनी ग्रालोचना के क्षेत्र में क्षमा नहीं करते। छापा-तिलक लगा कर लोगों को वंचित करने वाले ग्राडम्बरी वैष्णव की कटुतम ग्रालोचना करके ही कबीर कृतकृत्य नहीं हो जाते

अपितु उस आडंबर के कारण को भी सामने ला रखते हैं—

वैस्नों भया तो का भया, वूझा नहीं विवेक।
छापा तिलक वनाइ कर, दग्ध्या लोक अनेक॥

वेश-भूषा और आडम्बर के पीछे अज्ञान छिपा हुआ है। उसी अज्ञान ने छापा-तिलक को गौरव देकर वैष्णव को भ्रम में डाल दिया है। वैष्णवता वेश में नहीं है, हृदय और आचरण में है—प्रेम और सरल व्यवहार में है। यहां सात्विक एवं सदाचारपूर्ण जीवन के प्रति कबीर का आग्रह स्पष्ट है जैसे—

वैष्णों की छपरी भली नां साकत का वड़ गांउ।

क्यों ? इसीलिए न, कि वैष्णव श्रेष्ठ आचरण का प्रतीक है और शाक्त दुराचार की प्रतिमूर्ति। इससे यह भ्रम दूर हो जाना चाहिए कि कबीर मंगल की साधना के क्षेत्र में केवल निषेध-पक्ष को ही नहीं अपनाते, उनकी वाणी विधेय का स्वतंत्र रूप से भी प्रचार करती है और निषेधगत संकेतों से भी। यह ठीक है कि वाच्यार्थ में निषेध की ही प्रमुखता है। कबीर के अभिप्राय को, उनकी वाणी को लक्ष्यार्थ से वंचित नहीं किया जा सकता। 'खूंदन तो धरती सहै वाड़ सहै वनराइ' जैसे वाक्यों में विधेय स्पष्ट है किन्तु जिस प्रकार निषेध में विधेय संकेतित रहता है उसी प्रकार 'खूंदन.......' आदि वाक्यों में निषेध भी संकेतित है। मनुष्य विनय-विमुख न हो, असहिष्णुता से काम न ले, बुराई का प्रतिकार बुराई से न करे आदि निषेधों में कल्याण की भावना स्पष्ट है। अतएव कबीर-वाणी में दोनों पक्षों का समावेश है। निषेध-पक्ष में विधेय और विधेय में निषेध के संकेत स्वतः ही मिल जाते हैं।

पीछे यह कहा जा चुका है कि कबीर की आलोचना-पद्धति में व्यंग्यों का भी समावेश है और व्यंग्य-क्षेत्र में कबीर का स्थान कुछ कम ऊंचा नहीं है किन्तु व्यंग्यों में कबीर ने समाज की खिल्ली उड़ाई है, ऐसा न समझ लेना चाहिए। 'खिल्ली' में हलकापन का भाव निहित है। यदि कबीर को समाज की खिल्ली उड़ाने वाला कह दिया जाये तो समाज के प्रति कबीर की संवेदना की लघुता प्रकट होगी। कबीर का पाठक यह जानता है कि उनके व्यंग्य वाण का-सा असर करने वाले हैं, उनमें मर्म-भेदन की अमोघ शक्ति है। सीधा प्रभाव ही

उनके व्यंग्यों का गुण है। उनके व्यंग्य पीड़ा पहुँचाने के हेतु नहीं हैं, अपितु ग्लानि उत्पन्न करने वाले हैं। अस्तु, कबीर की वाणी को समाज की मजाक या खिल्ली उड़ाना कह कर हल्की बनाना उचित नहीं है। खिल्ली या मजाक से विवशता का भाव भी नहीं जोड़ा जा सकता। कबीर जो कुछ कहते हैं वह विवश होकर ही कहते हैं। प्रेम और सहानुभूति से सम्बन्धित क्षोभ या व्याघात से प्रेरित होकर कहते हैं। उनकी विवशता ही उनकी वाणी की चरम स्पष्टता है। जो लोग इस मर्म पर ध्यान नहीं देते वे कबीर की वाणी को गर्वोक्ति भी कह डालते हैं।

कबीर की आलोचना-पद्धति को गर्वोक्तियों से लांछित नहीं करना चाहिए। जिन लोगों को कबीर की वाणी में गर्वोक्तियां दीख पड़ती हैं, वे कबीर के व्यक्तित्व का समुचित मूल्यांकन नहीं कर पाये हैं। ध्यान रखने की बात है कि कबीर आदि से अन्त तक अस्मिता के विरोधी थे। दादू ने उनके लिए ठीक ही कहा है कि वे 'सिर देकर' अर्थात अपने 'अहं' का बलिदान करके ही वीर हुए थे। उनका सम्पूर्ण व्यक्तित्व एक 'विगलित-अहं' महामानव की मूर्ति प्रस्तुत करता है। सहानुभूति और प्रेम के मार्ग से कबीर ने आत्म-विस्तार कर लिया था, इसमें कोई सन्देह नहीं है। आत्म-विस्तार महत्त्व का प्रतीक है। उसके बिना कोई भी व्यवित अपने युग का समर्थ आलोचक नहीं हो सकता। जिसकी अनुभूति समाज के सुख-दुख से बनती है, जिसके हृदय के स्पन्दन में लोक-संवेदना के स्वर मुखर होते हैं और जिसकी वाणी में युग के सही-रूप को व्यक्त करने की क्षमता होती है उसी व्यक्ति की आलोचना अपने समय और समाज का परिष्कार और उचित पथ-निर्देशन कर सकती है।

कबीर में ये सब गुण विद्यमान थे, इसीलिए उनकी वाणी में इतनी शक्ति दिखाई देती है। सन्देह नहीं कि अहंकार मनुष्य का प्रबल शत्रु है। उसका त्याग अति दुस्साध्य है। यह महापुरुषों की दुर्बलता है—'मान तज्या नहि जाई'—इस मान ने बड़े-बड़े मुनियों के मन तक को चंचल कर दिया था। कबीर उसके सम्बन्ध में बड़े सतर्क हैं। जिसने कबीर के 'मैं-मैं बड़ी बलाय है' को भली भांति समझा है, वह उन्हें अहंकारी कहने की भूल नहीं कर सकता

क्योंकि जो कबीर 'कथनी' और 'करणी' में समझौता चाहते थे उन्होंने स्वयं ही उनके बीच में कोई खाई खोद दी हो ऐसी उनके व्यक्तित्व से आशा नहीं की जा सकती। वे साम्यमूलक धरातल की वह ऊँचाई प्राप्त कर चुके थे जहाँ से उनके पतन की आशंका अपार्थक है।

जब मैं था तब हरि नहीं, अब हरि हैं मैं नाहि।

इस पंक्ति से स्पष्टत: कबीर की निरहंकारता झलकती है। यदि इसमें भी किसी को गर्वोक्ति की झांकी मिल रही हो तो और कुछ कहना व्यर्थ है। जो एक ओर तो 'रोड़ा ह्वै रहु बाट का' की बात करता हो और दूसरी ओर ब्रह्मपद को प्राप्त करने की घोषणा कर रहा हो, उसकी दोनों स्थितियों का समझौता 'निरहंकारता' में ही हो सकता है अन्यथा कबीर के व्यक्तित्व में दंभ के अतिरिक्त और कुछ नहीं रह जाता।

जो कबीर सामाजिक, धार्मिक और आर्थिक धरातल पर साम्य की प्रतिष्ठा चाहते थे निस्सन्देह क्रान्तिकारी पुरुष थे। क्रान्ति को लाने के लिए जिस साहस और आत्मविश्वास तथा चुनौती देने के लिए जिस निर्भीकता और दृढ़ता की आवश्यकता थी, कबीर के व्यक्तित्व में उनकी प्रचुरता थी। इन गुणों की सामूहिक शक्ति जब कबीर के व्यक्तित्व के गौरव से समकालीन रूढ़ियों और विषमताओं को ललकारती है तो नीति के स्थूल मान-दण्डों से मापने वाले अथवा भाषा के केवल खुरदरे रूप से परखने वाले समीक्षक उसे गर्वोक्ति से लांछित देखते हैं परन्तु जो साहित्य को समाज की गतिविधि का नियंता भी मानते हैं वे 'निर्गुण' कबीर की सगुण वाणी से रोमांचित हो उठते हैं।

जो कबीर कीरी से कुंजर तक में एक ही आत्मा को व्याप्त देखते हैं, जो बकरी और कसाई में तत्त्वत: अभेद पाते हैं, उनके अन्तरात्मा से किसी गर्वोक्ति का उदय होना असम्भव है, दु:शक है। गर्वोक्ति के साथ अभेद का कभी समझौता हुआ? अस्मिता का विगलन ही एकता की पहली सीढ़ी है। अतएव यह कहना असंगत है कि कबीर की आलोचना-पद्धति में गर्व या अहंकार का पुट है। कबीर स्वभाव और आचरण, दोनों क्षेत्रों में साम्यवादी हैं अतएव उनकी किसी सहजोक्ति को गर्वोक्ति कहना सर्वथा अनुचित है।

कबीर की वाणी में समाज के लिए एक प्रेरणा और एक पथ था। वे कोई ऐसे जन-नायक नहीं थे जिनकी मति और कृति मदपूर्ण रहती है। उनमें प्रेम की मस्ती है, समता के साक्षात्कार का सत्व है। यह उनके अन्तर से प्रभावित प्रेम-धारा है जो युग-दग्ध मानवता को समशीतोष्णता की भाव-भूमि पर लाने में तत्पर है। कबीर में आत्मरस या स्वरस की मादकता भरी हुई थी। उसी के प्रभाव से वे वर्ग और वर्ण के भेद से ऊपर रहते थे और उसी में उनकी निर्द्वन्द्व स्थिति थी, जिसमें उनके उद्गारों को रोकने का कोई प्रयत्न नहीं दीख पड़ता। अनुभूतिजन्य कोई उद्गार उनके लिए अनभिव्यंजनीय नहीं था। वे जो कुछ कहना चाहते थे, अवश्य कह डालते थे, बिना यह ध्यान रखे हुए कि वे कैसे कह रहे थे। उन्होंने भाषा की चाटुकारिता नहीं सीखी थी। वे उसे भाव-वाहिनी मानते थे और भाव-सेवा के लिए उनकी भाषा सदैव प्रस्तुत रहती थी। भाषा में चमक-दमक और सजावट है या नहीं, सम्भवतः उन्होंने कभी नहीं सोचा! यदि विदग्धता, कौशल और पांडित्य के अभाव के कारण कोई आलोचक उन्हें 'अमार्जन', 'गर्वोक्ति' आदि से लांछित करे तो यह उसकी भूल है। देखना तो यह है कि उनकी भाषा में कितनी भावों की अनुगामिता है, तत्परता है, जो काम भाषा को सौंपा गया है उसे वह करती है या नहीं और करती है तो किस सीमा तक, कितनी सफलता से?

कबीर की आलोचना-पद्धति में कभी-कभी रूखापन अवश्य प्रतीत होने लगता है किन्तु वह आलोच्य के प्रति उनकी सहानुभूति और ईमानदारी का प्रतीक है। मैं समझता हूँ कि कबीर का समय ऐसी वाणी की अपेक्षा रखता था। युग को अपनी गति बदलने के लिए मर्म-स्पर्श की आवश्यकता थी और कबीर की वाणी में मर्मस्पर्शिता का पर्याप्त पुट है। मर्मस्पर्शिता अपनी तीव्रता में रूखापन धारण कर लेती है। रूक्षता कबीर की वाणी की प्रवृत्ति नहीं, आवश्यकता की मांग थी।

प्रगतिशील दृष्टिकोण

आधुनिक प्रगतिवाद से परिचित पाठक कबीर के दृष्टिकोण में प्रगतिशीलता का सम्बन्ध सुनकर चौंक सकते हैं। आज का लेखक कबीर को इस प्रगतिवाद से कदापि सम्बन्धित नहीं करना चाहता, जिसने मार्क्स आदि से प्रेरणा ली है और जो प्रगति के नाम पर अड़कर बैठ गया है। प्रगति का तात्पर्य प्रेरणा या गति से सम्बन्ध रखना है। कबीर के समय में जो स्थिति थी वह किसी प्रेरणा या गति की अपेक्षा रखती थी; अतएव कबीर ने अपने युग को जो प्रेरणा दी उसमें किसी मार्ग पर चलने का संकेत, उपदेश और आग्रह था। इसीसे कबीर की वाणी में प्रगतिशीलता के लक्षण मिलते हैं।

आज के प्रगतिवाद ने जो वेश-भूषा धारण कर रखी है उसको कबीर के समय में देखना व्यर्थ है। कबीर का युग आज के युग से भिन्न था, उसकी अपनी परिस्थितियां थीं। फिर भी कबीर की प्रगतिशील वाणी का जो लक्ष्य था वही लक्ष्य आधुनिक प्रगतिवाद के स्वर में भी निहित है। यह बात दूसरी है कि आधुनिक प्रगतिवाद ने लक्ष्य के अनुकूल मार्ग या साधन न अपना कर अपने लक्ष्य को भी भुला दिया है और सम्भवतः वह साधन को ही लक्ष्य मान कर भ्रान्त हो गया है।

आरम्भ में प्रगतिवाद 'प्रगतिशील संघ' शब्द की स्थापना के साथ जिस रूप में उदित हुआ था उस जैसा ही कुछ रूप कबीर की वाणी में मिल सकता है। आधुनिक प्रगतिवाद कुछ सामाजिक सिद्धान्तों की धारा पर पनप कर पुष्ट हुआ, इसमें तो संदेह करने की कोई बात नहीं है। अपने मौलिक रूप में इसका लक्ष्य स्वस्थ था, जिसमें विकलांग समाज के उपचार की भावना थी। पतित को उठाना और प्रगति देना इसकी साधना का प्रधान लक्ष्य था। समय उस साधना और लक्ष्य की माँग कर रहा था। इसी की पूर्ति के लिए कुछ युग-मनीषियों ने, कुछ साहित्य-सेवियों ने उन लोगों के उत्साह में अपना योग दिया जो किसी राजनीतिक सिद्धान्त से प्रेरित हुए थे।

कबीर भी ऐसे ही युग में उत्पन्न हुए थे जिसका दम अपनी रूढ़ियों में घुट रहा था और जिसकी स्थापनाओं और मान्यताओं में दंभ और अंधविश्वास का खोखलापन निहित था। कबीर अन्दर और बाहर का सामंजस्य चाहते थे। वे नहीं चाहते थे कि लोग करें कुछ और कहें कुछ। इसीलिए उन्हें कहना पड़ा—

कबीर काजी स्वादि वसि, ब्रह्म हतै तव दोइ।
चढ़ि मसीति एकै कहै, हरि क्यूं साचा होइ॥

कोई धर्म झूठ बोलना नहीं सिखाता। झूठ का शिक्षक धर्म, धर्म नहीं। धर्म का आचरण से अनपायी सम्बन्ध है। जिस धर्म से आचरण का समझौता नहीं वह धर्म कैसा? जो प्रार्थना सत्य को झूठ के गर्त में धकेलती है वह प्रार्थना कैसी? इसीलिए कबीर कहते हैं—

साचै मारै झूठ पढ़ि, काजी करै अकाज।
यहु सव झूठी बंदिगी वरियां पंच निवाज॥

उस समय जो संघर्ष समाज में चल रहा था उसकी भयंकरता को कबीर भलीभाँति समझ चुके थे और वे उसके कारणों को भी खोज चुके थे। मार्क्स ने तो 'भौतिक अर्थवाद' में सामाजिक संघर्ष के कारणों की खोज की, किन्तु कबीर ने संघर्ष के कारणों में धर्म-विविधता को प्रमुख ठहराया। इसीलिए उन्होंने एक 'प्रगतिपरक पंथ' का सुझाव दिया—

कहै कबीरा दास फकीरा, अपनीं राह चलि भाई।
हिन्दू तुरक का करता एकै, ता गति लखी न जाई॥

कबीर ने उन आचारों की निन्दा की जिनमें धर्म की कोई प्रकृति निहित नहीं है और जहां प्रदर्शन को ही धर्म मान लिया गया है—

करता दीसै कीरतन, ऊँचा करि करि तूंड।
जांणै बूझै कुछ नहीं, यौंहीं आंधां रूंड॥

जिस वर्णाश्रम धर्म ने महात्मा बुद्ध को अहिंसात्मक क्रान्ति की ओर प्रेरित किया था उसी ने कबीर को भी किया, किन्तु कबीर के युग में धर्मांधता के साथ धर्म-विविधता बढ़ कर विकरालरूप हो गई थी। इस्लाम ने भारत में कबीर के समय जो स्थिति प्राप्त कर ली थी, बुद्ध के समय किसी विदेशी धर्म ने

वैसी स्थिति प्राप्त नहीं की थी। इसलिए यहां के प्राचीन धर्मों के लिए उसके साथ समझौता करना एक समस्या थी; फिर भी समझौता अनिवार्य था। इसलिए कबीर को समाधान प्रस्तुत करते हुए कहना पड़ा—

इनकै काजी मुलां पीर पैगंबर, रोजा पछिम निवाजा।
उनकै पूरब दिसा देव दिज पूजा, ग्यारसी गंग दिवाजा॥
तुरक मसीति देहुरै हिन्दू, दहूंठां रांम खुदाई।
जहां मसीति देहुरा नांहीं, तहां काकी ठकुराई॥
हिंदू तुरक दोऊ रह तूटी, फूटी अरू कनराई।
अरध उरध दसहूं दिस जित तित, पूरि रह्या रांम राई॥

विविध धर्मों में धार्मिक कट्टरता जितनी कठोर थी उतनी ही भयंकर भी थी। उस कठोरता और भयंकरता को मिटाने में अवश्य ही तत्कालीन प्रगति निहित थी। उन अन्धविश्वासों और रूढ़ियों को मिटाने में भी प्रगति निहित थी जो मानव को मानव से मिलने में वाधा डाल रही थी। जितना भयंकर हिन्दू-मुसलमान का भेद-भाव था उतना ही भयंकर ब्राह्मण और शूद्र का भेद-भाव भी थो। यह भेद-भाव समाज को न केवल दुर्बल बना रहा था प्रत्युत गतिहीन भी कर रहा था। इससे न केवल समाज का एक अंग दुर्बल एवं निश्चेष्ट हो रहा था प्रत्युत दूसरा अंग भी स्वाभाविक रूप से दुर्बल हो रहा था। इसके घातक प्रभाव को कबीर की आंखें बड़ी करुणा और क्षोभ से देख रही थीं। उन्होंने वरंमन्य ब्राह्मण को फटकारा और हीनता की भावना से पराभूत शूद्र को भी जगाया और कहा—

एक बूंद एकै मल मूतर, एक चांम एक गूदा।
एक जोति थैं सब उतपनां, कौंन बांम्हन कौन सूदा॥

जो लोग वर्ण और आश्रम के वाह्याचार या वेश को महत्त्व देकर उनकी प्रकृति को भूल बैठे थे उनको कबीर ने आड़ेहाथों लिया। इसके अतिरिक्त घिसोपिटी मान्यताओं के निवारण के लिए और कोई चारा भी नही था। मूंड मुंडा कर सन्यासी बनने वालों को कबीर ने फटकारा और कहा—

केसों कहा त्रिगाड़िया, जे मूंडै सौ वार।
मन कौं काहे न मूंडिए, जामैं बिषै विकार॥

कबीर ने सहेतुक केशों की बात को आगे बढ़ाया। उन्होंने कहा कि केशों के मुंड़ाने से कोई लाभ नहीं है। केश मुंड़ाने से कोई मनुष्य संन्यासी नहीं बन सकता क्योंकि संन्यास वेश से संबंधित नहीं है, मन से संबंधित है। जब तक मन को नहीं मूंड़ा जायेगा, उसे वश में नहीं किया जायेगा, तब तक संन्यास सार्थक नहीं हो सकता। यह समस्त दूषण मन में भरे हैं और इन्हीं को दूर करने के लिए संन्यास लिया जाता है, केश मुंड़ाने के लिए नहीं। इसलिए वे केश मुंड़ाने वालों को समझा कर कहते हैं :—

मन मैवासी मूंडि ले, केसौं मूंडै कांइ।
जे कुछ किया सु मन किया, केसौं कीया नांहि॥

इसी प्रकार बहुत से लोग 'मूर्ति-पूजा' को ही धर्म मान बैठे थे। वे नहीं समझते थे कि उनका श्रम व्यर्थ हो रहा था। जड़ की उपासना में कबीर को मूर्खता के सिवा किसी तत्त्व का दर्शन नहीं हो रहा था। पत्थर-पूजा अज्ञान-प्रेरित आशाओं की वृद्धि करती है जिनकी सफलता केवल स्वप्निल संपत्ति है। भला उस पत्थर से किसी सहानुभूति की क्या आशा की जा सकती है, जो जन्म भर पूजने पर भी उत्तर नहीं देता। फिर प्रस्तरपूजक पानी को भी व्यर्थ क्यों खोता है—

पाहन कूं का पूजिए, जे जनम न देई जाब।
आंधा नर आसामुपी, यौंही खोवै आब॥

मत की भ्रांति के निवारण से ही शीलता आती है, शालिग्राम की सेवा से शान्ति नहीं मिलती। इसमें न तो सहानुभूति है और न कोई शक्ति है। इसी-लिए कबीर कहते हैं—

सेवैं सालिगरांम कूं मन की भ्रांति न जाइ।
सीतलता सुपिनैं नहीं, दिन दिन अधका लाइ॥

इसी समय कबीर के सामने एक और भी प्रश्न था और वह यह कि अंध-विश्वासियों ने ईश्वर की सत्ता केवल मंदिर-मस्जिद में ही मान रखी थी। मैं

समझता हूँ कि कबीर को यह मानने में कोई आपत्ति न थी कि परमात्मा मंदिर-मस्जिद में भी है पर बाहर नहीं है, इस बात को वे कदापि मानने के पक्ष में नहीं हैं। इसके अतिरिक्त मंदिर-मस्जिद का भेद-भाव भी दोनों धर्मों के बीच की खाई को पाटने वाला नहीं था। यही विचार कर कबीर ने कहा—

कबीर दुनियां देहुरै, सीस नवांवण जाइ।
हिरदा भीतरि हरि बसै, तूं ताही सौं ल्यौ लाइ॥

यदि प्रत्येक व्यक्ति अपने भीतर ही परमात्मा की खोज करने लगे तो बाहरी भेद-भाव मिट जायेगा और मन को एकाग्रता और शान्ति प्राप्त होगी। इसी आशय से उन्होंने काजी को संबोधन करते हुए कहा—

पढ़ि ले काजी बंग निवाजा।
एक मसीति दसौं दरवाजा॥
मन करि मका कबिला करि देही, बोलनहार जगत गु येही।
उहां न दोजग भिस्त मुकांमां, इहां ही रांम इहां रहिमांनां॥

जो लोग अपने आचरणों को नहीं सँभाल पाते क्या वे मुक्ति प्राप्त कर सकते हैं? यह प्रश्न किसी भी विचारक के सामने आ सकता है। कबीर ने देखा कि लोग एक ओर तो धर्म की दुहाई देते हैं, पूजा का नाम करते हैं और दूसरी ओर मांस-मदिरा का खुल कर प्रयोग करते हैं। इन आचरणों का मन से संबंध है। जो लोग भक्ष्याभक्ष्य का विवेक नहीं रखते वे अवश्य ही इन्द्रिय-लोलुप हैं, इच्छाओं के शिकार हैं और मन के भ्रम से पीड़ित हैं। निस्सन्देह वे पापी हैं और धर्म की आड़ में पाप करते हैं। उनको सुना कर वे बोले—

पापी पूजा बैंसि करि, भषैं मांस मद दोइ।
तिनकी दप्या मुकति नहीं, कोटि नरक फल होइ॥

ऐसे लोग न केवल दूसरों को भरमाते हैं प्रत्युत स्वयं भी भ्रम में पड़े हुए हैं। धर्म-समन्वय का ढोंग करके कुछ ऐसे धर्म भी उस समय प्रकट होने लगे थे जो दूसरों को धोखा देकर अपनी वासनाओं की तृप्ति के लिए एकत्र होते थे। कबीर ने ऐसे धर्मों की भी खबर ली—

सकल वरण इकत्र ह्वै, सकति पूजि मिलि खांहि ।
हरिदासनि की भ्रांति करि, केवल जमपुर जांहि ।।

इच्छाओं के दास, वासनाओं के पुजारी साधु-नाम-धारियों की वेश-भूषा को देख-देख कर भी कबीर को बड़ा क्षोभ हुआ। उन्होंने देखा कि उनका वेश तो साधुओं का-सा था और आचरण साधुओं के से नहीं। वे खा-पीकर मस्त रहते थे और चैन की वंशी बजाते थे। ऐसे साधुओं की कबीर ने बड़ी भर्त्सना की—

स्वांग पहरि सोरहा भया, खाया पीया षूंदि ।
जिहि सेरी साधू नीकले, सो तो मेल्ही मूंदि ।

इतना ही नहीं—कबीर ने ऐसे लोगों की असाधुता और धूर्तता की भी भर्त्सना की। उन्होंने कहा—

कबीर भेष अतीत का, करतूति करै अपराध।
बाहरि दीसै साध गति, मांहैं महा असाध ।।

वे लोग वेश-भूषा से साधु दीख पड़ते थे किन्तु मन से कुछ और ही थे। वे मीठा बोलते थे किन्तु थे पक्के घूर्त्त। इसलिए कबीर ने उनके संबंध में सबको सचेत किया और समझाते हुए कहा कि वे उज्ज्वल वेशधारी एवं मधुरभाषी लोग बड़े पतित एवं कुकर्मी हैं और दूसरों को धोखा देकर कुछ भी अनिष्ट कर सकते हैं। अतएव वे अविश्वसनीय हैं—

उज्जल देखि न धीजिये, वग ज्यूं मांडै ध्यान ।
धोरै बैठि चपेटसी यूं ले बूढ़ै ग्यांन ।।
जेता मीठा बोलणां, तेता साध न जांणि ।
पहली थाइ दिखाइ करि, ऊंडै देसी आंणि ।।

इन सब बातों के अतिरिक्त कबीर की प्रगतिशीलता इस बात में निहित थी कि वे उन लोगों को भी चेतावनी देकर तथा संभाल कर सुमार्ग पर लायें जो धन, धाम और धरा के ऐश्वर्य में मदविह्वल होकर मानवता को भूल बैठे थे, जो मानव को तुच्छ एवं हेय समझते थे। इस पथ को प्रशस्त करने में कबीर को यहाँ की वैराग्य-परम्परा से बड़ी सहायता मिली, उस युग में इस पथ को

कबीर के पद-चिह्नों ने ही विशेष रूप से प्रशस्त किया। नीचे लिखी साखियों से कबीर के दृष्टिकोण का अनुमान लगाया जा सकता है—

कबीर कहा गरबियौ, ऊंचे देखि अवास।
काल्हि परयुं भ्वैं लेटणां, ऊपरि जामैं घास॥
कबीर कहा गरबियौ, चांम पलेटे हड।
हैंवर ऊपरि छत्रसिरि, ते भी देवा खड॥
यहु ऐसा संसार है, जैसा सैंवल फूल।
दिन दसके ब्यौहार कौं, झुठे रंग न भूलि॥

इस प्रकार कबीर की वाणी चाहे आधुनिक प्रगतिवाद के कठघरे में ठीक न बैठती हो किन्तु वह प्रगतिशीलता के सम्पूर्ण गुणों से जो उस समय अपेक्षित थे, विभूषित है। यदि आज का तथाकथित प्रगतिवाद कुछ सिद्धान्तों का पिछ-लगू बन कर किसी अखाड़े में उतर आया है तो यह उसकी प्रेरणा का दोष नहीं है, अपितु उसके मोड़ का—उसके रुख का दोष है जिसको अपना कर उसने अपने मौलिक अर्थ को, अपने लखनऊ-अधिवेशन की घोषणा को भुला दिया है। कबीर का प्रगतिशील दृष्टिकोण आध्यात्मिक साम्य के परिवेश में है। कबीर नये अर्थ में न तो प्रगतिवादी हैं और न.उनके दृष्टिकोण में आधुनिक साम्यवाद का रूप ही दृष्टिगोचर होता है। आज प्रगतिवाद ने साम्यवाद से जो गठबंधन किया है उसमें वह अपने को खो बैठा है। साम्यवाद स्वतः बुरा नहीं है किन्तु साधन और लक्ष्य का समझौता न होने से उसमें बुराइयों का समावेश हो रहा है। इसलिए प्रगतिशील दृष्टिकोण ऐसे साम्यवाद का अवलम्ब लेकर प्रगति की भूमिका पर नहीं ठहर सकता। यही कारण है कि प्रगतिवाद आज फ़ैशन बन कर रूढ़ियों की स्थापना कर रहा है जिसमें समय की पुकार की उपेक्षा है।

प्रगतिवाद का एक गुण यह होना चाहिए कि वह संकीर्णता का परित्याग करके मनुष्य की उदार भावनाओं को प्रोत्साहन दे किन्तु आज के प्रगतिवादी-साहित्य से ऐसे सैकड़ों उदाहरण मिल सकते हैं जिनसे उसकी संकीर्णता प्रमाणित हो सकती है। यों तो प्रगतिवाद आरंभ से ही साहित्य-क्षेत्र में साहित्यिक लक्ष्यहीन होकर उतरा किन्तु जिन सिद्धान्तों के आग्रह से वह साहित्य में उतरा था वे

प्रगति के पथ से हट कर एक क्षेत्र-विशेष में सीमित हो गये हैं । इसमें सन्देह नहीं कि जो लोग प्रगतिशीलता की दुहाई समाज श्रौर साहित्य, दोनों क्षेत्रों में देते हुए श्राये थे उनमें से बहुतों को तो उसके बनते हुए रूप को देख कर बड़ी निराशा ही हुई। इसी कारण उन्होंने तथाकथित प्रगतिवादियों का साथ छोड़ दिया क्योंकि वे प्रगतिवाद के उद्देश्य के समर्थक थे । उसको किसी श्रखाड़े में ला खड़ा करने के समर्थक नहीं थे। उनका सामाजिक लक्ष्य उदार था श्रौर उसके साथ वे साहित्य का उदार समझौता चाहते थे।

यह कहने की श्रावश्यकता नहीं कि कबीर की प्रगतिशीलता में मूलतः कोई साहित्यिक लक्ष्य निहित नहीं था, किन्तु भाषा के सम्बन्ध में श्रपना मत देकर उन्होंने उसे लोकानुकूल बनाने की जो चेष्टा व्यक्त की है उसमें उनके दृष्टिकोण की प्रगतिशीलता स्पष्ट है। 'संस्कृत जैसे कूप जल भाषा बहता नीर' कहकर कबीर ने श्रपने इसी दृष्टिकोण का परिचय दिया है । जिस प्रकार बुद्ध श्रौर महावीर ने जन-भाषा को समादृत किया था उसी प्रकार कबीर ने भी जन-भाषा को सम्मानित किया। जन-भाषा को श्रादर देने में कबीर के लक्ष्य की उदारता स्पष्ट है।

यह तो पहले ही संकेत किया जा चुका है कि प्रगतिवाद श्रपने उदार रूप में समाज के लिए प्रेरणा लाया है। उसने समाज की विकलता के कारणों का निवारण करके साहित्य के द्वारा समाज को श्रागे बढ़ाने की चेष्टा व्यक्त की है श्रौर सामाजिक संघर्ष के कारणों को द्वन्द्वात्मक श्रर्थवाद में देख कर समस्या के समाधान की श्रोर भी दृक्पात किया है। इस लक्ष्य की श्रोर निस्सन्देह मार्क्स की प्रेरणाश्रों का महत्त्व नहीं भुलाया जा सकता। लक्ष्य की श्रच्छाइयां जितनी मोहक हैं उन्हीं के फलस्वरूप प्रगतिवाद ने साहित्य में इतनी प्रगति भी कर ली श्रन्यथा साहित्य में कोई भी सिद्धान्त कला की उपेक्षा करके पनप नहीं सकता। तथाकथित प्रगतिवादियों के दुराग्रह से प्रगतिवाद न केवल श्रपने लक्ष्य से ही भ्रष्ट हो गया श्रपितु एक राजनीतिक श्रखाड़ेबाजी में भी सम्मिलित हो गया है। श्राज प्रगतिवाद जिस क्षेत्र में श्रा गया है उसमें कबीर के प्रगतिशील दृष्टि-

कोण को खींचना व्यर्थ होगा। कबीर किसी सामाजिक अखाड़े के मल्ल नहीं थे। वे एक सन्त थे और वह भी सच्चे अर्थ में।

कबीर ने समाज में विषमता देखकर जो व्याकुलता प्रकट की उसमें करुणा और क्षोभ, दोनों का समावेश है। वे समाज को वर्गों में विभक्त नहीं देखना चाहते थे और रूढ़ियों तथा अन्धमान्यताओं ने तत्कालीन समाज में जो विकलता पैदा कर दी थी, वे उसको दूर कर देना चाहते थे। विकलांग समाज स्वस्थ बने— यही कबीर की कामना और चेष्टा थी और यही उनकी प्रगतिशीलता थी। कबीर जैसा कोई भी प्रगतिशील व्यक्ति सामाजिक कुंठाओं में ऊबना पसंद नहीं कर सकता। रूढ़ियों की सड़ांध में दम घुटने से ऐसा व्यक्ति न केवल स्वयं निकल भागने का उपक्रम करता है प्रत्युत दूसरों को भी निकाल भगाने की चेष्टा करता है। वे ऐसे साधुओं के बीच में अपने को बड़ा घुटा हुआ अनुभव करते थे, जो स्वामित्व तो चाहते थे किन्तु स्वामी (गुरु) के गुण नहीं रखते थे। वे लोभ, काम, वासनाओं आदि से पराभूत थे अतएव उनके सम्बन्ध में उन्होंने इतना कहा है जितना सम्भवतः कोई दूसरा नहीं कह सकता था। देखिये—

इहो उदर कैं कारणें, जग जांच्यो निस जाम।
स्वामी-पणौं जु सिरि चढयो, सरचा न एको काम॥
कलि का स्वांमीं लोभिया, मनसा धरी वधाइ।
देंहि पईसा व्याज कौं, लेखां करतां जाइ॥
कलि का स्वांमीं लोभिया, पीतलि धरी पटाइ।
राज दुवारां यौं फिरै ज्यूं हरिहाई गाइ॥
स्वांमीं हूणा सीत का, पैकाकार पचास।
रांम नांम कांठै रह्या, करै सिपां की आस॥

इन शब्दों ने उन लोगों के दंभ और पाखंड की कलई खोल दी है जो मन को वश में करने के स्थान पर उसको और ढील देते हैं, आशा और तृष्णा के त्याग के स्थान पर उनको और बढ़ाते हैं और जो पचासों सेवकों की सेवा से अपनी विलासिता को उत्तेजित करते हैं। कहने के लिए तो उनके कंठ में राम-नाम भी रहता है किन्तु उसके स्वस्थ प्रभाव से वे वंचित हैं। उसका प्रभाव

तो उन लोगों के अंतर पर होता है जो शुद्ध मन रखते हैं और जो आशा, तृष्णा आदि से मुक्त हैं। उन्होंने अपने समय का एक चित्र-सा खींच दिया है। जिस प्रकार तुलसीदास ने उत्तरकांड में कलियुग के वर्णन में अपने युग का चित्र प्रस्तुत किया है उसी प्रकार कबीर भी कर चुके थे। कबीर के युग में सीधे-सच्चे मनुष्यों को कोई पूछता भी नहीं था और आदर होता था ऐसे मनुष्य का जो लोभी, लालची और विदूषक मसखरा होता था। कबीर अपने युग की इस दुर्बलता को न पचा सके और कड़वी वाणी में बोल उठे—

कबीर कलि खोटी भई, मुनियर मिलै न कोइ।
लालच लोभी मसकरा, तिनकूं आदर होइ॥

इसी प्रकार कबीर को उन लोगों को देख कर भी क्षोभ हुआ जो कमर-भर पानी में नहाकर मुक्ति की कामना करते थे। कैसे उपहास की बात है कि लोगों ने मुक्ति को इतना सस्ता समझ लिया था कि पानी में नहा कर और राम रटकर ही उसको पा लेना चाहते थे। कबीर को उनके प्रयत्नों की व्यर्थता पर खीझ-सी पैदा हुई और कहने लगे—

तीरथ करि करि जग मुवा, डूंघै पांणीं न्हांइ।
रांमहि रांम जपंतड़ां, काल घसीट्यां जाइ॥

सच तो यह है कि यथार्थवादी कबीर ने अपने समय की किसी दुर्बलता को अछूता नहीं छोड़ा, किन्तु उन दुर्बलताओं में से अधिकांश धर्म के किसी-न-किसी पहलू से संवन्ध अवश्य रखती थीं। हम यह अन्यत्र देख चुके हैं कि वैष्णव धर्म के प्रति कबीर की बड़ी श्रद्धा थी किन्तु उपेक्षा वे उसकी दुर्बलता की भी नहीं कर सके। वे जानते थे कि वैष्णवों की भक्ति-साधना में कुछ विशेषताएं हैं किंतु यदि छापा-तिलक लगा कर ही कोई वैष्णव वन बैठा है और उसमें विवेक नहीं है तो दुःखों से मुक्ति नहीं हो सकती। इस तथ्य को प्रकाशित करते हुए उन्होंने वैष्णवों के भी कान खोल दिये—

वैसनौं भया तौ का भया, वूझा नहीं विवेक।
छापा तिलक वनाइ करि, दग्ध्या लोक अनेक॥

दंभ और पाखंड साधारण लोगों में या मूर्खों में ही होता हो, ऐसी बात

नहीं है अपितु बड़े-बड़े पीर और महन्त लोग भी उनसे मुक्त नहीं हैं। ये लोग यात्रियों से मुख से भी नहीं बोलते, उनका अहंकार इस सीमा पर पहुँच जाता है। कबीर की यथार्थवादी प्रकृति इस तथ्य को भी छिपा नहीं सकती और वे एक हल्के व्यंग्य से कारण की ओर संकेत करते हैं—

हज कावै ह्वै ह्वै गया, केती वार कबीर।
मीरां मुझ में क्या खता, मुखां न बोलै पीर॥

ऐसे ही अनेक उद्धरण कबीर की वाणी से दिये जा सकते हैं जिनसे कबीर की यथार्थवादिता और प्रगतिशीलता का संकेत मिल जाता है। चाहे कबीर के दृष्टिकोण में आज का प्रगतिवाद भले ही न मिले किन्तु आधारभूत भावनाएँ ऐसी ही थीं।

यहां यह नहीं भुलाया जा सकता कि प्रगतिवाद की आधारभूमि यथार्थ में निहित होती है। यही कारण है कि आधुनिक हिन्दी-साहित्य में जो प्रगतिवाद विकसित हुआ उसका मूल बीज यथार्थवाद में दृष्टिगोचर होता है। यथार्थवाद का संबंध देश-काल की रीति-नीति और उनके संबंध में कवि या लेखक की प्रतिक्रिया से है। यथार्थवादी साहित्यकार समकालीन जीवन की भूमिका का पर्यटक होता है। वह विषमता के कणों का ध्यानपूर्वक संकलन करके और उनमें अपनी प्रतिक्रियात्मक भावनाओं का पुट देकर जो अवलेह तैयार करता है, साहित्यालोचक उसी को 'यथार्थवाद' की अभिधा प्रदान करता है। जब यथार्थवादी अपनी प्रतिक्रिया की अभिव्यक्ति कटुता के धरातल पर करने लगता है तब वह कभी-कभी अति 'उग्र' हो जाता है। इस धरातल पर वह सामाजिक कुत्साओं और विषमताओं की बड़ी कटु आलोचना करता है—इतनी कटु कि वह निन्दा के क्षेत्र से भी दो क़दम आगे बढ़ कर भर्त्सनाओं में प्रवेश कर जाता है।

कोई भी कवि अपने युग की आलोचना में प्रवृत्त हो सकता है और उसमें उसकी प्रतिक्रिया भी समाहित हो सकती है। तुलसीदास के 'कलियुग-वर्णन' में समय की झांकी और उनकी अपनी प्रतिक्रिया, दोनों का पुट है। वह समय की झांकी भी अच्छे-बुरे, दोनों पक्षों को लेकर नहीं की गई, प्रत्युत कवि की दृष्टि दोष-दर्शन पर ही रही है अतएव उस स्थान पर तुलसीदास का दृष्टिकोण

यथार्थवादी है, किन्तु उसमें भी उनका लक्ष्य ग्रादर्श पर निहित ग्रवश्य रहा है जिसका ग्रनुमान पूर्ण ग्रन्थ से ही हो सकता है, केवल 'कलियुग-वर्णन' से नहीं।

इस दृष्टि से कबीर तो कुछ ग्रौर भी बढ़े-चढ़े यथार्थवादी हैं। उन्होंने देश-काल की दुर्बलताग्रों को समाज में तांडव-नृत्य करते देख कर न केवल करुणा व्यक्त की है, वरन् क्षोभ भी। उन्होंने समाज की उन दुर्बलताग्रों को बड़ी हेय दृष्टि से देखा है। उनकी वे कटु निन्दा ग्रौर कहीं-कहीं तीव्र भर्त्सना भी करते हैं। जहाँ वे निन्दा से भर्त्सना पर उतर ग्राते हैं वही वे ग्रति उग्र हो जाते हैं। इसमें संदेह नहीं कि उस भर्त्सना के पीछे उनका प्रगतिशील दृष्टिकोण भी छिपा हुग्रा है। फिर भी वे कटु ग्रालोचक हैं, ग्रति उग्र हैं, इस तथ्य से ग्राँखें नहीं मोड़ी जा सकतीं।

यथार्थवादी जब समाज के दुर्बल पक्ष को सामने लाकर रूढ़ि-खंडन ग्रौर प्रगति की रेखाग्रों के चित्र प्रस्तुत करता है तो उनमें उस पथ का संकेत भी मिल सकता है जिसका लक्ष्य सामाजिक प्रगति होता है। ऐसे ही चित्रों में प्रगतिशील दृष्टिकोण उभरता है। जब लेखक या कवि का दृष्टिकोण किसी ग्रादर्श की ग्रोर प्रेरित होता है तो वहाँ ग्रादर्शोन्मुख यथार्थ की सीमाएँ निर्मित हो जाती हैं। इन सीमाग्रों के निर्धारण में किसी मान्यता का योग रहता है।

प्राय: ऐसा माना जाता है कि ग्रादर्श की स्थापना में साहित्य ग्रतीत से प्रेरणा लेता है किन्तु वह नये मानदण्ड भी प्रस्तुत कर सकता है। प्रसाद ने 'स्कन्दगुप्त' में जिस ग्रादर्श को प्रतिष्ठित किया है उसको उन्होंने भारत के प्राचीन इतिहास से लिया है किन्तु 'श्रद्धा' में नारी का जो रूप प्रकट हुग्रा है वह ग्रादर्शवाद ग्रौर प्रगतिवाद का एक समझौता दीखता है।

कबीर के प्रगतिशील दृष्टिकोण में यथार्थवादी कटुता तो है ही, किन्तु कहीं-कहीं ग्रादर्शवादी प्रस्ताव भी हैं। यह ठीक है कि कबीर किसी ऐसी मान्यता के पक्ष में नहीं हैं जिसके सम्बन्ध में कोई दो मत हों। कबीर के ग्रादर्श की रेखाएँ यद्यपि उनकी ग्रपनी बनाई हुई ही ग्रधिक हैं ग्रौर वे इस दृष्टि से कि 'विविध' को विधिवत् 'एक' करने में उनका ग्रपना प्रयत्न है। उन्होंने ग्रनेक धर्मों में से

सार लेकर जो पंथ तैयार किया है वही कबीर-पंथ है और उसी में हमें उनका प्रगतिशील दृष्टिकोण आदर्श के साथ मिल-बैठा दीख पड़ता है। वे आचरण के सम्बन्ध में भी कुछ सीमाएँ नियत करते हैं जो अवश्य ही आदर्श की सीमाएँ हैं और वे किसी भक्त या सन्त के आचरण की ओर इंगित करती हैं। जयदेव, नामदेव आदि भक्त कबीर के आदर्श हैं और आवश्यकता पड़ने पर वे अपनी वाणी में उन्हीं का प्रकाशन करते हैं।

यहां यह कह देना अयुक्त न होगा कि जहां यथार्थवादी की भांति कबीर ने समाज की दुर्वलताओं का भंडा फोड़ा है वहां प्रगतिवादी की भांति समस्या के नये हल की ओर भी संकेत किया है और वह हल धर्म की परिधियों से अलग नहीं होता। फिर भी कबीर का धर्म किसी भी साम्प्रदायिक संकीर्णता से दूर रहने की सदैव चेष्टा करता है। वह मानवमात्र का धर्म वनाने का अधिकारी है क्योंकि उसमें सार-संग्रह है। उसमें उन मान्यताओं को कोई स्थान नहीं दिया गया जिनको 'अतिवाद' के नाम से हेय समझा जाता है। अतिवाद का विसर्जन ही तो कबीर के पंथ को 'मध्य-मार्ग' कहलाने की योग्यता प्रदान करता है।

यहां भी कबीर का प्रगतिपरक दृष्टिकोण स्पष्ट है। उनकी प्रगतिशीलता की सबसे बड़ी सफलता इस बात में है कि उन्होंने ईश्वर की जो कल्पना की है वह किसी भी धर्म में सम्मान पाने के योग्य है। यह बात दूसरी है कि आज का प्र गतिवाद, जिसने साम्यवाद की नई परिमितियों में धर्म की ही उपेक्षा नहीं कर दी, अपितु ईश्वरवाद को ही अपदस्थ कर दिया है, उसको स्वीकार न करे।

कबीर ने सव धर्मों को एक धरातल पर लाने के लिए ही नहीं अपितु एक बनाने के लिए जो प्रयत्न किये उन सबका संबंध ईश्वर से है। इसी प्रकार मानवमात्र में एकता लाने के उपक्रम में भी उन्होंने ईश्वर को ही प्रतिष्ठित किया है।

अतएव सामाजिक समता एवं एकता के समग्र प्रयत्नों के परिवेश में ईश्वर की एकता का अनन्य योग है और इस भावतल पर भी कबीर की प्रगतिशीलता आदर्शवाद का पल्ला पकड़ती है। इसका परिणाम यह होता है कि मनुष्य के आचरण का अंतिम मान-दण्ड समाज नहीं, ईश्वर बन जाता है। उस

ईश्वर में कबीर न केवल मनुष्य का पितृत्व देखते हैं अपितु अन्य प्राणियों का पितृत्व भी देखते हैं। अतएव कबीर-वाणी में मानव-व्यवहार एवं आचरण का क्षेत्र मनुष्य-समाज ही नहीं अपितु निखिल चेतन विश्व है, यद्यपि कबीर लता, वृक्षादि के प्रति भी कोमल भावनाओं की अभिव्यंजना करते हैं। इस दृष्टि से कबीर की सहानुभूति मानव-समाज से आगे बढ़ कर समग्र प्राणिलोक को अपना लेती है जबकि आधुनिक तथाकथित प्रगतिवादी मनुष्यमात्र को भी नहीं अपना सकता। आज का प्रगतिवादी सामाजिक अभेद-भाव की केवल घोषणा करता है और वह भी भेद-दृष्टि से किन्तु कबीर व्यापक अभेद की सिद्धि अभेद-दृष्टि से करते हैं। प्रगतिवाद वर्गवाद के उच्छेदन का बीड़ा उठा कर भी वर्ग-वादी हैं किन्तु कबीर की प्रगतिशीलता में वर्गवाद के लिए कोई अवकाश नहीं है। कबीर की प्रगतिशीलता में मानवतावाद की मूल प्रेरणा है और उनका मानवतावाद ईश्वरवाद पर आधारित है। आज प्रगतिवाद मानवतावाद को प्रतिष्ठित नहीं कर पा रहा है। इसका कारण है उसका अनीश्वरवाद की ओर झुकाव। मानवतावाद की प्रतिष्ठा अभेद-दृष्टि के बिना नहीं हो सकती और भेद-दृष्टि उस समय तक नहीं मिट सकती जब तक कि उस पर किसी एकता का आरोप न हो।

आधुनिक विज्ञान स्पुतनिक और राकेट के आविष्कार से किसी भी चमत्कार को रूप दे सकता है किन्तु वह दृश्यलोक के भेद को अभी तक तो नहीं मिटा पाया है और उसकी गतिविधि से ऐसा कोई संकेत भी नहीं मिल रहा कि वह मानव को एकसूत्र में बाँध सकेगा। एकता का भाव लाने के लिए जिस प्रेरणा की आवश्यकता है उसका मार्क्सवाद और आधुनिक प्रगतिवाद, दोनों में अभाव है और जबतक वह प्रेरणा नहीं है तब तक कोई 'वाद' प्रगति के लक्ष्य को सिद्ध नहीं कर सकता। भौतिक प्रगति चमत्कार की किसी भी सीमा तक पहुँच सकती है पर वह मानववाद की प्रतिष्ठा नहीं कर सकती। क्या विश्व-राज्य से मानववाद सुरक्षित हो जायेगा, ऐसी संभावना के लिए कोई आधार नहीं दिखाई पड़ता। मानववाद की पुष्टि और रक्षा एकत्ववाद में ही संभव है और मानववाद के बिना कोई वाद सदर्थ में प्रगतिवाद नहीं कहला सकता।

यदि यह भी मान लिया जाये कि एकत्ववाद भावना की सृष्टि है तो भी उसकी अच्छाई को भुलाया नहीं जा सकता।

कबीर का ईश्वरवाद जिस अद्वैतवाद पर टिका हुआ है उसने एकेश्वरवाद को भी आत्मसात् कर लिया है। अतएव कबीर का ईश्वरवाद, भावना के माध्यम से ही सही, मानवमात्र को अपने से सम्बन्धित करके एकत्व की प्रतिष्ठा करता है। वही ईश्वरवाद ज्ञान के क्षेत्र में भी सकल सृष्टि का विलय-केन्द्र बन कर एकता का मूलाधार बन जाता है। यह ईश्वरवाद कोई नई उद्‌भावना नहीं है किन्तु उसके प्रस्तुतीकरण में और सामाजिक सम्बन्ध से उसके उपयोग में नवीनता अवश्य है। उपयोग ही नहीं, प्रभाव भी तत्कालीन परिस्थितियों में प्रगतिमूलक रहा, यह कबीर के प्रगतिशील दृष्टिकोण की बहुत बड़ी विशेषता है।